

सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्ष पाहुड प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास
गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

मोक्षपाहुड प्रवचन

रचयिता

ब्रह्मात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ

पूज्य गुरुवर्य श्री मनोहर जी वर्मा

“श्रीमत्सहजानन्द जी” महाराज

सम्पादक

डा० नानकचन्द जैन 'समरस' एम.डी.एच.

सांतील हाउस, मो० ठठेरवाड़ा,

मेरठ शहर

प्रकाशक :

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ०प्र०)

मोक्षपाहुड़ प्रवचन

“प्रवक्ता-अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहरजी वर्णी
सहजानन्द महाराज”

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण ।

चइऊण य परदव्वं णमो णमोतस्स देव्वस्स ॥१॥

ज्ञानमय आत्माको उपलब्ध करनेवाले देवको नमस्कार—यह कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित मोक्षपाहुड़ नामका ग्रन्थ है। इसकी प्रथम गाथामें मंगलाचरणरूपमें कहते हैं कि जिसने कर्मोंका क्षय करके और परपदार्थोंका त्याग करके ज्ञानमय आत्माको प्राप्त कर लिया है उन सिद्ध परमेष्ठी देवोंको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूं। आत्माका जो अपनी सत्ताके कारण स्वरूप है वही स्वरूप सही प्रकट हो जाना अर्थात् उसके साथ अन्य कोई उपाधि नहीं रहती, इसका नाम है मोक्ष। यह मोक्ष कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होता है। कर्मोंके उदयमें संसार है तो कर्मोंके क्षयमें संसारका अभाव है तो संसारके अभावका ही नाम मोक्ष है। तो जिन भव्य आत्मावोंने अष्टकर्मोंका विनाश किया है वे मोक्षपद प्राप्त करते हैं। इन ८ कर्मोंमें चार तो हैं घातियाकर्म—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) मोहनीय और (४) अंतराय। इन चार घातिया कर्मोंका नाश होनेपर अरहंत अवस्था प्राप्त होती है। यह भी मुक्त जैसी ही अवस्था है। पर अघातिया कर्मोंके रहनेसे देहका बंधन रहनेसे इसको मुक्ति नहीं कहते और साथ ही अनंतज्ञान, अनन्तदर्शन, अनंत आनन्द, अनन्त शक्ति प्रकट हो जानेसे इन्हें संसारी भी नहीं कह सकते। तो जैसा दृष्टिसे देखा वैसा दृष्टिमें आता है, पर एक शब्दसे कहा जाय तो इनको जीवनमुक्त कहा जाता है। शेष बचे चार अघातिया कर्मोंका नाश होनेपर शरीरका भी विछोह हो जाता है सदाके लिए। अब नया शरीर न मिलेगा उस स्थितिमें जो आत्मा रह गया, जो था सो ही रह गया उसका नाम है मोक्ष। मुक्त दशामें समस्त परद्रव्यों का त्याग है, परिहार है। शरीर नहीं, कर्म नहीं, रागादिक विभाव नहीं, ज्ञानकी अधूरी दशा नहीं। सर्व गुण समृद्ध हो गए, उन सिद्ध भगवानको नमस्कार हो।

परद्रव्योंके त्यागविषयक योग प्रयोग—देखो परद्रव्योंका त्याग, परद्रव्य तो परक्षेत्र में हैं, परद्रव्य तो अलग पड़े ही हैं, जो बाहरी द्रव्य धनवैभव आदिक हैं वे किसीके साथ

लिपटे नहीं हैं। अगर कहो कि ये कपड़े तो लिपटे हैं तो ये कपड़े भी इस आत्मासे नहीं लिपटे हैं। देहके ऊपर संयोग है और जितने बाहरमें पदार्थ हैं धन वैभव मकान आदिक के सब इस आत्मासे जुड़े हैं। कुटुम्ब परिजन मित्र ये भी प्रकट जुड़े हैं। ये मुझसे चिपके हों तो मैं इनका त्याग करूं, चिपके तो हैं नहीं तो त्याग भी नहीं किया जा सकता। चिपके भी नहीं हैं ये, पर यह बाह्य पदार्थोंके बारेमें जो लगाव लगा रखा है, मोह बनाया है, इनको आपा माना जा रहा है उन भावोंका त्याग करनेका नाम बाह्यपदार्थों का त्याग है। साथ ही यह भी जानें कि जिसको यह ज्ञान है कि इन बाह्य पदार्थोंपर उपयोग देनेसे रागमोह बढ़ता है, विकार जगता है इस कारण इनका त्याग कर देना चाहिए अर्थात् उस क्षेत्रको छोड़ देना चाहिए। अपने पाससे इन बाह्य वस्तुओंको दूर कर देना या नियम द्वारा, संकल्प द्वारा प्रकट साफ कह देना यह त्याग है, यह भी कुछ सहयोग देता है, क्योंकि बाह्य पदार्थोंका आलम्बन उपयोगमें ग्रहण करना यह विकार का कारण होता है। तो यद्यपि पूर्ण तथा नियम तो नहीं है कि बाह्य पदार्थोंका त्याग कर ही दिया तो यहां भावमोह हट ही गया लेकिन प्रायः ऐसा ही एक सम्बंध है अथवा एक नियोग है कि बाह्य पदार्थोंका कोई त्याग करदे तो वह आसा नहीं करता उस बाह्य पदार्थ की। जैसे जिसने रात्रिजलका त्याग कर दिया तो अब वह उसकी आसा नहीं रखता, और आसा न रखनेसे तद्विषयक उसको व्याकुलता भी नहीं होती। तो चरणा-नुयोगकी प्रक्रियासे बाह्य पदार्थोंका त्याग कर देना यह भावोंको विशुद्ध बनानेमें सहयोग देता है। जब और ऊपर चले जहां बाह्य द्रव्योंका त्याग कर ही दिया सब, मुनि अवस्था हुई है, अब वहां परद्रव्य और क्या रह गए? देह, कर्मविकार ये तो अभी चले आ रहे हैं इसके बंधनमें। तो इनका परिहार भी साथ चल रहा है। ये परद्रव्य हैं, इनका मेरे स्वरूपमें सत्त्व नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने सत्त्वसे परिणमता है, ऐसा ज्ञान करके उनकी उपेक्षा करके निज अंतरंगमें ज्ञानस्वभावके अभिमुख होना यह उन पर द्रव्योंका त्याग है, और सिद्ध अवस्थामें स्पष्ट त्याग है, न विकार है, न लगाव है, न कर्म हैं, न देह है, कुछ उनके साथ है ही नहीं। केवल ज्ञानमात्र चैतन्यमूर्ति, अनन्त ज्ञानी, अनन्त आनन्दमय, वह प्रभुका स्वरूप शोभायमान हो रहा है। उस सिद्ध देवको यहां नमस्कार किया है।

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं ।

वोच्छं परमपरायं परमपयं परमलोर्णं ॥२॥

Report any errors at sahjanand@gmail.com

मोक्षपाहुड प्रवचन

मंगलवचन, प्रतिज्ञापन व संप्रदाननिर्देश—इस गाथामें पुनः मंगलाचरण नमस्कार पूर्वक अपना अभिप्राय बतला रहे हैं कि मैं अमुक ग्रन्थको कहूंगा। नमस्कार किसको किया गया ? पुनः उन्हीं सिद्ध देवको। बारबार सिद्धका ध्यान करते जाइये, वह सब नया-नया ध्यान नया-नया नमस्कार कहलायगा। इसका कारण यह है कि सिद्धका एक बार ध्यान करनेके बाद यदि चित्तमें निर्बलता कषाय न जगे तब तो पुनः पुनः ध्यानकी जरूरत नहीं। लेकिन ध्यान किया सो किया जा चुका, फिर विकार आने लगे। फिर भूल होने लगी, फिर यहां वहां चित्त संकल्प चलने लगे, तो पुनः सिद्धोंका ध्यान भी एक नया और प्रभाव लाता है। जैसे एक दिन खा लिया, भाई खा लिया सो खा लिया, अब खानेकी जरूरत क्यों रही ? लेकिन खा चुके, वह जीर्ण हो गया, समय निकल गया। पुनः भूख लगी और फिर नया भोजन करते और नया लगता है, ऐसा लगता है कि हम कुछ नयासा काम कर रहे हैं। तो सिद्ध भगवन्तोंका ध्यान जीवनमें करते जाइये और वहां निरन्तर नई बात, नया प्रभाव, नया परिणाम चलता रहेगा। तो यहां अनन्त उत्कृष्ट ज्ञानदर्शनसे युक्त निर्मल स्वरूप सिद्ध देवको नमस्कार करके आचार्यदेव कहते हैं कि परम योगियोंके लिए परम पदरूप परमात्माका कथन करेंगे। जैसे यह मोक्षपाहुड ग्रन्थ है ऐसे ही समय पाहुड नियमसार आदिक भी ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित हैं। जैसे यहां यह बतलाया कि मैं परम योगियोंको परमपदस्वरूप परमात्माकी बात कहूंगा, वह परमात्मस्वरूप कारण समयसार है और व्यक्तरूप कार्य समयसार है। किनको लक्ष्य करके ग्रन्थ बनाया जा रहा ? परमयोगियोंको। समयसार आदिक ग्रन्थ भी मुनिवरोंको लक्ष्य करके कुन्दकुन्दाचार्यने रचा है।

मुनिवरोंको दिये गये उपदेशोंसे गृहस्थोंको भी यथोचित प्रतिबोधन—यह बात साथकी है कि जो मुनिवरोंको उपदेश किया है वह हमारे लिए भी लाभदायक है। फिर भी थोड़ा यह अन्तर रहता है कि मुनिवर उस उपदेशको निर्ग्रन्थ दिगम्बर होनेके कारण, गृहस्थीके माया जालसे दूर होनेके कारण उनके उपयोगमें और भांति उतरता है, तो गृहस्थोंके प्रेक्षिकल और प्रयोग रूपसे यह कथन अन्य प्रकारसे अन्दर उतरता है। श्रद्धानमें लक्ष्य तो एक रहता है। श्रद्धान दो नहीं हो पाते, जो तत्त्व है सो ही है, मगर परिस्थितिके कारण ध्यानमें आनेकी बात मुनियोंमें और श्रावकोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे होती है। तो यहां यह बात जानना कि यह सब समझाया जा रहा है मुनियोंको, तब ही तो बड़ी लतारके साथ यह कहा जाता है कि जो द्रव्यलिङ्गमें रमते हैं वे अज्ञानी

हैं। संसारपरम्परा बढ़ाने वाले हैं। तो जो द्रव्यलिङ्ग धारण किए हुए हों उन्हींको ही तो समझाया गया है। एक तीसरे व्यक्तिको याने गृहस्थको समझानेके प्रसंगमें कुन्दकुन्द देव गृहस्थप्रतिबोधन जैसे समझायेंगे मुनिवरोंको प्रयोगविधिमें जैसे समझाया जाता है, अगर तीसरे लोग उसे प्रधानतया ग्रहण करें तो उनके लिए वह उचित न बैठेगा। हां जो उस मार्गपर चल रहे हैं उनको लतार है कि अरे तू इस द्रव्यलिङ्गमें क्यों रमता है, बू जो यह मानता है कि मैं मुनि हूं, इस प्रकारका जो तेरा राग है तू उस रागको छोड़। अब उस शिक्षासे गृहस्थ अपनेमें यह शिक्षा लें कि जो गृहस्थ लिङ्गमें रम रहे हैं कि मैं गृहस्थ हूं, मैं अमुकका दादा हूं, बाबा हूं, पूजा करने वाला हूं मैं इनका नेता हूं, इस प्रकारसे जो अपनी इस पर्यायमें रम रहे जो गृहस्थके योग्य परिणति बनती है इनको वहां लतार होनी चाहिए कि तू इस गृहस्थके लिङ्गोंमें क्यों रमता है। क्यों विषकावमन नहीं करता है ?

मुनिवरोंके सभी प्रयोगोपदेशको गृहस्थ द्वारा प्रयोग किये जानेकी असंगतताका दिग्दर्शन—
जहां मुनियोंको यह शिक्षा दी है कि देखो प्रमादवश यह छठा गुणस्थान यह प्रमत्त अवस्था हेय है इसे छोड़ो, महाव्रत समिति रूप जो प्रवृत्ति है उसे कहते हैं प्रमाद। और महाव्रत और समिति रूप जहां प्रवृत्ति नहीं रहती, मात्र आत्मध्यान रहता है उसे कहते हैं अप्रमाद। अब शब्द तो दिया है प्रमादका। जहां यों लगता है कि आलस्यकी हीन आचरणकी बात कही जा रही है। तो मुनियोंको यह सम्बोधा जा रहा है कि तू इस प्रमादका परिहार कर। यह महाव्रत और समितिरूप जो विकल्प है यह तेरे लिए बन्धन है। तू इन विकल्पोंको करके प्रगति न कर पायगा, महाव्रत समिति प्रवर्तन के विकल्प परिणामको त्याग। तो मुनि लोग चल रहे हैं महाव्रत और समितिमें, उनको त्यागका उपदेश किया गया है कि तू इन्हें छोड़। अब उनको सुनकर जो गृहस्थ गृहस्थके योग्य काम भी नहीं कर पाते, जिसे यों कहेंगे कि गृहस्थ अपनी जिम्मेदारीसे बिल्कुल हट गया। गृहस्थको बताया है कि केवल कपड़ा या अन्य ऐसा व्यापार जिसमें हिसाकी कोई बात नहीं आती उनको छोड़कर अन्य व्यापार मत करें, या जो भी गृहस्थके षट्-कर्मके उपदेश किए जाते हैं उनसे तू अभी विमुख मत हो। ऐसा तो होना चाहिये गृहस्थका कर्तव्य और कर रहे हों जूतोंकी दूकान या मिलिटरीके लिए मांस आदिकका ठेका या अन्य-अन्य कार्य और वह गृहस्थ उस उपदेशको ले कि महाव्रत समिति इनसे हटें, तो यह क्या उनके लिए संगत बात होगी ? इस प्रकारका जो उपदेश है उसको

मुनिजन अपनी योग्यताकी तरहसे उतारें, उस उपदेशको सुनकर ठीक उसी तरह उतारें जैसा कि उनके लिए उपदेश है, और गृहस्थ अन्य तरहसे उतारें । कैसे ? गृहस्थोंपर जो बातें बीत रही हैं जैसे स्त्रीपुत्रादिकसे मोह हो रहा, घरसे राग चल रहा, अपनी कषाय जिनकी कषायसे मिल गई उनमें प्रेम बढ़ गया । अरे तू इन विषयोंको दूर कर, जो विष गटक रहा है उसपर तो हमारी दृष्टि न हो । उनको तो दूर करनेका हममें भाव न आये और बड़े-बड़े मुनिवरोंको जब जो उपदेश किया है आचार्योंने उसपर हमारी एकदम दृष्टि जाय और हमें अपने आपके आचरण पर कुछ भी दृष्टि न जाय तो यह एक जीवनमें असंगतसी बात है । और हम उस क्रमका पालन नहीं कर रहे हैं कि जिस क्रम से हम इस उपाधिसे दूर होकर आत्मध्यानके पात्र हो सकें । तो यहां शब्द दिया है कि परम योगियोंको हम उस परमात्मतत्त्वकी बात कहेंगे ।

मंगल और प्रतिज्ञापनका तथ्य—इस गाथामें मंगल और प्रतिज्ञा दोनों वाक्योंका उल्लेख है । सर्वज्ञ वीतरागको नमस्कार है । आत्माका पवित्र और उत्कृष्ट पद सर्वज्ञता और वीतरागता है । उसे नमस्कार करके आचार्य कहते हैं कि परम योगियोंको अर्थात् दिगम्बर गुरुवोंके लिए कुछ परमात्मध्यानका कथन कहूंगा, क्योंकि इसमें सर्व विकल्पों का परिहार कराकर आत्माके ध्यानकी बात कही गई है, उसका निभाव परिग्रहत्यागी कर पाते हैं, जिसके परिग्रहका संस्कार लगा है वह अपने आपमें खुद चिन्तन करे कि क्या हम निःशल्य होकर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं ? जहां तक परिग्रहका लगाव है वहां तक यह शल्य है और जहां त्याग और विकल्पकी बात है वहां प्रत्येक गृहस्थ अपने आपपर अपनी परिस्थितियोंसे जिन विकल्पोंमें घिरा है उन विकल्पोंसे अपने आपको दूर करनेकी भावना भाये । जिन विकल्पोंसे घिरा है जिनका हमपर आक्रमण है उनसे दूर होनेकी तो हमारी भावना नहीं और श्रेणियोंमें रहने वाले मुनियोंके सूक्ष्म रागकी चर्चा करके उनको दोषी देखनेकी आदतसे हमें दूर होना है, उस सूक्ष्म रागसे ऐसा यहां भाव बनाया जा रहा । अरे भाव यह बनना चाहिए कि जो गृहस्थपदमें विकट राग लग रहा है उस रागसे मैं दूर होऊँ । मैं उससे रहित एक ज्ञानस्वभाव मात्र तत्त्व हूँ । तो यहां आचार्य कह रहे हैं कि परमात्माका ध्यान या उस सहज अंतस्तत्त्वका ध्यान मुनियोंके ही घटित होता है, गृहस्थीमें सहज शुद्ध परमात्मतत्त्वका ध्यान संगत नहीं हो पाता । अतएव उनके लिए दान, पूजा, उपवास, सम्यक्त्व, शील, व्रत आदिक जो गृहस्थ धर्म है उनके उपदेश कार्यकारी हैं उस पदमें इसीलिए यहां कुन्दकुन्दाचार्य देव

ने परमयोगी शब्द दिया है। जो बड़ेके लिए कहा जाय उसमें छोटोंको भी शिक्षा मिलती है, मगर बड़ोंके लिए कहे जानेकी शैली और होती है, और गृहस्थजनोंको कहा जानेकी शैली और होती है आचरणके रूपमें, तत्त्वज्ञानमें नहीं। तत्त्वज्ञान दोनोंके लिए एक समान है, जो आत्माका स्वरूप है सो मुनि समझें सो ही गृहस्थ समझें, जो सत्ता-सिद्ध बात है वह सबको समान समझना चाहिए। पर जहां आचरण वाली बात आती है तो मुनियोंको सम्बोधनेकी पद्धति और होती है, गृहस्थोंको सम्बोधनेकी पद्धति और होती है। तो यहां आचार्य इसलिए ही स्पष्ट कह रहे हैं कि परमयोगियोंसे मैं परमात्म-तत्त्व कहूंगा। जो गृहस्थ होकर भी जहां आत्माकी भावना आत्माकी अनुभूति, ज्ञानानु-भूतिकी भावना रंच नहीं हो पाती, और ऐसा विकल्प किए हुए हैं कि हम ध्यानी हैं और दूसरोंको साधुओंको, साधर्मियोंको अज्ञानी बोलते हैं वे जिन धर्मके विराधक हैं क्योंकि मुनिआचार वहां है नहीं और गृहस्थाचार जो दान, पूजा, त्याग, उपवास शील उनको छोड़ बैठे हैं, उस अंतस्तत्त्वके ध्यानकी बात कहनेसे तो वे न वहां महाव्रतका लाभ पाते हैं न अणुव्रतका लाभ पाते हैं और न नियंत्रणका लाभ पाते हैं इस कारण यहां कह रहे हैं कि परम योगियोंको हम परमात्मतत्त्वकी बात कहेंगे।

जं जाणिऊण जोई जो अत्थो जोइऊण अणवरयं ।

अब्बावाहमणंतं अणोव्मं हवइ णिव्वाणं ॥३॥

सहजपरमात्मतत्त्वके आश्रयसे निर्वाणलाभ—इस परमात्मतत्त्वको जानकर जिसका निरन्तर अनुमानकर योगी ध्यानस्थ मुनि बाधारहित अनन्त चतुष्टयमय निर्वाणको प्राप्त होते हैं उस अंतस्तत्त्वकी बात कहूंगा। सिद्धि जिनने भी अब तक है पायी, तेरा आश्रय ही उसमें हुआ सहायी, जिन्होंने सिद्धि प्राप्तकी, मोक्ष प्राप्त किया उन्होंने कौनसा ऐसा कार्य किया जिससे उनको मुक्ति प्राप्त हुई। उन्होंने कार्य किया इस शाश्वत शरण सहज परमात्मतत्त्वको ज्ञानमें रखना और उस ही रूप अपनेको मानना, इस ही की धुन होना, इस ही में रमना, इस सहज परमात्मतत्त्वका, कारणसमयसारका आश्रय करके ही मुक्ति प्राप्त की। बाहरमें जितनी बातें करनी होती हैं वे अंतस्तत्त्वके ध्यानमें बाधाको मेटनेके लिए की जाती हैं। गृहस्थ योग्य और मुनियोग्य जो आचरण होता है उस प्रसंगकी बाह्य प्रवृत्ति, शरीर चेष्टा यह स्वयं मोक्षमार्ग नहीं, किन्तु मोक्षमार्गमें चलनेके लिए जो सहज अंतस्तत्त्वका आश्रय किया जाता है उसमें विघ्न आते हैं परिग्रहके कारण, या अज्ञान चेष्टाके कारण, सो उस अज्ञानचेष्टा और उस परिग्रहको दूर

मोक्षपाहुड प्रवचन

किया जाता ताकि हम निर्वाध भीतरमें इस सहज परमात्मतत्त्वका आश्रय करें। अब यदि कोई यह जानकर साक्षात् गृहस्थधर्म और मुनिधर्म जो वचनकायकी चेष्टा रूप है वह तो मोक्षमार्ग नहीं है निश्चयतः। इसलिए सो इसको करनेकी क्या जरूरत ? जो निश्चयतः मोक्षमार्ग है भीतरमें सहज अंतस्तत्त्वका ध्यान करना, उसको करना, वह क्यों नहीं कर सकते ? क्योंकि परिग्रहमें रुचि है और तब ही तो यह बाह्य त्याग बन नहीं पाता। भले ही हम मुखसे यह कहें कि परिग्रहका छोड़ना बड़ा आसान है। अरे जो बड़ा आसान है वह यों ही क्यों नहीं कर लिया जाता ? तो मालूम होता है कि उनकी बाह्य तत्त्वमें रुचि है और बाह्य तत्त्व यश भी है उस यशकी रुचिके कारण बड़े ऊंचे इस आत्मतत्त्वके उपदेश करते हैं, सुनते हैं वह भी बाह्य तत्त्वके प्रेमके कारण करते हैं, अंतस्तत्त्वकी रुचिसे नहीं कर पाते, किन्तु अंतस्तत्त्वकी रुचि जिनके जग गई है बाह्य परिग्रहका यथाशक्ति त्याग कर देना उनके लिए आसान होता है।

यथाशक्ति संयममें चलनेका कर्तव्य—कर्तव्य यह है कि इस मनुष्यभवमें जबकि संयमकी योग्यता मनुष्योंमें ही है, अन्य गतियोंमें नहीं है, सम्यक्त्वकी योग्यता चारों गतियोंमें है, पर संयमकी योग्यता मनुष्यभवमें ही है। हम आलस्यमें आकर और संयम को हेय कह कहकर और उससे ग्लानि पैदा करें और संयमसे विमुख होकर आरामसे जिन्दगी काटें और कुछ थोड़ी धर्मकी बात कहकर अपनेको एक कीर्तिवान समझकर जीवन बितायें तो यह जीवन ऐसा ही समझिये कि जैसे हमने अनन्तभव गुजार डाले वैसे ही एक यह भव भी उसमें सामिल हो गया। जिसके सम्यक्त्व है और व्रत नियम धारण करता है वह मोक्षमार्गमें बढ़ता है। सम्यक्त्वको किसीने खास जाना नहीं है। जिनके सम्यक्त्व नहीं है और वे व्रत नियम धारण करते हैं तो उस मंद कषायके प्रताप से अगली सद्गति प्राप्त करते हैं। जो मिथ्यादृष्टि हैं और मंदकषाय और संयम भी नहीं धारण करते हैं उनकी गति क्या होगी, सो इसका अनुमान कर लेना सरल है। तो अपनेको जिनागममें श्रद्धा रखना, आत्माके सहजस्वरूपकी रुचि करना और यथाशक्ति नियम व्रत संयमसे अपनेको वासित करना यह एक मनुष्यभवमें कर्तव्य है। मोक्षपाहुड ग्रन्थमें अंतरंगकी प्रधानतासे वर्णन होगा, पर बाह्य त्याग बिना हम अंतरंगमें प्रगति नहीं कर सकते। जैसे कि धानका ऊपरका छिलका उतारे बिना हम चावलकी ललाईको हटा नहीं सकते। इससे हम अंतरंगमें भी प्रगति करें और संयममें भी चरणानुयोगके अनुसार संयम नियमके अनुसार चलें तो हम जिनागमके अनुसार चल रहे हैं

और उसका परिणाम हम अच्छा पायेंगे ।

तिपयारो सो अप्पा पर भितरवाहिरो दु हेऊणं
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोबाएण चयहि वहिरप्पा ॥४॥

छह प्रकारके द्रव्योंसे पूरित लोकका निर्देश—जगतमें जो कुछ भी है वह अपने आप है । अपने आप सत् है, किसी भी पदार्थकी सत्ता किसी दूसरेके द्वारा बनाई गई नहीं है । है तो है, नहीं है तो कभी वह है नहीं हो सकती । सत्का विनाश नहीं, असत्का उत्पाद नहीं । तो जगतमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब ६ जातिके हैं, कोई पदार्थ जीव है उसमें चैतन्य असाधारण गुण है, कोई पदार्थ पुद्गल है उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण है, कोई धर्मद्रव्य है जो जीव पुद्गलके चलनेमें उदासीन सहायक हैं । कोई अधर्म द्रव्य है यह भी गति और स्थितिमें उदासीन निमित्त है । आकाशद्रव्य है, एक जीव और पुद्गल आदिक सभी पदार्थोंकी अवगाहनामें उदासीन निमित्त है । कोई काल है जो उस कालद्रव्यके स्थानपर रहने वाले पदार्थोंके बदलनेमें उदासीन निमित्त कारण है । यहां यह बात जानना कि जो निमित्त कारण कार्यके लिए व्यापार नहीं करते, निष्क्रियसे रहते हैं वे कहलाते हैं उदासीन निमित्त और जो पदार्थ कार्यके अनुरूप व्यापार कर रहे हों वे कहलाते हैं प्रेरक निमित्त । तो चाहे उदासीन निमित्त हो चाहे प्रेरक निमित्त हो, निमित्त भूत पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र काल भाव प्रभाव कुछ भी अंश उपादान में नहीं पहुंचता । इस दृष्टिसे दोनों ही समान हैं, पर जो प्रेरक निमित्त होता है वही व्यापार शून्य होनेपर निमित्त नहीं बनता । जैसे घड़ेके बननेमें काल द्रव्य उदासीन निमित्त है और कुम्हार जो कि उस अनुरूप व्यापार कर रहा है वह प्रेरक निमित्त है, यदि व्यापार करता हुआ कुम्हार नहीं है वह तो खाली बैठा है, जैसे कि अन्य लोग, या गधा, घोड़ा आदि बैठे रहते हैं उनकी ही तरह बैठा है, सोया है, तो वह निमित्तभूत नहीं होता । व्यापार करता हुआ कुम्हार घड़ेके उत्पादमें निमित्त है, पर जिसको उदासीन निमित्त कहा है वह कुछ व्यापार नहीं करता है कार्यके अनुरूप, किन्तु उपस्थित मात्र है, वह उदासीन निमित्त होता है । तो छहों द्रव्योंसे भरपूर यह लोक है और परस्पर एक दूसरेके यथायोग्य निमित्तभूत हैं ।

आत्माबोंके तीन प्रकार—सर्व पदार्थोंमें जो चेतना जातिके पदार्थ हैं वे जीव कहलाते हैं । उस जीवकी यह चर्चा चलेगी क्योंकि मोक्ष कराना किसको ? जीवको । पुद्गलको मोक्ष हो या न हो, उसको कोई हानि लाभ नहीं । जैसे कार्माणवर्गणायें कर्म-

रूप बन गई। बन गई तो बनीं, कभी कर्मरूप हो जायें तो क्या मोक्ष हो गया ? अकर्म रूप हो गई तो उनका क्या नुकसान या कर्मरूप मिट गया तो उनको क्या लाभ रहा ? जो चेतन नहीं हैं उनकी परिणतिसे उनको कुछ हानि लाभ नहीं है, हां सत्त्वके प्रयोजक जरूर हैं, चेतनमें हानि लाभ विकार, दुःख, आकुलता आदि ये सब दिख रहे, उससे उनकी हानि है। अविकारस्वरूप परिणमता है चेतन तो उसको आकुलता नहीं है। शान्ति है, यह उसको लाभ है इस कारण मोक्षके प्रकरणमें जीव पदार्थका वर्णन किया जा रहा है। ये जीव ३ प्रकारके होते हैं—(१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। इनका लक्षण स्वयं ग्रन्थकार कहेंगे फिर भी थोड़ासा यह जान लें कि शब्द के अनुसार ही इनका लक्षण बन जाता है। बहिरात्मा—बाहरके तत्त्वको मानना कि यह मैं हूं वह बहिरात्मा है। अन्तरात्मा—अपने आपके अन्तः जो सहजस्वरूप है उस रूपमें अपनेको मानना यह अन्तरात्मा कहलाता है। परमात्मा पर मा आत्मा, उत्कृष्ट प्रमाण जहां उदित हुआ है उस आत्माको कहते हैं परमात्मा। मा का दूसरा अर्थ लक्ष्मी भी है। उत्कृष्ट समवशरण आदिक बाह्य लक्ष्मी। अनन्त ज्ञानादिक अंतरंग लक्ष्मी यह जहां प्रकट हुई है वह आत्मा परमात्मा कहलाता है।

त्रिविध आत्माओंमें हेय, उपाय, उपेयका निर्णय—इन तीनमें से यह जानना कि बहिरात्मा होना अपवित्र दशा है। किसी बाहरी चीजको मानना कि यह मैं हूं, यह अपने आप पर अन्याय है, इससे कभी शान्ति नहीं हो सकती, क्योंकि बाह्य पदार्थपर हमारा कुछ अधिकार नहीं, और उसकी परिणति देख देखकर विकल्प करना, बाह्य पदार्थोंमें अपना स्वरूप स्वीकार करना यह है हेयदशा। इस दशाको छोड़ना चाहिए, इससे कुछ लाभ नहीं है। मानो एक इस मनुष्य जीवनमें बहुत-बहुत आकुलतायें चलीं, वैभव भी बना, कुटुम्ब परिवारमें पुत्रादिक भी हुए, सब लोग आज्ञाकारी भी हुए, इन सब बाह्य पदार्थोंके कुछ भी होते रहनेसे हे आत्मन तेरे आत्मामें कौनसा फर्क आ गया ? तू शुद्ध बन गया क्या ? तेरी भविष्यमें अब दुर्गति न होगी क्या ? किसी भी बाह्य पदार्थ से अपने आत्माको कुछ भी लाभ नहीं है, फिर मोह क्यों करना ? मोह बहुत बड़ा कलंक है, बड़ा पाप है, व्यर्थका पाप है, अनर्थकारी है। जैसा जो कुछ है वैसा मान लो ऐसा क्यों नहीं माना जाता। यह अपवित्रता भव भवमें दुःख देने वाली रही। और जब तक मिथ्यात्व भाव है, मोह है, अज्ञान है तब तक संसारमें रुलते ही रहेंगे। स यह मिथ्यात्व, यह बहिरात्मापन हेय है, इसको छोड़ना चाहिए। यह बात अपने प

थोड़ा-थोड़ा भी घटित करता जाय तो इसको बड़े लाभकी बात है। सोचियेगा कोई भी जीव है घरमें, जो बड़ा आज्ञाकारी है, इष्ट है तो भी क्या उसकी सत्ता आपकी सत्ता एक है ? नहीं है। क्या उसकी किसी परिणतिसे आपमें कुछ आनन्द जगता है ? नहीं जगता। मानता है यह मोही कि इन बच्चोंका सद्व्यवहार मेरेको बड़ा सुखकारी हो रहा है। पर उनके सद्व्यवहारसे सुख नहीं हो रहा। खुद ही भीतरमें कल्पनायें करते हैं और उसमें भ्रमवश सुख मान रहे हैं, तो किसी भी बाह्य पदार्थके समागममें, लगाव में रहना यह तो आत्माके लिए कलंक है। और इसीसे यह मोही जीव मानता महत्त्व है। जो पतनका हेतु है, जो कलंकरूप है उस ही को मोही मानता है कि मेरे लिए यह महत्त्वका प्रसंग है। बाह्य पदार्थोंमें अपना स्वरूप स्वीकार करना यह कलंक त्यागने योग्य है, इसे त्यागें, और अन्तः भीतर जो दर्शन ज्ञानमय आत्मस्वरूप है वह आनन्दको साथ लिए हुए है। वह उपादेय है, उसे ग्रहण करना चाहिए। मगर यह अन्तरात्मापन जो उपादेय बना है सो इसकी भी अवधि है। जैसे कहते हैं ना पूजामें—“तुवपद मेरे हियमें, मम हिय तव पुनीत चरणोंमें। तब लौं लीन रहे प्रभु, जब लौं प्राप्ति न मुक्ति पदकी हो।” तो यह बात वास्तविक है। यदि यह भावना रहे कि मैं तो भव-भवमें तुम्हारा सेवक रहूं और प्रभु तुम मेरे सदा पूज्य रहो, यदि उत्साहसे श्रद्धासे यह ही बात चित्तमें समायी हो तो उसके लक्ष्यमें अभी सिद्धका स्वरूप नहीं आया। ऐसी ही इस अन्तरात्मापनकी बात है, अन्तरात्मापन उपादेय है, किन्तु किस प्रयोजनके लिए उपादेय है कि वह परमात्मपद मेरेको प्राप्त हो। परमात्मपद होनेपर अन्तरात्मापन नहीं रहता। सो अन्तरात्मा तो एक उपाय है कि बहिरात्मापन छूटता है और परमात्मापना होनेका साधन बनता है। तो ये तीन प्रकारके आत्मा हैं, जिनमें बहिरात्मा तो हेय है। अन्तरात्मा उपाय है और परमात्मापन उपेय हैं। बहिरात्मापनको इस कारणसे छोड़ दीजिए। इन तीनका लक्षण अब कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कह रहे हैं।

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हुअप्पसंकप्पो ।

कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥५॥

इन्द्रियोंका बहिरात्मपन—इन्द्रियां तो बहिरात्मा हैं, आत्मसंकल्प अन्तरात्मा है और कर्मकलंकमुक्त परमात्मा हैं। बहुत संक्षेपमें यह लक्षण कहा गया। यहां साध्य साधन, कार्य कारण इन सब पर दृष्टि देकर समझना है। ये इन्द्रियां बहिरात्मा हैं, वैसे तो इन्द्रियां अजीव हैं, देहसम्बन्धी हैं, पौद्गलिक हैं, मगल यहां भाव यह बसा है कि

चूँकि इन इन्द्रियों द्वारा यह जीव बाह्य पदार्थोंका ग्रहण करता है और बाह्य पदार्थोंको ही बहिरात्मा कह दिया गया है। तथा भावेन्द्रियां भी बहिरात्मा है आत्माका सहज स्वरूप नहीं है। यह है बाह्यतत्त्व। यह जीव क्यों बाह्य पदार्थोंमें लग रहा है? यह जीव अपनी इन्द्रियोंकी सेवा कर रहा है। जो कुछ है सो शरीरके लिए, ऐसी सेवा कर रहा है। और इस ही के बाद, इस ही के कारण जो कुछ है सो हमारा परिवार है। परिवारके लिए तन, मन, धन, वचन सर्व कुछ अर्पण है। जैसे ज्ञानी पुरुष परमात्माके चरणोंमें अपना सबकुछ अर्पण कर देता है ऐसे ही यह मोहोजीव स्त्रीपुत्रादिकके लिए अपना सबकुछ अर्पण कर देता है। ज्ञानीके भगवान होते अरहंत सिद्ध और मोहीके भगवान बने हैं ये स्त्रीपुत्रादिक परिजन। इसके आगे उन्हें कुछ नहीं सूझता। इसका कारण है कि इन्द्रिय द्वारा ज्ञान होता सो इसको इन्द्रियां प्यारी हो गईं।

मोहीको इन्द्रियोंसे प्यार और इसका कारण—इस मोहीकी दृष्टिमें यह नहीं है कि भले ही इस वर्तमान जीवनमें इन्द्रिय द्वारा ज्ञान हो पा रहा है, लेकिन जाननहार तो यह आत्मा है। जैसे कोई पुरुष किसी दोमंजिले भवनमें रहता हुआ चारों तरफकी चीजोंको खिड़कियोंसे झांकता रहता है, और कोई उपाय नहीं है कि वह बाहरकी घटनाओंको जान सके। तो खिड़कियों द्वारा यदि बाह्य पदार्थोंका कुछ ज्ञान कर रहा है तो वह खिड़कियोंको ही अपना सर्वस्व मान लेता, ये खिड़कियां ही मेरा प्राण हैं, यह ही मेरा स्वरूप है ऐसा मान लेता। ऐसा मानकर यदि उनको कोई बड़े प्यारसे गले लगा लें तो मालूम है—उसे लोग क्या कहेंगे? उसे तो पागल ही कहेंगे। लोग तो यही कह बैठेंगे कि इसका चित्त ठिकाने नहीं है, इसी तरह यहां जिन इन्द्रियोंके द्वारसे हम जानते हैं, एक इस पौद्गलिक देहके बंधनमें बंधा हुआ, भीतर बसा हुआ यह आत्मा इन्द्रियके द्वारसे जान पा रहा, इस समय छूना जान रहा स्पर्शन इन्द्रियसे, रस आदिकका ज्ञान हो रहा रसनासे, सुगंध-दुर्गन्धका ज्ञान चल रहा घ्राण इन्द्रियसे, रूप रंग नीला, पीला आदिकाका ज्ञान जान रहा चक्षु इन्द्रियसे और शब्द कैसे क्या है, यह समझा जा रहा है कर्णेन्द्रियसे। इन बाह्य विषयोंको जाननेका अन्य कोई उपाय नहीं बन रहा। नाम-वरीं, यश कीर्ति आदिकके विचार चल रहे हैं इस अनिन्द्रिय मनके द्वारा। तो चूँकि इन इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान बन रहा सो यह इन्द्रियको आत्मा समझ रहा है। यह ही मेरा सब कुछ है। इन इन्द्रियोंकी खुशामद हो रही, इन इन्द्रियोंको अपना सर्वस्व मान रहे, पर इनको कोई पागल नहीं कहता। क्योंकि यहां सभी पागल होकर ऐसा ही कर रहे।

सभी इन इन्द्रियोंके दास बन रहे, सभी इन इन्द्रियोंके द्वारा जान रहे, सभी इन्द्रियोंको अपना रहे तो यहां कोई किसीको पागल कहने वाला नहीं है। हां अन्तरात्मा ज्ञानी पुरुष समझता है कि यह आत्मा ऐसी पागलपनकी चेष्टा कर रहा है।

स्वदोषनिरीक्षणसे आत्महित प्रेरणा—भैया, अपने कल्याणके लिए अपनी गलतियों को निरखना और गलतियां दूर करना यह प्रमुख कर्तव्य है। ऐसा न करके दूसरोंकी गलतियोंपर ही दृष्टि जाना, उनकी आलोचना करना, यह इसकी दोषमयताका सूचक है। यह स्वयं अवगुणोंसे भरा है इसलिए इसे दूसरोंके अवगुण ही दिखते हैं, पर ऐसी प्रवृत्तिसे इसको लाभ नहीं होनेका। उल्टा नुकसान ही है। देखें तो अपने दोष देखें, हम बात करते हैं बहुत पर मोहसे कभी अलग हो सके क्या? घरपर कुछ बात बीतती है, किसीका वियोग होता है तो हम सम्हल पाते हैं क्या? जब तक खूब मौजमें हैं, अच्छी आमदनी चल रही, घरके लोग अच्छे रह रहे तब तक आत्माकी बात, चर्चा, गप्प खूब खुलकर की जाती है और खूब मन बहलाते रहते हैं—वाह वाह क्या कहना, और जब कभी किसी इष्टका वियोग हो जाय तब परीक्षा होती है कि मोह गला कि नहीं गला। देखनेमें आता कि मोह तो नहीं गला। और मोह गले, मैं इन बाह्य विघ्नों को छोड़ूं, इन परिग्रहोंको त्यागूं, ऐसी मनमें भावना भी नहीं आती। बल्कि उमंग है परिग्रहके संचयकी। कह कह कर मन बहलाते कि परिग्रह तो हमसे छूटा ही है, कहां उसे पकड़े हैं? पर होता क्या है कि अन्दरसे उन बाह्य परिग्रहोंकी ही रुचि बन रही है। जब यह दोष मौजूद है तो फिर मोह कहां से दूर हो सकता है। और जब तक मोह दूर नहीं होता तब तक जीवको कल्याणकी दशा नहीं मिल सकती। अपनी कमी देखें, किसके लिए? दूसरोंपर एहसान लादने या दूसरोंके बीच धर्मात्मा कहलानेके लिए नहीं, किन्तु अपने आपपर दया करके अपने आपके हितके लिए। जब ये देहादिक बाह्य पदार्थ हमसे भिन्न सत्ता वाले हैं तो फिर इनका इतना अधिक लगाव क्यों चल रहा है? अच्छा इस देहको भी छोड़ो, जो स्त्रीपुत्रादिक दूसरोंके देह हैं उनके प्रति इतना अधिक लगाव क्यों चल रहा है कि यदि किसीका वियोग हो जाय तो उसके पीछे यह बेहोश, पागल जैसा बन जाता है। बताओ अब वे सब बातें जो मौजमें आत्माके सम्बंध की कही जा रही थीं वे कहां गईं? तो हर एक को अपने अन्दर अपनी कमीको देखना चाहिए और उसे दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा जैसे एक नीति है—

उष्ट्रां विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः परस्परं प्रशंसति अहो रूपं महो ध्वनिः। यहां कवि

मोक्षपाहुंड प्रवचन

ने एक चित्र खींचा है कि जैसे कोई ऊंटका विवाह हो रहा था तो उसमें गीत गाने वाले गधे बुलाये गए थे अब वे गधे गीत गा रहे थे तो अपने गीतोंमें यही कह रहे थे कि वाह वाह इस ऊंटका रूप कितना सुन्दर है। अब भला बतलाओ ऊंट सुन्दर तो नहीं होते, उनका तो हर एक अंग टेढ़ा होता, पर गधे उनके रूपकी प्रशंसा कर रहे थे। उधर ऊंट भी गधेकी आवाजकी प्रशंसा कर रहे थे—वाह वाह तुम्हारा राग (आलाप) कितना सुन्दर है। अब भला बतलाओ कहीं गधोंका आलाप सुन्दर होता, बोंचू-घोंचूकी आवाज करते, पर ऊंट उनके राग, स्वर, आलापकी प्रशंसा कर रहे थे। तो जैसे ऊंट और गधे परस्परमें एक दूसरेकी प्रशंसा कर रहे थे ऐसे ही यहां भी एक मोही दूसरे मोही की प्रशंसा कर रहा, दोनों बड़े खुश हो रहे। जब दोनों ही मोही हैं तो कौन किसे खराब कहे। तो इससे किसीका हित नहीं होनेका।

अन्तरात्मत्वका प्रकाश—एक बात यह चित्तमें आनी चाहिए कि मैं आत्मा हूं और मुझे आत्माके नातेसे धर्म करना है, कषायके नातेसे धर्म नहीं होता। आत्मकरुणा के नातेसे धर्म चलेगा। जो मेरा स्वरूप है, स्वभाव है वही मेरे लिए शरण है। वही सदा मेरे साथ है। उस ही रूप मैं अपनेको मानूं और उस ही में रमण करनेका अपना भाव रखूं। मेरा इस कार्यमें यदि कोई पदार्थका संग बाधक है तो उसको त्यागनेमें मेरे को कोई हिचक न होनी चाहिए। और परिस्थितिवश न त्याग सकें तो परिग्रहके त्याग को मानना तो चाहिए कि हितरूप है। हमारी जितनी शक्ति हो उस माफिक बाह्य पदार्थोंका त्याग करें। आत्मध्यानके बाधकोंको दूर करें और आत्माके ध्यानमें अपनेको प्रवर्तयें। ऐसा अगर कोई कर सकता है तो इसीके ही रूप हैं अणुव्रत और महाव्रत। सम्यग्दर्शन तो मोक्ष मार्गका दिखाने वाला है और अणुव्रत महाव्रत रूप जो चले, प्रवर्तन करे वह पुरुष मोक्षमार्गमें चलने वाला है। मोक्षमार्गमें गमन होता है पंचम गुणस्थानसे और मोक्षमार्गका दर्शन होता है चतुर्थ गुणस्थानसे। दर्शन हुए बिना गमन कैसे किया जाय ? इसलिए सबका मूल सम्यग्दर्शन है। पर सम्यग्दर्शनमें जो एक दर्शन हुआ है उसमें चलना नहीं होता। मोक्षमार्गमें गमन नहीं होता। मोक्षमार्गमें गमन बन सके उसके लिए व्रत नियम त्याग संयम आदि है, जिनमें प्रवृत्ति करते हुए यह मनुष्य आसानीसे आत्मध्यानमें सफल हो जाता है। तो ये बाह्य इन्द्रिय हैं बहिरात्मा इनमें लगाव रखनेसे आत्मदर्शन नहीं होता और आत्मसंकल्प है अन्तरात्मा। अर्थात् आत्मा के सहजस्वरूपको यह मैं आत्मा हूं ऐसा मान लेना यह है अन्तरात्मा।

कर्मकलङ्कविमुक्त आत्माके परमात्मत्व—कर्मकलंकसे विमुक्त आत्मा है परमात्मा, निस्तरंग और नीरंग। रंग मायने कषाय और तरंग मायने योग जैसे कोई पानी यदि रंगसे रंगा हुआ है तो उसमें तो दर्शन न होगा याने अपना मुख ठीक सही ढंगसे न दिखेगा और रंग न रहे, पर तरंग है उस जलमें तो भी अपना प्रतिविम्ब भली भांति न दिखेगा। जो जल नीरंग है और निस्तरंग है उस जलमें अपने आकारका दर्शन होता है। इसी प्रकार जो आत्मा नीरंग है, अकषाय है, निस्तरंग है अयोग है वहां स्वरूपाचरणकी पूर्णता है। वह कर्मकलंक विमुक्त आत्मा परमात्मा कहलाता है। इन तीन प्रकारके आत्मावोंको जानकर यह निर्णय करना कि बहिरात्मापनको तो मैंने छोड़ दिया, अन्तरात्मापन ग्रहण किए हुए हूं, परमात्मापन प्रकट होगा। प्रत्येक जीवमें ये तीन शक्तियां कालकी अपेक्षा हैं। परमात्मामें बहिरात्मापन था। अन्तरात्मापन भी हुआ था। बहिरात्मामें अन्तरात्माकी योग्यता है। परमात्माकी योग्यता है। प्रत्येक जीव में शक्ति और व्यक्तिकी अपेक्षा इन तीनों तत्त्वोंको निहार सकते हैं। शिक्षा यह लेना कि बहिरात्मापन तो छूटे और अन्तरात्मापनका उपाय बनावें कि जिसके प्रसादसे हम परमात्मपद प्रकट कर लें। अपने दोषोंको त्यागना और गुणोंका आलम्बन करना, बस इस ही में इस जीवनकी सफलता है।

मलरहितो कलचत्तो अणिदिओ केवलो विमुद्धप्पा ।

परमेद्वो परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥६॥

परमात्माका मलरहितपना व कलत्यक्तपना—तीन प्रकारके आत्मा कहे जा रहे हैं। जो बाह्य पदार्थोंमें यह मैं हूं ऐसा महसूस करते हैं वे बहिरात्मा हैं। जो अपने अंतःस्वरूपमें अविकार ज्ञानस्वभावमें यह मैं हूं, ऐसा मानते हैं वे अन्तरात्मा हैं, और परमात्मा कौन कहलाते हैं, उनका विशेषतया अनेक शब्दोंमें इस गाथामें वर्णन किया है। जो मलरहित आत्मा हैं वे परमात्मा हैं। मल कोई बाहरी चीज होती है तो आत्मामें मल क्या है? एक तो शरीरका बन्धन, दूसरे कर्मका बंधन, तीसरे कर्मका उदय पाकर आत्मामें जो विकारभाव जगा वह भी मल है। तीनों प्रकारके मलोंसे रहित सिद्ध भगवान हैं। तो अरहंत भी सिद्धकी ही तरह हैं। अघातिया कर्म गुणघाती नहीं हैं। वे निर्दोष स्फटिकमणिकी तरह स्वच्छ हैं, विकारभाव उनमें रंच नहीं, वे भी मलरहित हैं। प्रभु परमात्मा शरीर रहित हैं। शरीर रहित परमार्थ, यहां यह सहज परमात्मतत्त्व भी है। शरीरमें रहते हुए भी अरहंत भगवान शरीरमें रह रहे हैं तो भी वे शरीरसे निराले

समझे जाते हैं। उस ओर उनका विकार नहीं, उस ओर उनका भाव नहीं। जैसे सीसी में पारा रह रहा ऐसे ही देहमें वे बस रहे और सिद्ध भगवान शरीरसे स्पष्ट अलग है। अब आहारवर्गणाओंका कुछ भी स्कंध उनके साथ नहीं रहा। कल कहते हैं शरीरको। जब कभी आपसमें बड़ी तेज बातें होने लगतीं तो लोग कह उठते और क्या कल-कल करते हो। तो कलके मायने वहां लोग शब्द लेते हैं, पर यहां कल-कलका अर्थ यह समझिये कि शरीर-शरीरकी जो परस्पर चेष्टायें हो रही हैं वे सब कल-कल हैं। कलरहित यह आत्मतत्त्व परमात्मा कहलाता है।

परमात्माका अनिन्दितपना—परमात्मा अनिन्दित है अर्थात् किसीके द्वारा भी निन्दित नहीं, अथवा स्तुत है। इन्द्र देव, धरणेन्द्र आदिक मनुष्योंके इन्द्र चक्रवर्ती आदिक गणधर देव मुनीन्द्र सबके द्वारा स्तवन किए जाने योग्य हैं। जो आत्मा इस समय रागद्वेषसे लिप्त चल रहा है वह आत्मा रागद्वेषरहित सर्वज्ञ प्रभुके गुणोंका गुण-गान करे, उनके गुणोंके ध्यानमें रहे तो इसमें पवित्रता जगती है, तत्त्वचिन्तनसे पवित्रता जगती है, किन्तु गृहस्थपदमें जिनभक्तिरहित कोई तत्त्वचिन्तनका ही कार्य करे तो उसमें प्रगति नहीं हो सकती, क्योंकि यह बेमेल गाड़ी न चलेगी। जैसे किसी गाड़ीमें एक ओर ऊंट जोत दिया जाय और एक ओर बिल्ली जोत दी जाय तो ऐसे गाड़ी नहीं चला करती, ऐसे ही गृहस्थ पदमें एक ओर तो दूकानपर बैठकर या जो भी कार्य चलता है व्यवसाय या सर्विस किसी भी जगह बैठकर अनेक प्रकारके दंदफंद किए जायें, अनेक व्यवहार किए जायें बहुत कुछ न्यायसे बर्तकर भी कितनी ही बातें और आती रहती हैं, उनको विशेष क्या समझाना है, आप सब जानते ही हैं। धन कमानेके लिए न जाने कितने-कितने प्रकारके दंद फंद किए जाते हैं, यहां तक कि नीचसे नीच पुरुषोंकी भी बड़ी खुशामद (हूं हजूरी) करनी पड़ती है, न जाने कैसे-कैसे मायाजाल रचने पड़ते हैं, तो एक ओर तो यह प्रवृत्ति रहे और दूसरी ओर धर्मके नामपर भक्ति हेय है, दया हेय है, त्याग हेय है, व्रत करनेसे क्या लाभ है, इस तरह इस असंयम आदिकसे घृणारूप बर्ताव रखे और एक तत्त्वचिन्तनकी ही बात रखी जाय कि इससे मुक्ति मिल जायगी तो ऐसे बेमेल गाड़ी यहां न चलेगी। मुनि पदमें तो यह बात निभेगी मात्र तत्त्वचिन्तन, जरूरत नहीं है किसीसे राग करनेकी। वहां आरम्भ रोजिगार नहीं करना पड़ता, क्षुधा लग जाय, सही न जाय तो चर्या को निकल गए, जैसा श्रावकने दे दिया सो ले लिया, बाकी आगे पीछे कोई फिक्र नहीं। उनका तो निभेगा, एक भी

मनुष्यसे वार्ता मत करें, पूर्ण मौन रखें, तत्त्वचिन्तन करें। पर गृहस्थाश्रममें जो गृहस्थ के पट् कर्तव्य बताये गए दान पूजा आदिक, उनको किए बिना गृहस्थीमें प्रगति नहीं हो सकती। तो यहां प्रभुको अनिन्दित कहा जा रहा। वे स्तवनके योग्य हैं।

प्रभुका भक्तिभावसे महात्माओं द्वारा स्तुतपना—भक्तिभावसे प्रभुका स्तवन हो तो भव भवके पातक टल जाया करते हैं। अनेक आचार्य देवोंने जिन भक्तिको बड़ी श्रेष्ठता की बात कहा है। श्रीवादिराज मुनि कहते हैं कि चाहे कितना ही कोई ज्ञान बढ़ाले किन्तु जब तक इस वीतराग सर्वज्ञ अंतस्तत्त्वमें दृढ़ भक्ति नहीं होती है तब तक मोक्षकी अगला बराबर बनी रहती है। आचरण भी सही है, ज्ञान भी सही है, पर जब तक प्रभुके प्रति उत्तम भक्ति नहीं जगती तब तक यह मोह कपाट नहीं खुलता। यह मुक्ति की अगला नहीं टूटती। तो जिन भक्तिको इतना महत्त्व दिया है। प्रभु स्तवनके योग्य हैं, प्रभु स्तवनमें अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं कि जहां प्रभुसम अपने स्वरूपको निरखा और प्रभुकी व्यक्त दशा देखा और अपनी व्यक्त दशापर दृष्टिकी तो वहां आनन्द और खेद दोनोंका मिलकर अश्रुपात होने लगता है। आनन्द तो इस बातका है कि जो प्रभुका स्वरूप है सो मेरा स्वरूप है। यदि अज्ञान अंधकार न रहे तो यह ऐश्वर्य मैं पा सकता हूं, क्योंकि मेरा स्वरूप ही अविकार, और खेद इस बातका है कि स्पष्ट तत्त्व तो यह है कि प्रभुके समान स्वरूप है, पर देखो कितना अन्तर हो गया है। रागद्वेष कषाय वासनामें रहकर यह मैं कितना नीचे की स्थितिमें हूं, इस बातका उसे खेद होता है और ऐसे इस आनन्द खेदके मिश्रित अश्रुओंके बीच जो इसका गद्गद भाव ठहरता है और अपनी ओर झुकाव चलता है वहां इसके पाप दूर होते हैं। प्रभु अनन्दित हैं। इन्द्र धरणेन्द्र आदिकके द्वारा स्तवनके योग्य हैं। जो प्रभुको अपने हृदयमें स्थापित करता है उसे भय उत्पन्न करने वाला फिर कोई नहीं है। आखिर यह जीव भावमात्र ही तो है। संकट कहीं बाहरसे नहीं आते। जब इसके भाव विकृत होते हैं तो यह संकट है। फिर जैसे बाह्य पदार्थोंमें अपना यह उपयोग रखता है तो उनके संग संकट है, पर जो परमभावको प्रभुके स्वरूपमें अपना उपयोग लगाता है उसको संकट नहीं है। प्रभु अनन्दित हैं। प्रभुकी निःस्वार्थ भक्ति करने वाले पुरुष ऐसे विशिष्ट भावमें आते हैं कि उनके पुण्यबंध सुगम चलता रहता है और उनको श्रेष्ठ सम्पदायें प्राप्त होती हैं। पर सम्पदाओंकी ओर इस ज्ञानीका चित्त नहीं है, वे सम्पदायें प्राप्त होती ही हैं। ऐसा ही नियोग है तो उसका भी ज्ञाता होता है। संसारके थोड़े बौध्द सम्यग्दृष्टिको प्राप्त

होते हैं और यथाशीघ्र शुद्धोपयोगके बलसे वे निर्वाणको प्राप्त होते हैं । प्रभु परमात्मा अनिन्दित हैं ।

परमात्माका केवलपना—परमात्मा केवल है । केवल शब्दके तीन अर्थ होंगे । केवलका अर्थ है-मात्र वही एक असहाय याने परकी सहायताकी जिसे आवश्यकता नहीं है, स्वयं परिपूर्ण अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दमय होनेसे इसको परके सहायकी क्या आवश्यकता रही ? परालम्बनसे रहित है । केवल ज्ञानमय है, इसप्रकार परमात्मा केवल है, दूसरा अर्थके बल, क का अर्थ है आत्मा, जैसे जीव आत्माका नाम है ऐसे ही क यह भी आत्माका नाम है, ब्रह्मका नाम है और सप्तमकी विभक्तिमें बना के और बलका अर्थ है शक्ति जिसका अपने आपका सामर्थ्य आत्मामें प्रकट हुआ है उन्हें कहते हैं केवल । कैसा है वह क ? शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव ऐसे ही आत्मामें अनन्त वीर्य प्रकट हुआ है जिसके उसे कहते हैं केवल । वह है परमात्मा । अथवा केवते सेवते विज्ञात्मनि अभेदेन तिष्ठति केवलः, जो अपने आत्माको सेवते हैं, अपने आपमें अभेद रूपसे वर्तते हैं उन्हें कहते हैं केवल । वह कौन है ? परमात्मा तो प्रभु परमात्मा केवल हैं । परमात्माकी तारीफ सुन सुनकर अपने आपमें भी ध्यान देना चाहिए कि यह ही कला, यह ही योग्यता, यही स्वरूप मेरेमें है और यहां ही सत्य आनन्द है । यह स्वरूपरमण ही अपनी पवित्रता है । यही एक ऐसा कर्तव्य है कि जिसके प्रसादसे सदाके लिए हम संसार संकटोंसे छूटकारा पा सकते हैं । प्रभु परमात्मा केवल है ।

परमात्माका विशुद्धात्मत्व व परमेष्ठित्व—परमात्मा, विशुद्ध आत्मा हैं । इनका आत्मस्वभाव कर्मकलंकसे रहित है, शुद्ध है, ज्ञानकी शुद्ध तरंग जहां चलती रहती है, मात्र, जानन, जहां विकारका प्रवेश नहीं, ज्ञानकी निर्बलता भी नहीं, एक साथ ही त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ ज्ञेय हो रहे हैं इसलिए वे अविकार विशुद्ध आत्मा परमात्मा हैं । प्रभु परमेष्ठी कहलाते हैं । परमपदमें स्थित हों उन्हें परमेष्ठी कहते हैं । परमपद वह है कि जिसकी पूजा इन्द्र, धरणेन्द्र मुनीन्द्र आदिक किया करते हैं । उनके द्वारा बंदनीय हैं । ऐसे उत्कृष्ट पदमें स्थित होनेसे प्रभु परमेष्ठी कहलाते हैं । परमेष्ठी नाम ५ पदोंका भी है—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु यहां साधुसे भाव-लिङ्गी निर्ग्रन्थ दिगम्बरको लिया गया है । अतएव वे भी परमपदमें स्थित हैं । तो यहां ध्रुव्युत्पन्नग्राही नयसे निरखा जाय तो अरहंत और सिद्ध ही परमेष्ठी हैं, पर भूत भावी

नैगमनयसे देखा जाय तो भविष्यत, होने वाले हैं इस कारणसे आचार्य, उपाध्याय और साधु भी परमेष्ठी हैं। जो संसार शरीर भोगोंसे विरक्त हैं, आत्मध्यानकी जिनके धुन है इसीकारण उनके कोई परिग्रह लगा नहीं है ऐसे निर्ग्रन्थ साधु भी परमेष्ठी कहलाते हैं और ये ही ऐसे साधु ही तो अरहंत होते हैं। अरहंतोंको साधुपदमें भी गिना है। जैसे साधुके ५ भेद होते हैं (१) पुलाक (२) वकुश, (३) कुशील (४) निर्ग्रन्थ और (५) स्नातक। तो यहां स्नातक साधु अरहंतको कहा गया है। जो आत्माका स्वभाव पद है उसमें पूरा स्नान कर चुके वे। निर्ग्रन्थ साधु ११वें और १२वें गुणस्थान वालेको कहा है। वीतराग छदमस्थ। और कुशील साधु, वस्तुतः ये १०वें गुणस्थान तक हैं। देखो यद्यपि कुशील नाम रखा है पर उसका अर्थ यह न लेना कि जैसा लोकमें सोचा जाता है एक छोटे रूपमें किन्तु आत्माका जो शील है, स्वभाव है उसको ढाकने वाला राग जब तक मौजूद है तब तक वे कुशील कहलाते हैं। इसे कहते हैं कषायकुशील। प्रतिसेवना कुशील उनसे कुछ निम्न पद है। जिनको पिछी कमण्डल आदिकका अनुराग होता है वे अब तक रहे पुलाक और वकुश। पुलाक मुनि उन्हें कहते हैं जिनको कदाचित् मूलगुणोंमें भी विराधना हो जाय, कोई एक आध मूल गुण कम भी हो तब भी वह पुलाक मुनि है। वह भी पूज्य है क्योंकि एक साधक दशा है। मुनिको उत्तर गुणों का पालन निर्दोष देखना और तब ही उनको साधु कहना, ऐसी हठ जैन शासनमें नहीं है। पुलाक मुनि, जिनका आत्मसाधनामें चित्त है और २८ मूलगुणोंके पालन करनेमें प्रयत्नशील है ऐसा मुनि किसी समय किसी एक मूल गुणसे रहित भी हो तो भी वह पुलाक मुनि है। और वकुश मुनि वे हैं जिनके मूलगुणोंमें तो कमी है नहीं, परिपूर्ण २८ मूल गुण हैं, किन्तु उत्तरगुणोंकी कमी है वे वकुश मुनि कहलाते हैं। उत्तर गुण कौन ? विशेष स्थानमें, विशेष तपश्चरण, वनमें निवास, पर्वतपर निवास। आतापन योग, शीतयोग, वर्षायोग। अनेक व्रत उपवास आदिक जो उत्तर गुणोंमें बताये गए हैं, वे उत्तर गुणोंके पालक नहीं हैं। परीषहविजयमें अनेक परिषहविजय उत्तर गुणसे सम्बंध रखते हैं, ओर कुछ परिषह विजय अनिवार्य हैं। जैसे प्रतिदिन एक बार आहार करना मुनिका व्रत है और इतने पर भी क्षुधा तृषा रहे तो भी परीषह विजय करना आवश्यक ही है। पर मुनिको यह आवश्यक नहीं है कि वह महीने भरका उपवास करे ही, या अनेक दिनोंका उपवास करे ही और इस तरहके परीषह सहे ही, यह अनिवार्य नहीं है, यह तो उसकी उमंगकी और आगे प्रगतिकी बात है। वह मैदानमें शीतकालमें बैठकर

शीत परीबह सहे ही, यह मुनिको अनिवार्य नहीं है। यह उत्तर गुणकी बात है। उसका मन हो करे, उसमें संहनन हो तो उन उत्तर गुणोंका भी पालन करे। तो ऐसे जो सम्यग्दृष्टि हैं, अपने आत्मस्वभावमें रमण करनेका पौरुष करते हैं वे मुनि भी परमेष्ठी कहलाते हैं। तो प्रत्युत्पन्नग्राही नैगमनयसे तो अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी हैं और प्रज्ञापन नैगमनयकी दृष्टिसे आचार्य, उपाध्याय और साधु भी परमेष्ठी हैं। तो अरहंत भगवान परमेष्ठी हैं।

परमात्माकी परमजिनरूपता व शिवंकरता—परमात्माका नाम है परमजिन। परम पर और म, इन दो शब्दोंका समास है यहां। म का अर्थ प्रमाण भी है और लक्ष्मी भी है। उत्कृष्ट प्रमाण जिनके हैं उन्हें कहते हैं परमजिन। उत्कृष्ट प्रमाण भी ज्ञानपूर्ण प्रत्यक्ष, सकल प्रत्यक्ष जिनके प्रकट हुआ है वे परमजिन कहलाते हैं। जिनका अर्थ है—जो रागद्वेष भावोंको जीते उसे जिन कहते हैं, अथवा म का अर्थ जब लक्ष्मी करें तो उत्कृष्ट समवशरण आदिक लक्ष्मी जिनको प्राप्त है वे परमजिन तीर्थंकर कहलाते हैं। अथवा म का अर्थ आभ्यंतर लक्ष्मी लीजिए, तो उत्कृष्ट ज्ञानलक्ष्मी जिनको प्रकट है वे परमजिन कहलाते हैं। परमात्मा परमजिन हैं। प्रभु परमात्मा शिवंकर हैं। मोक्षको करने वाले, आनन्दको अनुभवने वाले अथवा जिनका ध्यान करनेसे आत्मतत्त्वका प्रकाश होता है उस आत्ममार्गपर चलकर जो मोक्ष प्राप्त करते हैं उनके लिए वे शिवंकर कहलाते हैं।

परमात्माकी शाश्वतता व सिद्धरूपता—प्रभु शाश्वत हैं। जो स्वरूप उनका प्रकट हुआ निर्दोष वह स्वरूप उनके सदा रहेगा। अब विकारभाव नहीं आ सकते, क्योंकि विकार आनेका कारण है कर्मविपाक। कर्म जब बंधे हों तो कर्मविपाक आये। कर्मबंध का कारण है विकारभाव। जिनके एकबार विकारभाव दूर हो गया, कर्मकलंक दूर हो गया उनके अब न विकारभाव आ सकता है, न कर्मकलंक आ सकते हैं, इस कारण प्रभु शाश्वत् कहलाते हैं। प्रभुका नाम है सिद्ध। जिनको स्वात्मोपलब्धि प्राप्त हुई उन्हें सिद्ध कहते हैं। सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः जिसके केवल सत्त्वके ही कारण जो वस्तु है चैतन्यस्वरूप वही जहां प्रकट हो गया, केवल रह गया उसे कहते हैं सिद्ध। उन्होंने आत्माको पाया। जैसा आत्मा है वैसा प्रकट हुआ, यही वास्तविक आत्माका पाना कहलाता है। वैसा ज्ञान करे उसे भी पाना कहते हैं, उस ओर दृष्टि दे उसे भी पाना कहते हैं, पर पूर्ण पाना किसे कहते हैं? जैसा आत्मस्वरूप है वैसा ही जहां प्रकट हुआ है उसे कहते हैं स्वात्माकी प्राप्ति होना। सिद्ध भगवतोंका ध्यान यह ही अपने लिए

शरण है, उनके स्वरूपके ध्यानमें अपने स्वरूपका भी भान चलता है। जिन्होंने अपने स्वरूपका भान किया है उनको भगवन्तोंका ध्यान सुगम है। लोकके अन्तमें विराजमान केवलज्ञान ज्योति अनन्त आनन्दमय आत्मा ही आत्मा सबसे निराला जहां प्रकट है वही सिद्ध स्वरूप है। जो वहां प्रकट है वही यहां स्वभाव है, स्वरूप है। जैसे पानी में पड़ी वस्तु है, उसको उठाकर अलग कर दिया, वह सूख गई। वह भी एक स्थिति है। जो दूर किया गया है उतना ही पानीमें था, पानीमें कहीं दूसरा स्वरूप नहीं बन गया था। इसी प्रकार इस संसारमें कहीं आत्माका दूसरा स्वरूप नहीं बन गया। विकृत है, बद्ध है, मनुष्य, देव, नारकादिक गतियोंमें चल रहा है, इतना सब कुछ होने पर भी स्वरूप ही रहा, स्वरूप कहीं दूसरा नहीं बन गया और यही कारण है कि इसको मुक्ति हो सकती है। अगर स्वरूप दूसरा बन गया होता तो मुक्त होना कठिन था। मनुष्य दूसरा बनता पर स्वरूपमें कोई अन्तर न आता। तो जो यहां स्वरूप है वही वहां प्रकट हुआ है ऐसे सिद्ध परमात्मा हैं। यही आत्माकी उत्कृष्ट स्थिति है। चित्तमें यह निर्णय हो कि मुझे तो संसार जालसे हटना है और ऐसे सिद्ध परिणमनमें ही रहना है। ऐसा श्रद्धान हो और प्रभुध्यान हो तो ये संसारके संकट दूर होंगे।

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिबिहेण ।

झाड्ज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिर्दिहं ॥७॥

त्रिविध मिथ्याध्यवसायो क्रियागर्भाध्यवसायका निर्देश—मनसे, वचनसे, कायसे, बहिरात्मापनको छोड़कर अन्तरात्मामें आरुढ़ होकर परमात्मपदका ध्यान किया जाता है। ऐसा जिनेन्द्रदेवने उपदेश किया है। बहिरात्मापन अनर्थक्रियाकारी है। जैसा यह मूढ़ जीव ससञ्जता है वैसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है। जैसा यह चाहता है वैसा इसके चाहनेसे होता नहीं है। तो ये सब अनर्थ क्रियाकारी भाव हैं तथा मिथ्याभाव हैं। ये मिथ्याभाव तीन प्रकारोंमें विभक्त हैं—(१) क्रियागर्भ अध्यवसाय (२) विपाकमय अध्यवसाय और (३) ज्ञेयमान अध्यवसाय। मैं अमुकको पालता हूं, मारता हूं, दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, मैंने ऐसा कार्य किया, मैं ऐसा कर दूंगा आदिक परपदार्थोंके बारेमें क्रियागर्भित अध्यवसाय मिथ्यात्व है। यह सब अनर्थक्रियाकारी है। जैसा सोचा वैसा होता नहीं और कदाचित होनेका योग भी मिल जाय तो इसके सोचनेसे हुआ नहीं, इस कारण परपदार्थोंके बारेमें क्रियागर्भित विचार मिथ्याभाव है।

त्रिविध अध्यवसायोंमें विपाकमय अध्यवसायका निर्देश—दूसरे प्रकारका मिथ्यात्व है

विषाकमय । जैसे मैं मनुष्य हूं, मैं स्त्री हूं, मैं नारकी हूं, इस प्रकार पुद्गलकर्मके विपाक में आत्मत्वका स्वीकार होना यह विपाकमय अध्यवसाय है । इसका भी फल कष्ट है । एक बार रुड़कीमें एक अजैन महिलाने हमसे कहा—महाराज मुझे एक बातका ख्याल बहुत हैरान करता है कि मैं स्त्री हूं, स्त्री पर्यायमें रहकर धर्मसाधनाके मार्गमें मैं कैसे बढ़ सकती हूं ? बड़ा पराधीनताका और बड़ा निन्द्य पर्याय है यह स्त्रीका । कैसे मैं धर्मसाधनाके मार्गमें बढ़ूं, इस बातका चिन्तन करके मुझे भारी खेद रहा करता है । तो वहां उस स्त्रीसे हमने यही कहा कि जरा तुम अपने आपमें मनन करके यह बताओ कि तुम एक ज्ञानमय पदार्थ हो या नहीं । जो चेतन है, जाननहार है, वह एक पदार्थ है । अमूर्त है, इन्द्रियसे अगम्य है, मन कुछ विचार करले, तो अमूर्त ज्ञानमय आत्मामें क्या स्त्रीपना बसा हुआ है ? नहीं बसा । तो यह विपाकमय अध्यवसाय है । जैसे उस स्त्रीने सोचा कि मैं स्त्री हूं और उसपर खेद माना तो ऐसे ही यह विपाकमय अध्यवसाय पुरुषों पर लगा है । पुरुष लोग मानते कि मैं पुरुष हूं, तो यह उनका मिथ्याभाव है । न कोई पुरुष है न कोई स्त्री है । आत्माकी बात कह रहे हैं । वह तो ज्ञानमात्र एक चेतनपदार्थ है । ये सब पौद्गलिक कर्मविपाक हैं । नारकी हुआ, तिर्यञ्च हुआ, मनुष्य हुआ, और की तो बात क्या, यदि कोई यह माने कि मैं श्रावक हूं तो यह भी विपाकमय अध्यवसाय है । और यहां तक कि कोई माने कि मैं साधु हूं, मुनि हूं तो यह भी विपाकमय अध्यवसाय है परिस्थिति है, मोक्षमार्गमें बढ़ने वाले जीवकी ये स्थितियां हैं कि कोई श्रावकधर्मसे गुजर रहा, अपने लक्ष्यमें बढ़ना चाहता है तो कोई सर्व-बाधाओंको मिटानेके ख्यालसे सर्व परिग्रहोंका त्याग करके मुनिधर्ममें गुजर रहा है लक्ष्य में बढ़नेके लिए, पर सम्यग्दृष्टि श्रावककी यह श्रद्धा नहीं है कि मैं श्रावक हूं । किन्तु यह श्रद्धा है कि मैं चेतन हूं, चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हूं, पर जब उस आत्माकी वृत्ति के लिए प्रयास करते हैं तो हम इतने ही प्रयाससे गुजर पाते कि श्रावक धर्मका पालन कर लूं । कोई विशेष बलवान है, ज्ञानबल अधिक है तो वह इस प्रयास तक पहुंचे कि वह मुनिव्रतसे गुजरता हुआ आत्मध्यान कर रहा है । पर अपनेको श्रद्धामें चैतन्य सिवाय अन्य किसी रूप अनुभवना, मानना यह विपाकमय अध्यवसाय है ।

त्रिविध मिथ्याध्यवसायोंमें ज्ञेयमाध्यवसायका निर्देश—तीसरा है ज्ञेयमय अध्यवसाय । जिस पदार्थको हम जान रहे हैं बस उस ही रूप अपनेको मान लेना, उस ही विकल्परूप रह जाना यह ज्ञेयमय अध्यवसाय है । जैसे भैंसेका चिन्तन किया, भैंसा,

झोंटा इतना महान, जिसके इतने बड़े सींग । और ध्यान करते-करते मैं यह भैंसा हूं, झोंटा हूं, इतने बड़े सींग वाला हूं, ऐसे ही कुछ चिन्तनमें लग गया तो उसको एक बार यह भी समस्या उलझ गई कि मैं इस कमरेसे कैसे निकलूंगा ? गरुड़का ध्यान किया जाता है । जिसके यहां मैं गरुड़ हूं, इस प्रकारका ध्यान करते-करते अपनेको गरुड़ मान लेना यह अपने आपमें गरुड़पनेका अध्यवसाय हुआ । अमूर्त द्रव्यका भी ज्ञान कर रहा हो कोई तो वहां भी यह अध्यवसाय चलता रहता है । अन्यथा धर्मादिक द्रव्योंकी चर्चा करते हुए गुस्सा क्यों आ जाती प्रतिकूल बात सुनकर ? उसने यह माना कि धर्मादिक द्रव्योका जो हमारा ज्ञान है, विकल्प है सो ही मैं हूं । कोई कहता कि गति स्थितिमें धर्मद्रव्य कारण नहीं । तो धर्मद्रव्यका समर्थन चिन्तन करने वाला उसको सिद्ध करने के लिए कुछ रोशमें आ गया या वह दूसरा रोषमें आ गया । तो धर्मादिक द्रव्योंके विषय में जो यहां ज्ञान चल रहा, जो यहां विकल्प चल रहा उस विकल्पमात्र अपनेको समझ रहा तो यह ज्ञेयमय अध्यवसाय बन गया ।

बहिरात्मपनको छोड़कर अन्तरात्मत्वकेआरोहणमें व्रतविधानका कर्तव्य— उक्त तीन बातोंके सिवाय और बात ही क्या होती है अज्ञानीके । या तो परपदार्थोंमें करनेका भाव व भोगनेका भाव या जो अन्य परिस्थिति परिणति पर्यायमें गुजर रही, उस रूप अपनेको माननेका भाव । या जिस पदार्थका ज्ञान कर रहा है उस रूप अपनेको समझने का भाव । इन तीन प्रकारके अध्यवसायोंको छोड़कर अन्तरात्मापर आरोहण करे । अन्तरात्मा क्या ? जो अपना वास्तविक सहज अपने ही सत्त्वके कारण अपना स्वरूप है उस रूप अपनेको मानना, मैं यह हूं, यह है अन्तरात्मत्व । मान लिया ऐसा ही है । अपने आपका निर्णय बन गया कि मैं यह चैतन्यमात्र हूं । सर्वसे विविक्त हूं, ऐसी प्रतीति हो तो योग्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान । अब यह सम्यग्दृष्ट क्या करे कि इस अन्तःस्वरूपकी धुनमें रहेगा । उसके प्रयोगका पौरुष करेगा, ऐसा ही अपनेको अनुभवना । मगर इस पौरुष करनेमें उसको अस्थिरता है । बारबार खयाल आ जाता है घाटा, कुदुब्बका । कोई बीमार पड़ा तो उसका, दूकान का, यों कितने ही विकल्प चलते हैं । और अब तो और भी अधिक बन गए विकल्प । ढंगसे कोई कमाये तो भी उतनेसे अब गुजारा नहीं चल रहा । अब तो उसकी लिखा पढ़ी पक्की होती है, प्रतिदिनकी लिखा पढ़ी होना प्रतिदिनके हिसाब किताबका लेखा जोखा रखना, अपना लेखा जोखा इन्कमटैक्स व सेलटैक्समें जमा करना, अब तो बिना मुनीम रखे किसीका

काम नहीं चलता । तो कितने ही विकल्प बढ़ गए, ये सब विकल्प बाधक बन गए अपने अन्तरात्मस्वरूपके । तब इस अन्तरात्माने क्या सोचा कि भाई अब तो परिग्रहका परिमाण करना चाहिए । यदि परिमाणका ध्यान नहीं है तो तृष्णाका तो कोई ठिकाना ही नहीं । कितना ही कमाते जावें पर तृष्णा पूरी ही नहीं होती । तो इस परिग्रहका परिमाण करता है । अब यह अणुव्रतमें आया, अब यह श्रावक हुआ और उसीके साथ-साथ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य इन अणुव्रतोंका नियम लिया । यह नियम किस-लिए लिया गया कि मेरेको ऐसा अवसर प्राप्त हो कि मैं इस सहज ज्ञानस्वभाव अंतस्तत्त्वके ध्यानमें सफलता पाऊं । जो विघ्नरूप थे उन बाह्य साधनोंको दूर करूं, इन्द्रियविषयोंका राग । मोह, कामवासना आदिक ये बाधक थे । इनको दूर करनेके लिए ही अन्तरात्माने ब्रह्मचर्य अणुव्रत लिया ताकि अन्य परस्त्री आदिक विषयक विकल्प ही न उठें । उन बाधावोसे दूर रहें, ऐसे ही नाना विकल्पोंको दूर करनेके लिए इस अन्तरात्माने श्रावक व्रत ग्रहण किया ।

सामायिक प्रतिमा, प्रोषधप्रतिमा व सचित्तत्याग प्रतिमाका अन्तस्तत्त्वध्यानमें सहयोग—
जो भी इसने संयमासंयम पाया उसका ध्येय है अपने अंतःस्वरूपकी आराधना में सफलता पाना । इस पर भी बाधायें आ रही तो उत्तरोत्तर बाह्य पदार्थोंका त्याग और अपने इन्द्रियविषयोंका संयमनमें अब यह बढ़ता जा रहा है । दूसरी प्रतिमासे तीसरी प्रतिमामें आया । कुछ अभ्यास बन गया अंतस्तत्त्वके ध्यानका । तीन बार सामायिक करूंगा । तीन बार सामायिकके लिए बैठूंगा ही इसलिए कि मैं अपने अंतःस्वरूपकी आराधना बना सकूं । अब यह उस ही अंतस्तत्त्वकी धुनमें बढ़ रहा है । कुछ मिली इसको सफलता तो इसने सोचा कि अब तक रोज-रोज तीन बार हम इसका पौरुष करने आये हैं पर कोई दिन ऐसा भी तो होना चाहिए कि समूचा दिन हम इस ज्ञानानुभवके लिए बनायें । तो चौथी प्रतिमा है प्रोषधोपवास की । उपवासके दिन आरम्भके कार्य न करना, किसी मंदिर या स्वाध्यायशालामें उपस्थित होकर आत्यचर्चा या आत्मध्यानमें अपना समय बिताना । देखो सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा कैसा मोक्षमार्ग में गमन करनेका प्रयास कर रहा है गृहस्थीमें रहते हुए भी । यह चतुर्थ प्रतिमा है । अभी तक खाने पीनेका कुछ अधिक नियंत्रण उसका न था, सचित्त पदार्थोंके भक्षणका त्याग न था । वह भी एक विकल्प चलता था । तो उसका यह विकल्प भी निकल गया । उसने नियम ले लिया कि मैं सचित्त पदार्थोंका भक्षण न करूंगा । Vesistana इन्द्रिय

का विषय एक बहुत भीतरका शल्य बनाता है। घरमें रह रहा था तो उसने अपनेको नियंत्रणमें किया।

रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा ब्रह्मचर्यप्रतिमा व आरंभत्याग प्रतिमाका अन्तस्तत्त्वके ध्यानमें सहयोग—घरमें तो बहुत-बहुत प्रकारकी बातें चलती हैं। कोई रातको आया उसका सत्कार उसके खिलाने-पिलानेका प्रबंध। यद्यपि वह स्वयं रात्रिको नहीं खाता लेकिन दूसरेको खिलानेका आदेश करना, बताना यह गृहस्थीमें चल रहा था। यह विकल्प भी उसको खटका। सोचा कि क्यों हम इनको रात्रिभोजन कराते, क्यों हम रात्रिको इन बाहरी विकल्पोंमें फंसेते, इनके पीछे हम रात्रिको ध्यान नहीं कर पाते सो उसने नियम ले लिया कि हम रात्रि में भोजन किसीको न खिलायेंगे, न खानेका आदेश देंगे, न उसकी अनुमोदना करेंगे। तो मोक्षमार्गमें गमन करता हुआ श्रावक आत्मध्यानकी वृद्धिके लिए कैसा बाह्यविकल्पोंसे छूट रहा है। अब तक इसको स्वस्त्रीका त्याग न था। अब उसने विचारा कि यह भी ठीक नहीं, परस्त्रीका तो त्याग पहलेसे ही था, अब उसने स्वस्त्री का भी त्याग कर दिया। रह रहा है वह घरमें, पर कैसा वह आत्मध्यानके बाधक कारणोंको दूर कर रहा है। यह सब गृहस्थ की बात चल रही है। वह दूकानपर भी जाता, कमाई भी करता, अनेक प्रकारके लेन देन भी करता, बड़े-बड़े विकल्प भी करता, पर अब उसे ये विकल्प भी सहन नहीं हो रहे, सो उसने यह नियम किया कि जो मैंने थोड़ी बहुत सम्पदा जोड़ रखा है उसीको ही भोगूंगा। उसीसे ही अपना गुजारा करूंगा। मैं नयाकाम दूकानका, आरम्भका, कमाई धमाईका अब कुछ नहीं चाहता, उन सबका त्याग कर दिया।

परिग्रहत्यागप्रतिमा, अनुमतित्यागप्रतिमा व उद्दिष्टत्यागप्रतिमाका अन्तस्तत्त्वके ध्यानमें सहयोग—कोई सोच सकता है कि नई कमायीका तो त्याग कर दिया इस आत्मध्यानके इच्छुकने और जो कुछ रखा है उसे ही भोगता जाय तब तो कुछ ही दिनोंमें उसका सारा धन साफ हो जायगा, फिर कैसे गुजारा चलायगा? तो भाई उस समस्याका हल भी उसने पहलेसे ही सोच रखा, न रहेगा कुछ तो आगे वह त्यागमें बढ़ेगा। उसको इसकी कोई शल्य नहीं है। और न भी खतम हो तो भी अब वह सोच रहा आगे बढ़नेके लिए। जो कुछ घरमें सम्पदा रखी उससे हम भोजन निर्माण कराते। कुछ भी करते, तो यह भी एक प्रबंध है। यह भी तो एक आरम्भ है। यह भी उसको सहन नहीं होता। तो आत्मध्यानमें बढ़नेका इच्छुक गृहस्थ अब कुछ वस्त्र और कुछ

बर्तन रखकर बाकी सबपरिग्रहका त्याग कर देता है। जो उसे बुलाये निमंत्रण कर जाय वहां चले गये। परघर भोजन हो गया ६वीं प्रतिमासे। अभी तक तो लोग उसे निमंत्रण करते थे। पूछते थे कि आपको क्या चीज आपकी प्रकृतिके अनुकूल बननी चाहिए। जो चीज कहो सो बनादें, यह ठीक रहेगा ना आपको। ऐसी बातें सुन सुनकर उनका जवाब दे देता था। अब यह आत्मध्यानका इच्छुक ऐसी फोकट वार्ताको भी नहीं चाह रहा। तो उसने अपना निमंत्रण लेना बंद कर दिया। समयपर पता नहीं जो ले जाय वहां चले गए १०वीं प्रतिमामें। यहां अनुमोदनाका भी त्याग हो गया। यह श्रावककी बात चल रही है कि आत्मध्यानके इच्छुक पुरुष आत्मध्यानकी वृद्धिके लिए जिन-जिन बातोंको बाधक और विकल्प समझता था उनका त्याग करते हुए बड़े चले जा रहे हैं। अब इसमें भी घर जाना नियत है वह इतना तो सोच लेता था कि अमुक घर जा रहा हूं, भले ही वह अनुमोदना न करता था तो भी थोड़े विकल्प चलते थे अथवा अन्य कुछ धार्मिक बात, घरमें रह रहा था १०वीं प्रतिमा तक। यद्यपि घर का त्याग ६वीं प्रतिमामें हो गया था फिर भी अपने पुत्रोंके विनयपर सोच रखा था कि मैं इस घरके इस कमरेमें रह जाऊंगा। अब यह भी उसे मंजूर नहीं है। तो सर्व प्रकार का सम्बंध छोड़कर अब यह क्षुल्लक ऐलक पदमें आया। जिसे कहते हैं उद्दिष्टत्याग। उद्दिष्ट त्यागके मायने है मनसे, बचनसे, कायसे कृतकारित अनुमोदनासे, इन ६ कोटियोंसे आहारका समर्थन न करना, इसे कहते हैं उद्दिष्टत्याग। और, उद्दिष्टसे। कोई बनाता है तो यह गृहस्थकृत दोष है, इसकी निवृत्ति है। ६ कोटिसे विशुद्ध हो जानेसे वह दोष मुनिको, इस विशिष्ट त्यागीको नहीं होता। तो अब यह इस प्रतिमा की साधना करने लगा।

मुनिव्रतका अन्तस्तत्त्वके ध्यानमें सहबोग—जब वह कुछ और आगे बढ़ा तो उसका ऐसा विचार बना कि ये वस्त्र, यह लंगोट, यह चद्दर, ये भी बड़े विकल्पके कारण हैं। इनको कहां धरना, कहां सुखाना, ये सब विकल्प करने पड़ते हैं। तो सर्व प्रकारके परिग्रहोंका त्यागकर वह मुनि हुआ। मुनि व्रतमें पंचमहाव्रत हो गया, पूर्ण हिसाका त्याग हो गया, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहका, सर्वथा त्याग हो गया। पंच समितियों की प्रवृत्तियोंसे चलना, बोलना, आहार करना और उठना बैठना, चीज ग्रहण करना, मलमूत्रका क्षेपण निर्जन्तु स्थान पर करना, ये प्रवृत्तियां चलने लगेंगी। इसने अपनेको सर्वथा निःशल्य अनुभव किया, बस एक ही काम रह गया—आत्मध्यान। तो इस

अंतस्तत्त्वकी बुनियादसे अब यहां तृप्ति हुई। अब अन्य कुछ काम नहीं, बढ़ता चला जा रहा, कभी अप्रमत्त दशा भी प्राप्त करता फिर प्रमत्त अप्रमत्त इस तरह यहां दोनों गुणस्थानोंमें झूल रहा साधु अपने आत्मतत्त्वकी आराधना बना रहा है। इस प्रकार जिन परिस्थितियोंसे गुजरकर आत्मतत्त्वकी आराधनामें बढ़ रहा, उन परिस्थितियोंको यह आत्मस्वरूप नहीं समझता। मैं श्रावक नहीं, मैं मुनि नहीं, एक चैतन्यमात्र तत्त्व हूँ। इस प्रकारके भावोंमें यह अन्तरात्मा बढ़ता है। तो आज तो ज्यादा बढ़ाव है नहीं। अधिकसे अधिक सप्तम गुणस्थान, मगर जिस कालमें संहनन ऊंचा होता था उस कालमें इस गुणस्थानसे भी ऊपर भाव होते थे और क्षपक श्रेणीमें चढ़कर चारित्र-मोहका क्षय किया तो वे निर्ग्रन्थ साधु बन जाते थे। यहां निर्ग्रन्थसे मतलब चौथे नम्बर का मुनि पुलाक, वकुश, कुशील ओर निर्ग्रन्थ। इसके पश्चात् केवलज्ञान हुआ और वे अरहंत परमेष्ठी हुए। अब वे कहलाये परमात्मा।

व्यवहारमार्गसे गुजरकर अन्तरतत्त्वके ध्यानकी पूर्णताका लाभ—तो परमात्माका जो स्वरूप है वह ध्यानमें लाया गया ओर उसके आलम्बनसे उपयोग करके अंतस्वरूप कारण समयसार सहज परमात्मतत्त्व अविकारस्वरूप चैतन्यभाव, उसका ध्यान किया। तो यह ही बात जिनेन्द्र देवने बतलाया है कि विविध योगसे बहिरात्मापनको छोड़े, अन्तरात्मापनका आलम्बन लें और परमात्मस्वरूपका ध्यान करें। यह एक व्यवहार मार्ग है, जिसमें चलकर लोगोंको सुध रहती है कि किस तरहसे चलना, कैसे बैठना, कैसे भोजन करना, कैसी परिस्थितियोंसे गुजरना जिससे कि अंतस्तत्त्वके ध्यानके विरुद्ध वातावरण न बने कि जो हम आत्माकी सुधसे भी हट जायें। इसके लिए प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम दो प्रकारके संयमोंमें यह ज्ञानी पुरुष बढ़ता है। तो ये बाह्य बातें उसके लिए ढालकी तरह हैं और अंतस्तत्त्वका ध्यान, आराधना कर्मशत्रुके छेदनेके लिए शस्त्रकी तरह है। तो जैसे कोई योद्धा ढाल और तलवार लेकर युद्ध करता है ऐसे ही यह ज्ञानी व्यवहार धर्म या संयमरूपी ढालको लेकर और अन्तरमें अंतस्तत्त्वके ध्यान रूप शस्त्रसे इन कर्मशत्रुओंको छेदता है और उनपर विजय पाता है जैसे ढाल ओर तलवार इन दोनोंके बिना गुजारा नहीं, ऐसे ही व्यवहार धर्मके बिना गुजारा नहीं और निश्चय अंतस्तत्त्वके बिना गुजारा नहीं। इस तरह इस अंतस्तत्त्वका प्रधान ध्येय रखकर यह जीव मोक्षमार्गमें गमन करता है।

बहिरस्थे फुरियमणो इन्द्रियदारेण णियसरुवचुओ ।

णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥८॥

बाह्यअर्चोंमें मनके स्फुरणसे आत्माको निजस्वरूपसे च्युति—बहिरात्माका दूसरा नाम मिथ्यादृष्टि है, मूढ़ दृष्टि है। यह मूढ़दृष्टि बाह्य अर्थमें मनको स्फुरित करता हुआ इन्द्रियके द्वारा अपने स्वरूपसे च्युत होकर निज देहको आत्मा मानता है। दर्शनमोहके उदयमें इस जीवको अपने आपके स्वरूपका परिचय नहीं हो पाता। तो बाह्य अर्थोंके प्रति इसका मन उमंगमें रहता, उनसे लगाव रखता, उनसे यह जुड़ा रहता। इसका फल यह है कि अपने स्वरूपसे गिरा हुआ रहता, तब वह शरीरको ही मानता कि यह मैं हूं। शरीरसे भिन्न मैं कोई अमूर्त जीवतत्त्व हूं, यह मूढ़दृष्टिको विदित नहीं है, और इस कारण निरन्तर कष्ट ही कष्ट भोगता है। देहके पालन-पोषणके लिए इसके सारे प्रयत्न रहते हैं। वह देहके पालन-पोषणके लिए नहीं मान रहा किन्तु अपने आत्माके पोषणके लिए यह सारे प्रयत्न करता है। देह और आत्मा ये मूढ़दृष्टिके मतमें अलग-अलग नहीं हैं। सो अपने पोषणमें अर्थात् शरीरके पोषणमें बाह्य पदार्थोंकी आवश्यकता होती है। खाना-पीना आदिक स्पर्श वगैरह उनका योग जुड़ाता है और उनका योग जुड़ना अपने आधीन नहीं। और ऐसा ही चाहने वाले जगत्के सब लोग हैं। तो इसने दूसरेको कभी विघ्नकर्ता भी माना। क्रोध जगता। कभी कुछ सम्पदा प्राप्त की। कुछ नाम ख्याति होने लगी तो इसमें इसके मान बढ़ता है, अभिमान जगता है और बाह्य पदार्थोंके पानेके लिए नाना प्रकारके छल कपट करता है। और तृष्णाका तो प्रसार है ही। इस प्रकार चारों प्रकारकी कषायोंसे पीड़ित होकर यह जीव अपने स्वरूपको भूला हुआ है। इसका जीवन भी क्या जीवन है, जीवनको व्यर्थ गमा रहा है। ऐसा यह बहिरात्माका स्वरूप बताया जा रहा है कि जिसमें आत्माकी सुध नहीं। उसकी दृष्टि सारी देह पर रहा करती है। धर्मकी चर्चामें जो कषाय रखता है या क्रोध जगता है उनकी एक दृष्टि कहां है? अन्यथा देहपर, उपेक्षा रहती।

अनन्तानुबन्धी कषायकी शुफा—देहदृष्टि कहां तक चलती है? इसका अनुमान करना भी कठिन है। लगता है कि यह धर्म आचरणमें, प्रयोगमें बड़ा उत्साह रख रहा, पर उसे यह पता नहीं कि वास्तवमें सम्यक्त्व भावसे रह रहा या देहदृष्टिके कारण रख रहा। त्याग, दान, संयम आदिक कही देहदृष्टिके कारण होते हों। मैं करने वाला हूं, मैं साधु हूं, मैं बहुत शुद्ध आचरणसे रहता हूं। मेरा बहुत ऊंचा कुल

है आदिक भावोंका मूल देहदृष्टि हो सकती है। इस देह दृष्टिने ऐसे-ऐसे मुनिजनोंको भी हैरान किया कि जो इतना मंद कषाय रखे थे कि घानीमें पिल जायें तो भी शत्रु पर रोष न करें। और मूलमें बात यह पड़ी है कि मैं मुनि हूं, (देहको देखकर) मुझे क्रोध न करना चाहिए। मुझे क्षमा धारण करना चाहिए। क्षमा रखेंगे तो मोक्ष मिलेगा। बात तो अच्छी सोच रहा है किन्तु देहको ही आत्मा समझकर सोच रहा, यह मूलमें भूल है। इस कारण इतने प्रयास होने पर भी वह मूढ़ दृष्टि है। जैसे हम बाहरी क्रियाओंसे सम्यक्त्वका फैसला नहीं कर पाते। धर्मात्माओंसे अनुराग चल रहा, किसी पर क्रोध भी चल रहा। किसी शिष्यने धर्मविरुद्ध आचरण किया उसे दंड भी दे रहे। ऐसी क्रियाओंमें यों लगता है कि इनके क्या सम्यक्त्व होगा, भरतचक्रवर्ती, श्री रामचन्द्रजी या और-और भी ऊंचे-ऊंचे महापुरुष जिनकी चेष्टायें ऐसी थीं कि जिन्हें देखकर यह नहीं समझ बन सकती कि इनका अच्छा भाव था या इनको सम्यग्दर्शन था। तो जैसे सम्यग्दर्शन कठिन है समझना कि यहां है या नहीं ऐसे ही मिथ्यादर्शन भी कहीं-कहीं समझना कठिन है कि यहां है या नहीं। ११ अंग ६ पूर्वके पाठी होकर भी मिथ्यात्वसे वासित हैं और एक मेंढक, बंदर, नेवला, सांप ये कहो सम्यग्दृष्टि भी बन जाये फिर भी इनके बारेमें सही समझ नहीं बन पाती। उनको व्यवहारमें एक प्रधानता लाकर अपने कल्पनासे मानते हैं कि यह मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि है। अब कल्पित विभाग व्यवहार करके आम्नाय या व्यवहार मार्गका लोप करना यह जैनधर्मकी विराधना है। अपना लक्ष्य होना चाहिए अपने कारण समयसार तत्त्वपर। हम सफल हुए या नहीं हुए पर लक्ष्य तो है हमारा। इसी प्रकार दूसरे जीव भी जो धर्ममार्गमें लग रहे हैं उनका भी लक्ष्य बह ही हो।

जिसपर जो बीतती है प्रायः वही अपने समान पुरुषोंमें देखता है। जैसे कोई दुःखी पुरुष है तो प्रायः दूसरोंके दुःखका अंदाज करता है। ये भी दुःखी हैं, और जो सुखी पुरुष हैं वे प्रायः दूसरोंके सुखका अंदाज करते हैं, ये भी सुखी हैं। जो दोषोंसे भरे हुए पुरुष हैं वे दूसरोंमें दोष देखनेकी दृष्टि रखते हैं। इन्होंने यह दोष किया, इनमें ये दोष हैं, और जो गुणोंसे पूरित हैं वे दूसरोंमें गुणोंकी दृष्टि रखते हैं। बाह देखो—ये कितना शान्त हैं, कितना धर्मकी ओर अभिमुख हैं। बाहरमें जिसे तत्त्वका अंदाज नहीं सही बन पाता है उसके बारेमें क्या निर्णय? हां स्वरूपका निर्णय होता है। जहां यह स्वरूप हो दृष्टिमें वह है सम्यग्दर्शन। जहां यह सहजस्वरूप नहीं है दृष्टिमें, वह है

मोक्षपाहुड़ प्रवचन

मिथ्यादर्शन । मूढ़ दृष्टि जन निरन्तर देहको ही आत्मा मान रहे हैं । कभी ये धर्मकी चर्चा करें, भेदविज्ञानकी बड़ी बात करें तो साथमें यह बात लगी रहती है कि देखो श्रोताजन मेरेको बड़ा अच्छा ज्ञानवान समझ रहे हैं, लो देहदृष्टि हो गई उसकी । देह को ही उसने आत्मा माना, और भेदविज्ञानकी चर्चामें दूसरोंका हर्ष देखकर या उनकी बाबाही सुनकर जो चित्तमें प्रमोद जगता है वहां भीतरमें यह बात पड़ी है कि लोगोंने मुझे अब समझ पाया कि ये कितने ज्ञानवान हैं और कितनी ऊंची सूक्ष्म चर्चा करते हैं अब भला बताओ देहदृष्टिकी बातको कैसे बताया जाय कि यहां है अथवा नहीं । तो इसका तो एक ही निर्णय है कि जहां देह दृष्टि नहीं उसका तो कल्याण और जहां देह दृष्टि है उसका पतन ।

दृश्य धर्मव्यवहारमें भी देहदृष्टिके आधारकी संभवता—देहदृष्टि वाला निरन्तर बाह्य अर्थोंमें मनकी उमंग बनाये रहता है और इस उमंगके कारण इन इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयोंके ही उपयोगी बनकर अपने स्वरूपकी दृष्टिसे च्युत रहता है । इसीको बतलाया है—देह जीवको एक गिनै, बहिरातम तत्त्व मुधा है । देह और जीवको एक मानता है, जहां बहुत बड़ा सोला (शोध) चलता है, हाथ किवाड़में न लग जायें, कोई चीज छू न जाय, इतनी जो निरन्तर तीक्ष्ण दृष्टि रहती है वे जरा यह अंदाज तो करें कि उनकी दृष्टि देहमें अधिक है या आत्मापर । यद्यपि शोध सोलाको मना नहीं किया जा रहा, वह भी उपयोगी बात है, अन्यथा स्वच्छंदता हो जायगी और परिणामोंमें गिरावट हो जायगी, मगर उस ही ओर भारी दृष्टि रहे तो एक देहदृष्टिका उदाहरण है । जैसे उन कोल्हूमें पिलने वाले मुनिके लिए बताया कि उसमें उस समय भी इतनी समता है कि वह शत्रुके प्रति द्वेष नहीं कर रहा, फिर भी उसका ऐसा भाव बना कि मैं मुनि हूं । मुझे क्रोध न करना चाहिए, इससे मुझे मुक्ति मिलेगी, तो यह उसकी देहदृष्टि बन गई । तो ऐसे ही समझो कि जो सोलाके चक्करमें भारी उलझता है उसके अभी देहात्मदृष्टि है । जैसे मैं नहा धोकर शुद्ध कपड़े पहनकर आया हूं । मुझे कोई छू लेगा तो मेरा धर्म नष्ट हो जायगा, मेरा सारा बिगाड़ हो जायगा, यह सोचकर पद-पदपर क्रोध करना, यह देहात्मदृष्टिका कारण है । अरे काम करना कर्तव्य है सो करें, पर भीतरमें आत्मदृष्टिसे च्युत न हों । आत्मभान रहे कि यह मैं आत्मा हूं । सोला बनाया, किसी ने छू लिया तो उसका उपाय बना लिया, कुछ पानीके छींट डाल लिये, या कपड़ा बदल लिया, या मन बदल लिया, किसी भी प्रकार थोड़ी सी भावना करली, यों बाह्य

उपाय बना लिया। मगर उसके बिगड़नेपर तीव्र क्रोध आये तो वह एक देह दृष्टिके आधारमें साबित होता है।

स्वदोषोंका निरीक्षण कर उनसे हटनेमें आत्महित—जब मुनिकी चर्चा करते हैं तो वहां तो बड़े खुश होते कि देखो कोल्हूमें पिल रहे फिर भी अनन्तानुबंधी कषाय लिए हैं और देहदृष्टि सूक्ष्मतासे उसके पायी जाती है और अपने आपके जो कर्तव्य चलते हैं उन कर्तव्योंमें निगाह डालते कि हम भी न जाने क्या-क्या बहाने बनाते हैं। न जाने धर्मके प्रसंगमें क्या-क्या रूपक रखते हैं और देहदृष्टिको पुष्ट कर रहे हैं। बात अपने आपमें अधिक निरखना चाहिए। दूसरेका तो सही-सही कुछ पता नहीं, उसमें दोषों को निरखनेसे लाभ क्या? स्वयंके दोष देखनेमें मैं कितना मोहमें पल रहा हूं। पुत्र मित्र स्त्रीजनोंका जो मोह टूट नहीं रहा। कुछ थोड़ीसी बीमारी हो किसीको तो यहां खुदमें भारी आकुलता मचती है। खुदमें कोई बीमारी हो जाय तो यह कितना व्याकुल हो जाता, अब न जाने क्या होगा, पता नहीं अच्छा भी होऊंगा या नहीं। यों कितनी ही उत्क्षेपें बना ली जाती हैं। यह सब क्या है? मूढ़दृष्टिका परिणाम। तो यह बहिरात्मा जीव अपने देहको समझता कि यह मैं हूं। और बाहरमें क्या देखता है? बाहर में है देह। उसके बारेमें यह मूढ़दृष्टि जीव क्या समझता है सो कहते हैं—

णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण ।

अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमाभाएण ॥६॥

स्वदेहमें स्वत्वकी मान्यताकी तरह अज्ञानीका परदेहमें जीवत्वका अध्यास—दूसरेके देहों को देखकर ज्ञानी क्या चिन्तन करता और अज्ञानी क्या चिन्तन करता। ये दोनों ही अर्थ इस गाथासे ध्वनित होते हैं। अज्ञानी मूढ़दृष्टि तो अपने देहके समान इन दूसरे देहोंको देखकर जैसे कि वह अपने देहको आत्मा मानता है ऐसे ही पर देहोंको देखकर पर आत्मा मानता है। मान तो लिया कि ये दूसरे जीव हैं मगर जीवको निरखकर नहीं सोच रहा ज्ञानी। ये दूसरे जीव हैं, किन्तु इस शरीरको देखकर कह रहा कि ये दूसरे जीव हैं। वहां दूसरे जीव कह कर भी सम्यग्ज्ञान नहीं, क्योंकि दूसरे देहोंको यह दूसरा जीव समझ रहा। जैसे अपने देहमें अपने आत्मत्वकी बुद्धि है अतएव मूढ़दृष्टि है और ज्ञानी कैसा चिन्तन करता है कि जैसे कि यह शरीर जिसमें मैं मौजूद हूं, यह मल, मूत्र, रुधिर, मांस, हड्डी, चमड़ी आदिक दुर्गन्ध वाली अपवित्र चीजोंसे भरा है। इस शरीरको देखो तो सही ऊपरसे भीतर तक। यह अपवित्र चीजोंसे भरा है। यह देह

महा अपवित्र है तब ही तो इसकी शोभाके लिए, इसके श्रृङ्गारके लिए नाना प्रकारके वस्त्राभूषण धारण किए जाते हैं। वे सब साज श्रृङ्गार सायद इसीलिए तो किए जाते होंगे कि इनसे इस शरीरकी अपवित्रता, मलिनता, गंदगी ढकी रहे। यह देह महा घिनावना और भयंकर है। तब ही तो इस देहके घिनावनेपनको ढाकनेके लिए सोना, चांदी जवाहरात आदिकके नाना प्रकारके आभूषणोंका निर्माण हुआ और उनका पहनावा चला। चमकता हुआ हीरा या कांचका नग पहन लिया जिससे लोगोंकी दृष्टि उस चमकते हुए नग पर जायगी न कि उस अंगकी गंदगीपर। तो ये साज शृंगार किसलिए चले? इस देहकी पोल ढकनेके लिए। ऐसा यह देह अपवित्र है। भीतरसे बाहर तक सारी दुर्गंधित चोजोंसे भरा हुआ है। जैसे यह देह अपवित्र है, अचेतन है इसी प्रकार ये परशरीर भी अपवित्र वस्तुओंसे भरे हुए हैं। और, यह जीव निराला है, यह देह निराला है परमोही जीव ऐसे अपवित्र देहोंको धारण करता है और उन रूप अपने आपको मानता है। ज्ञानी अन्य हेतुवोंको पर रूपसे चिन्तन करता है। अज्ञानी जैसे स्व देहको स्व मानता ऐसे ही परदेहको पर जीव मानता। अज्ञानीको अपने बारेमें भी अंधेरा और परके बारेमें भी अंधकार याने अज्ञानदशा रहती है।

सपरज्जवसाएणं देहेसु य अबिदिदत्थमप्पाणं ।

सुयदारार्हविसए मणुयाणं बड्ढए मोहो ॥१०॥

शरीरोंमें स्वपराध्यवसाय होनेसे कल्पित पुत्रादिमें मोहकी वृद्धि—अपने शरीरको अपना आत्मा मानना, परके शरीरको पर जीव मानना ऐसा जो एक मिथ्या अध्यवसाय है इसकी वजहसे अब अन्य कल्पनायें भी उठने लगीं कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पति है, ये मेरे मित्र हैं आदि। उनके बारेमें नाते रिस्तेदारोंकी कल्पनायें भी जगने लगीं। और इन कल्पनाओंका आधार भी है यह। इस देहका रमण जिस देहके द्वारा हो वह पति या स्त्री है। इस देहकी उत्पत्ति जिस देहके निमित्तसे हुई है वे माता और पिता हैं। यह देह जिसके पेटसे निकला है वहीसे और दूसरे देह निकले हैं वे भाई और बहिन हैं। सारे निर्णय देहके आधारपर हो रहे हैं। कौनसा रिस्ता है ऐसा कि जो रिस्ता आत्माके आधारपर हो? कोई रिस्ता नहीं होता आत्माके आधार पर। सारे रिस्ते देहके आधारपर है। कोई भी नाम ले लो—बताओ मोसी किसका नाम है? मौसी अर्थात् मा सी याने मा सरीखी। जिस देहसे यह मैं पैदा हुआ, यहां के मायने देह समझना तो वह जननी देह जहांसे उत्पन्न हुआ वहीं से जो दूसरा स्त्री-

लिङ्ग देह हुआ वह मौसी है। जिस पुरुष देहसे मैं उत्पन्न हुआ वह पुरुषदेह जहांसे उत्पन्न हुआ वहां से जो पुरुष स्त्री देह हुए वे हैं काका बुआ आदिक। तो सारे नाते रिस्ते इस देहके कारण चल रहे। आत्माके नातेसे कोई देहका रिस्ता नहीं है। नाना, नानी, सास, स्वसुर, दादा, दादी आदिक सारे रिस्तोंको आप घटालो। बस देहके नाते से रिस्ता है, आत्माके नातेसे नहीं। तब फिर इस आत्माका दूसरा क्या लगा? कुछ भी नहीं। तो यह सब मूढ़दृष्टिका व्यवहार है।

व्यवहारप्रवर्तनमें रहते हुए ज्ञानीकी दृष्टि—व्यवहारपालन तो ज्ञानियोंको भी करना पड़ता है, पर उनके भीतर यह सम्यक्त्वप्रकाश होता कि जीव यह है, देह यह है। ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है, इस तरहका बंधन चल रहा है, ऐसी परिणति बन रही है और वहां इसको गुजारेके लिए ऐसा राग करना पड़ रहा है। वह सारा प्रकाश सही है, पर मूढ़दृष्टिका व्यवहार वही सर्वस्व देखकर, उससे निराला जीव न देखकर होता है। तो जहां इन देहोंमें दृष्टि रखकर कि यह मैं स्व हूं, ये सब पर हैं, इस प्रकारका अध्यवसाय चला कि वहां पुत्र, दारा आदिकके विषयमें मनुष्योंको मोह बढ़ने लगा। बताओ छोड़कर तो सब जाना पड़ेगा और जानेका भी कोई समय किसीको विदित नहीं है पता नहीं आज हैं कल क्या होगा। और, जो लोग गुजरे हैं उनके दृष्टान्त सामने हैं। कुछ साथ नहीं जाता लेकिन इस जीवनमें यह मोही जीव यह नहीं मान पाता कि इन सब बाह्य पदार्थोंसे मेरा कुछ सम्बंध नहीं। कैसा उदय है। कैसा कर्म-विपाक है। ये सब बातें यदि अपने आपमें स्वभावतः हो रही हों तब तो मोक्ष मिलेगा ही नहीं, क्योंकि विकार होना स्वभाव बन गया। अपने आप हो रहा है सब। जो सहज होवे अपने आप, उसका अभाव कैसे किया जा सकता? मिटता है वह जो नैमित्तिक हो। स्वभाव नहीं मिटा करता। ये विकार जितने हैं ये सब नैमित्तिक हैं। ये मिट सकते हैं।

विकारका निमित्त व विकारविनाशका उपाय—विकारका निमित्त क्या है? राग-द्वेष, सुख दुःख कषायें जगती हैं, इनका कारण क्या है? कर्मका उदय। जहां निमित्त-कारण शब्द बोला वहां यह बात तो प्रकट ही है कि इस निमित्तका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उपादानमें नहीं गया। इसलिए वह तो शंका करना ही नहीं। निमित्त अत्यन्ता-भावरूप होता है, पर निमित्तके सान्निध्य बिना उपादान विकार कर ले तो विकार कभी मिट न सकेंगे और फिर ये जीव विकारके नित्य कर्तार रहेंगे, क्योंकि ये तो अपने

आप अपने स्वभावसे बने हैं, वे मिटें कैसे ? तो विकारके उत्पन्न होनेमें निमित्त कारण है कर्मविपाक और विकारके व्यक्त होनेमें आश्रयभूत कारण हैं दुनियाभरके ये सारे पदार्थ । ये पदार्थ सब विकारके निमित्त नहीं कहलाते किन्तु आश्रयभूत कहलाते । अर्थात् यह उपयोग इन बाह्य पदार्थोंमें लगे तो ये आश्रयभूत कारण कहलायें । निमित्त कारणमें यह बात नहीं है कि उपयोग निमित्तमें लगे तो निमित्त कारण कहलायगा । हमारा उपयोग निमित्तमें लगे तो, न लगे तो, जो निमित्त है वह निमित्त है । पर आश्रयभूत पदार्थमें यह बात है कि उपयोग लगे तो वह कारण कहलायगा । इस कारण निमित्त और आश्रयभूत कारणकी बड़ी सावधानी रखना है समझनेमें और आश्रयभूत कारणका नाम लेकर उदाहरण देना कि देखो अमुक निमित्त मिला । पुरुष मिला और विकार न जगा तो निमित्त तो कुछ न रहा । अरे यह निमित्त है ही नहीं, यह आश्रय-भूत कारण है । आगको आप जानें या न जानें यदि किसी तरह आगपर पैर पड़ गया तो पैरमें जलन तो होगी ही । तो ऐसे ही कर्मविपाकको ये असंज्ञी जीव क्या जानें । एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिक क्या जानें ? मनुष्य भी क्या जानें ? उनका उदय होता है । ये विकारप्रतिबिम्बित होते हैं । हां इतना अन्तर कर लिया जाता है ज्ञानबलसे कि यदि यह ज्ञानी अपने स्वरूपके मननमें लगा है, किसी बाहरी पदार्थमें उपयोग नहीं दे रहा है तो उसके विकार व्यक्त न होगा, पर अव्यक्त तो होगा ही । तो यहां बात यह जानना है कि चूंकि ये विकार नैमित्तिक है इसलिए ये हट सकते हैं और आश्रयमें उपयोग लगानेसे ये विकार मजबूत बनते हैं, दृढ़ होते हैं इसलिए आश्रयमें उपयोग मत लगाइये । विकार व्यक्त न होंगे । और विकार व्यक्त न हों, ऐसा जो पौरुष है वही इस अव्यक्त विकारको भी समाप्त कर देगा । तो इस भेदका मूढ़दृष्टिको परिचय नहीं है तो वह तो इन देहोंको देखकर अपना नाता मानता है और उनकी चेष्टाओंसे अपनेको लाभ हानि समझता है । ऐसा यह वहिरात्मापन हेय है, छोड़ने योग्य है ।

मिच्छाणाणेसुरओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो ।

मोहोदयेण पुणरपि अंगं सं मण्णए मणुओ ॥११॥

मिथ्याभावभाषित अज्ञानीकी मिथ्या मान्यताका प्रवर्तन—यह जीव मिथ्याज्ञानमें राजी है मिथ्याभावसे अपनी भावना बना रहा है, इस कारण मोहके उदयसे यह फिर भी देहको आपा मानता है । जैसे इस जीवनमें देहको माना कि यह मैं हूं और मर गए, यह जीव निकल गया देहसे तब तो इस मान्यताका छुटकारा हो जाना चाहिए । जैसे

कई बातोंका ज्ञान नहीं रहता आगेके भवोंमें ऐसे ही शरीरको आपा माननेका भी छुट-कारा हो जाना चाहिए पर नहीं होता, इसका कारण है कि मिथ्या ज्ञानमें यह रत है। आत्मस्वरूप भी नहीं पाया, मिथ्याभावसे यह अपने आपको भा रहा है। मैं यह हूं। पुरुष ही, स्त्री हूं, नारकी हूं, पशु हूं। अपने आपको वही भावना भा रहा है जैसा कि इसको देह मिला। यदि यह संस्कार जीवनभर रखा तो मरनेके बाद भी वही संस्कार जाता है और जिस देहको पाता है उसीको ही यह आपा मान लेता है। आगे भी दुःखी रहकर जन्म लेगा तो वहां भी आपा मानेगा। मानो यह मिथ्या भावनाकी परम्परा चल रही है। इस मिथ्याभावका फल सिवाय व्याकुलताके और कुछ नहीं है। मिलना-जुलना कुछ नहीं, रहना कुछ नहीं। देह भी न रहेगा। जो जो है वह सदा रहता है। संयोग सदा नहीं रहता। तो संयोग ही तो मिटा, जीव मरता नहीं। पुद्गल भी मरता नहीं। चाहे कुछ भी अवस्था हो जाय पर सत्त्व मिटता नहीं। बस संयोगको जन्म कहते हैं और वियोगको मरण कहते हैं। सो मिथ्याभावसे भावित हुए ये प्राणी मोहके उदयमें जन्म-जन्ममें इस शरीरको ही आपा मानते जाते हैं। अणुदेह, हाड़, मांस पींजराका देह, ऊपरसे एक चाम चादर मढ़ी भई है जो चाम चादरका रूप रंग है, जिसमें यह सब अपवित्रता ढकी हुई है। ऐसे दुर्गन्धित देहको यह जीव मानता है कि यह मैं हूं। अनेक संकट आने पर भी इस जीवके मिथ्याबुद्धि नहीं हटी। मोहसे दुःख होता और उस दुःखको दूर करनेका उपाय मोह ही समझता है यह मोही और इस दुर्बुद्धिके कारण मोह मिटनेका अवसर मिलना इसको कठिन होता है।

जो देहे निरवेक्खो णिद्दो निम्ममो निरारम्भो।

आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं॥१२॥

देहनिरपेक्ष निकटभव्यका निर्वाणलाभ—जो पुरुष देहमें निरपेक्ष है वह पुरुष निर्वाणको प्राप्त करता है। देहमें अपेक्षा न रहे तो कहीं लो उपयोग लगेगा कि यह मैं हूं। जब देहको अत्यन्त पृथक् देख लिया तो इस ही को तो मानेगा कि यह मैं हूं, वह मानता है आत्मस्वभावको कि यह मैं हूं। जो शाश्वत चैतन्यस्वरूप है वह मैं हूं ऐसे आत्मस्वभावमें रत हुआ यह भव्य जीव निर्वाणको प्राप्त होता है। अपनी गलती यदि गलती मालूम पड़ जाय तो वह गलतीका सुधार कहलाता है। मोहमें तो यह जीव गलती को गलती ही नहीं समझ पाता। जैसे कोई रास्तागीर दूसरे मार्गपर चला गया, जहां जाना था वह मार्ग छूट गया, पर चित्तमें यह बात बसी है कि मैं सही मार्गपर जा

रहा हूं तो उसके कोई साथी ही या अन्य कोई समझायें कि आप तो रास्ता भूल गए, पर उसको यह सही श्रद्धा बनी है कि यह ही है सही मार्ग तो वह वहां से वापिस नहीं लौटता, परिणाम यह होता कि वह आगे बढ़ता जाता है और भूलका रास्ता लम्बा होता जाता है। जब कुछ और आगे चलकर कुछ बुद्धि ठिकाने होती है तो समझमें आता कि मैं रास्ता भूल गया हूं, सो उसे उतना रास्ता वापिस लौटना पड़ता है। तो मोहमें यह जीव अपनी गलतीको गलती नहीं स्वीकार कर पाता। यदि अपनी गलतीको गलती मान ले तो इसके मायने हैं कि उसकी श्रद्धामें गलती नहीं रही। देहमें अपेक्षा होना। यह देह ही मेरा कल्याणरूप है, देहसे ही मेरा भला है, यह ही मेरा सर्वस्व है, ऐसा मानने वाला देहसे निरपेक्ष नहीं हो सकता। जो देहसे निरपेक्ष न होगा वह आत्मस्वभावमें लीन नहीं हो सकता। तो देह निरपेक्ष पुरुष ही, जीव ही आत्मस्वभाव में रत होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं।

निर्द्वन्द्व निकटमव्यका निर्वाणलाभ—जो पुरुष निर्द्वन्द्व है वही आत्मस्वभावमें लीन हो पाता है। द्वन्द्वका अर्थ है क्षोभ, विभ्रम, उत्क्षन। जब तक यह द्वन्द्व रहता है तब तक आत्मस्वभावमें उसके रति नहीं होती। यह उत्क्षन हुई क्यों? यह द्वन्द्व शब्द ही बतला रहा। द्वन्द्वका असली अर्थ उत्क्षन नहीं है किन्तु इसका अर्थ है दो में पड़ना, इसको कहते हैं द्वन्द्व। जो दो में पड़ेगा अर्थात् दूसरेमें लगेगा वह नियमसे उत्क्षनमें आयगा। ज्ञानी पुरुषोंने हमेशा अपने आपको निर्द्वन्द्व तक, इसमें किसी दूसरेका कुछ दखल नहीं है। दो दर्शन मिलकर एक नहीं होते। प्रत्येक सत् पृथक्-पृथक् स्वयं-स्वयं ही रहा करते हैं। फिर वहां द्वन्द्वका क्या काम? मैं एक हूं, असहाय हूं, केवल ज्ञान-मात्र हूं। इससे ही मेरा सारा लोक है, इसमें ही मेरा सारा व्यवसाय है। मैं अपनेमें आप ही हूं, ऐसा लखने वाला पुरुष आत्मस्वभावमें लीन होता है। धन्य है वह समागम जिस समागमसे यह प्रेरणा मिले कि बाहरमें किसी भी दूसरे पदार्थमें भ्रम मत करो, उपयोग मत जोड़ो, सर्वस्व मत मानो। ऐसा जहां एक भाव प्राप्त हो समागम वह धन्य है। गृहस्थ भी वह धन्य है जो कुटुम्बमें रहते हुए भी अपने आपको समागमों से निराला लख रहा है और धर्ममार्गमें बढ़ रहा है और इस ही प्रकार कुटुम्बके दूसरे जीवोंको भी उपदेश कर रहा है और उन्हें भी धर्ममार्गमें चलनेके लिए स्वतंत्र कर रहा है। आखिर वियोग तो सबका होगा मगर समागममें रहकर धर्मकी ओर प्रेरणा मिले एकको दूसरेसे और राग मोहसे हटनेकी प्रेरणा मिले तो वह समागम भी उसके लिए

एक कामका बन गया, और जिस समागममें केवल विषय हो पोषे जायें, केवल कषाय ही बढ़ाई जाय तो खुद भी डूबे और दूसरोंको भी डुबाया। निर्द्वन्द्वता कैसे आये, उस भावका आदर करना चाहिए। वह है स्वतंत्र-स्वतंत्र सत्का परिचय कोई सोचे कि ऐसा अगर स्वतंत्र-स्वतंत्र सत्ताका परिचय करेंगे तो घरमें कैसे रहेंगे ? अरे हीन संहनन है ओर चारित्रमोहका उदय है। संहनन शक्तिका कुछ उपयोग नहीं हो रहा है तो इस परिस्थितिमें घरमें ही तो रहना पड़ेगा और अन्तः है स्वतंत्र सत्का परिचय, तो उसकी यह स्थिति बन जायगी कि जलमें भिन्न कमल है। कमल जलमें पैदा हुआ और जल में ही रह रहा, पर जब तक जलसे ऊपर उठा हुआ है तब तक वह कमल प्रफुल्लित है, मुस्कराता है और यदि वही कमल जलमें पैदा हुआ, उस जलमें मोह करने लगे, मैं तो जलसे लिपटकर ही रहूंगा, मैं जलसे अलग न रहूंगा तो कमल सड़ जायगा। जलमें पड़ा हुआ कमल सड़ता है, प्रफुल्लित नहीं रहता ऐसे ही यह मनुष्य घरमें उत्पन्न हुआ, कुटुम्बमें उत्पन्न हुआ और कुटुम्बमें ही रह रहा, पर कुटुम्बसे ऊपर उठा हुआ न रहे, कुटुम्बसे लिपट कर एकमेक मानकर रहे तो वह मनुष्य भी सड़ा सा समझिये। ज्ञान प्रकाश नहीं, कायरता बनी है, वह अनेक घटनाओंको देखकर अधीर हो जाता है। अपने आपमें संतोष नहीं तो उसे सड़ा हुआ ही समझिये। तो जैसे कमल जलमें उत्पन्न होता, जलमें रहकर जलसे ऊपर रहता है तो उसकी स्थिति बढ़िया है ऐसे ही मनुष्य कुटुम्बमें उत्पन्न होकर कुटुम्बमें रहकर कुटुम्बसे विविक्त रहता हुआ मानता है तो उसकी स्थिति अच्छी है। जो निर्द्वन्द्व पुरुष है वह आत्मस्वभावमें रत होकर निर्वाणको प्राप्त होता है।

निर्मम निरारम्भ निकटप्रव्यका निर्वाणलाभ—निर्मम मनुष्य आत्मस्वभावमें रत होकर निर्वाणको पाता है। निर्ममका अर्थ है ममतारहित। ये पदार्थ मेरे हैं ऐसा श्रद्धान नहीं है ज्ञानीको, क्योंकि है ही नहीं मेरे। तो ज्ञानीको किसी भी परद्रव्यमें ममत्त्व नहीं है, क्योंकि उसने सर्व पदार्थोंका स्वतंत्र-स्वतंत्र सत्त्व खूब समझ लिया है। एक का दूसरा कुछ नहीं, फिर इसका यह है, यह भाव कैसे बनेगा ? मेरा कुछ है यह भाव कैसे बनेगा ? मेरा मात्र मैं हूं और वह मैं एक क्या ? शाश्वत् चैतन्यस्वभाव। यही मैं हूं, यही मेरा है। यही सर्वस्व है, ज्ञानीके स्वमें आत्मत्वका भाव है अतः वह निर्मम है। ममता रहित है। जो निर्मम होता है वह आत्मस्वभावमें रत हो पाता है। जो आत्मस्वभावमें रत हो गया वह निर्वाणको प्राप्त करता है। ज्ञानी जीव निरारम्भ है।

स्वभावसे और प्रयोगसे दोनों ही बातोंसे निरारम्भ हुआ दिगम्बर मुनि आत्मस्वभाव में रत होकर निर्वाणको प्राप्त होता है। श्रद्धानमें तो निरारम्भ गृहस्थ भी है। मैं बाह्य पदार्थोंमें क्या कर सकता हूं। क्योंकि मैं आत्मपरिणमन में ही परिणमता हूं, बाहर नहीं परिणमता। परमाणुमात्रका परमाणुमात्र भी मैं कुछ करता नहीं हूं। मैं अपने ही गुणोंका परिणमन करता हूं। बाहर मेरा कर्तृत्व नहीं, ऐसी श्रद्धामें वह निरारम्भ है फिर भी जब तक चारित्रमें निरारम्भ नहीं होता, समस्त द्रव्योंका त्याग कर नहीं सकता, केवल एक धर्मध्यानकी ही धुन रहे, ऐसी जिसकी स्थिति नहीं बनती तब तक निर्वाणलाभ नहीं है। सो जो ज्ञानी निरारम्भ होता है वह आत्मस्वभावमें लीन होता है और निर्वाणको प्राप्त होता है।

आत्मस्वभावमें सुरत होनेकी निर्वाणसाधनता—अपने बारेमें कैसा ध्यान रहना चाहिए इसका आत्मानुशासनमें दिग्दर्शन कराया है कि मैं अकिञ्चन हूं याने अन्य कुछ नहीं हूं। मेरा अन्य कुछ नहीं है, अकिञ्चन हूं, ऐसी भावना करता हुआ अकिञ्चन-रूप ठहर तो जा। तू लोकाधिपति बनेगा। सर्वज्ञता बाहरी पदार्थोंको जान जानकर नहीं मिला करती। मीमांसक सिद्धान्तमें तो बताया है कि पदार्थोंको जानते जावो, जानते जावो, जब सब ज्ञान जुड़ गया तो सर्वज्ञ बन गए, पर वह सर्वज्ञता ऐसी नहीं हुआ करती। बाह्य पदार्थोंका जानना छोड़े, विकल्प छोड़े, केवल अपना सहजस्वरूप ही अपने आपके ज्ञानमें लेवें तो इस उपायसे सर्वज्ञता प्रकट होगी। एक-एक पदार्थको जान जानकर और उनको जोड़-जोड़कर सर्वज्ञता नहीं बनती। जैसे गेहूं भर-भरकर बोरा भर जाता ऐसे ही सबको जान जानकर सर्वज्ञता हो जाय ऐसा नहीं होता। सर्व कितना है? अनन्तानन्त। उनको एक-एक भी जान कैसे सकेगा? और एक-एकको जान जानकर सब कुछ जान ले ऐसी योग्यता भी नहीं होती। सबका जानना छोड़ दें तो सबका जानना बन जायगा। सबके जाननेका प्रयास करें तो सबका जानना नहीं बन सकता। इस कारण योगीजन क्या प्रयत्न करते हैं कि मैं अकिञ्चन हूं।

एक चैतन्यमात्र हूं, मेरा अन्य कुछ नहीं है, ऐसा ध्यान करते हैं, ऐसा ही ज्ञान करते हैं और उसका परिणाम है कि त्रिलोकाधिपति अर्थात् सर्वज्ञ हो जाते हैं। यह है परमात्मस्वरूप प्राप्त करनेका योगिगम्य रहस्य। जिस रहस्यको योगीजन जानते हैं।

आत्मदृष्टिसे विमुक्त रहनमें अकल्याण—आत्मदृष्टिके विरुद्ध दुनियाके मनुष्योंकी क्या परिणति चल रही है? नामवरी, यश, कीर्ति आदिक, जिसके व्याप्तोहमें आत्मा

का चाहे बुरा हो जाय पर भला नहीं होता । ऐसे पुरुष के हृदय में जीवों के प्रति दया नहीं रह पाती । यह क्या है ? इस अकिञ्चनता के विरुद्ध पुरुषार्थ है । जहां आरम्भ है वहां दया नहीं रहती । कुछ भी कार्य करे वहां सर्व जीवों के प्रति दयाका भाव बना रहे चित्त में ऐसी बात उसके लिए असम्भव सी है, क्योंकि वह कुछ कर रहा है बाहरी पदार्थों में प्रवृत्ति तो कुछ सोचकर ही तो कर रहा, कुछ स्वार्थ ही तो वह मान रहा । जहां स्वार्थ है वहां दया नहीं बसती । भले ही मोटी दया बने जहां तक जाना कि मेरा नुकसान नहीं है वहां तक दया तो चलेगी । और जहां यह समझा कि अब इसमें तो मेरा नुकसान हो जायगा, मेरा इतना द्रव्य घट जायगा । मेरे यश कीर्ति में धक्का लग जायगा । जहां यह स्वार्थ आया वहां फिर दयाको स्थान नहीं रहता । जहां कोई प्रकारकी शंका बनी रहती है वहां सम्यक्त्व नहीं रहता । पदार्थों का स्वरूप कैसा है ? पदार्थों में सारी पर्यायें इस समय बसी हुई नहीं हैं, वे क्रमसे निकलती हैं, क्या ऐसा है या पदार्थ एक समय में एक पर्यायरूप है । अगले समय जैसा योग हुआ वैसी पर्याय प्रकट होती है । सो किसी तरह की भीतर में शंका हो तो वहां सम्यक्त्व नहीं है । एक सत्कार्यवाद नामका एकान्त दर्शन है, जिनका यह सिद्धान्त है कि एक बटके बीज में भी अनगिनते वृक्ष पड़े हैं । और उसकी युक्ति वे इस प्रकार देते हैं कि यदि सैंकड़ों वृक्ष न पड़े हों उस अत्यन्त छोटे बटके बीज में तो बोया जाने पर उससे वृक्ष कैसे बन जाता ? यह सत्कार्यवादका सिद्धान्त है । उन्होंने यह वस्तुत्व न समझ पाया कि वह दाना तो अब्र अजीव है । सूखे हुए बीज में जीव नहीं होता । वह प्रासुप कहलाता, पर एक ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है कि वह दाना खेत में पड़े और हवा, पानी आदिक अकूल मिलें तो उनका निमित्त पाकर कोई जोव एक शरीर रूपसे ग्रहण कर लेता है और अकुर बन जाता है । सूखे दाने में जीव जरा भी नहीं है, अगर जीव होता तो उसे कैसे खाया जाता ? साधु संत जन कैसे उसे ग्रहण करते ? तो द्रव्य में सदा पर्याय एक है । अनेक पर्यायें भूत भविष्य में नहीं बसी हैं, किन्तु पर्याय के बाद पर्याय ही पायगा । पर्याय शून्य कभी नहीं रहता है, सो जैसा उपादान होता है और जैसा निमित्त के सद्भाव या अभाव रूप योग होता उसके अकूल अगली-अगली पर्याय उत्पन्न होती रहती है । मैं जीव हूं, जिस पर्यायरूप हूं वह भी क्षणिक है, शाश्वत नहीं है । मैं शाश्वत चैतन्य स्वरूप हूं । अपने आपके स्वरूप में सम्यग्दृष्ट जीव को रंच भी शंका नहीं रहती । जहां शंका है वहां सम्यक्त्व नहीं, जहां परिशुद्ध है वहां दीक्षा नहीं । परपदार्थों का जहां ग्रहण हो

रहा है वहां साधुता नहीं रहती । परपदार्थोंका जहां ग्रहण हो रहा है वहां साधुता नहीं रहती । तो सम्यग्दृष्टि अपनेको निरारम्भ निष्परिग्रह निशंक स्थितिमें रखना चाहता है और इसके लिए जिनको बाधक मानता है उनको दूर करता है और स्वयं ही एक निर्ग्रन्थ अवस्थामें आ जाता है । उससे प्रयोजन नहीं, उसे भी छोड़ा, घरसे प्रयोजन नहीं, उसे भी छोड़ा, वस्त्रादिकसे प्रयोजन नहीं उसे भी छोड़ा । फांस तनिकसी तनमें साले, चाह लंगोटीकी दुःख भाले । बाधक कारणोंको छोड़ते जाना बस इसी धुनमें रहता है । जब सब छूट गया तो उसका वह निर्ग्रन्थ मुनि स्वरूप प्रकट होता है । तो ऐसे निरारम्भ निर्मम निर्द्वन्द्व देहमें निरपेक्ष आत्मस्वभावमें रत मनुष्य निर्वाणको प्राप्त होते हैं । वही योगी है जो अपने इस आत्मस्वभावके योगमें जुड़ जाता है । करनेका कर्तव्य एक ही है सबके लिए कि बाह्य तत्त्वोंमें लगाव न रहे और अपने आपके इस सहज परमात्मस्वरूपकी सुध रहे । मैं यह हूं और इस श्रद्धासे विचलित न हो तो वह मोक्ष मार्गमें प्रगति करता है ।

परद्रव्यरओ बज्जइ पिरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहि ।

एसो जिणउवएसो समासओ बन्धमोक्खस्स ॥१३॥

परद्रव्यरतका बन्धन और स्वद्रव्यरतकी मुक्ति—जीवोंको बंधन इष्ट नहीं है । कोई भी जीव बंधनमें बंधना नहीं चाहता । मगर बंधन तो यहां बिकट लगा हुआ है । घर नहीं छोड़ सकते, कुटुम्बकी परतंत्रता, धनकी परतंत्रता । यह बाह्य बंधन भी बहुत है और अन्दरमें रागद्वेष क्रोधादिक नहीं छोड़ पाते हैं । दुःखी भी होते जाते हैं फिर भी मोह नहीं छूटता है अंतरंगसे । जो भी बंधन है वह इसके निमित्तभूत कारण का बंधन है । तो यह बंधन होता क्यों है और यह बंधन मिटेगा कैसे ? इस तथ्यको इस गाथामें बताया है । जो परद्रव्यमें लीन है, रागी है वह जीव तो बंधता है और जो नाना कर्मोंसे विरक्त है वह जीव मुक्त होता है । जिसको किसी भी परद्रव्यकी कोई आशा है वह बंधा हुआ है और जिसको किसी भी परद्रव्यकी आशा, इच्छा, रति नहीं है वह अब भी स्वतंत्र है । जीवका स्वरूप स्वतंत्र है, अपनी सत्ता रूप है, दर्शन ज्ञानमय है, सहज आनन्दस्वरूप है । इसमें कोई कष्ट नहीं है, पर अपनेमें संतोष न करके बाह्य पदार्थोंमें जो यह राग बनता है उससे बंधन है और संकट भी होते हैं । धन्य है उस मनुष्यका जीवन जिसने अपना लक्ष्य रागरहित, विकाररहित आत्मस्वरूपमें रमनेका बनाया है । और जिन्होंने अपना यह लक्ष्य नहीं बनाया उनको मिलना क्या है ? जो

मिला है वह तो नियमसे छूटेगा । एक अणु भी इस आत्माका नहीं है । जहां देह भी अपनी नहीं है अपना राग भी अपना नहीं है, फिर वहां कहना ही क्या है ? बड़ेसे बड़े समागम बड़ेसे बड़ा ऐश्वर्य इस ही जीवनमें खतम हो जाता है । देखिये अब तक जो अपने देशमें प्रधानमंत्री हो, जिसकी बड़ी प्रतिष्ठा हो वह भी चुनावमें हार जानेपर कैसी स्थितिको प्राप्त हो जाता । अब वह मंत्री पदसे हट गया, क्या रही उसकी अब प्रतिष्ठा ? उसके लिए तो उस पदके आगे करोड़ोंका वैभव भी कुछ नहीं है । यदि उसके दिलसे पूछो तो वह तो यही चाहेगा कि चाहे करोड़ों अरबोंका ऐश्वर्य कोई ले लो मगर मेरा वह प्रधानमंत्री पद मिल जाय, पर ऐसा अब हो कैसे सके ? तो इतना बड़ा वैभव भी इस जीवनमें देखते-देखते खतम हो जाता है, फिर मरने पर तो कहना ही क्या ? कुछ भी इसके साथ न जायगा, पर मोह अंधकार ऐसा सवार है कि यह नहीं सोच पाता है मनमें और बाह्य पदार्थोंकी लम्पटता रखा करता है । तो जो पर-द्रव्योंमें रत है वह तो बंधता है और जो नाना प्रकारके कर्मोंसे विरक्त है वह कर्मोंसे छूटता है । ऐसा बंधन और मोक्षके बारेमें जिनेन्द्र देवने संक्षेपसे बताया है । सबसे विकट बंधन है जीवका मोहभाव । अब मोहभाव क्या है कि महान मिथ्यात्व प्रकृत का विस्फोट होता है तो उसकी एक छाया पड़ी इस उपयोगमें और इसने माना कि यह ही मैं हूँ । बस इसका मिथ्यात्न पुष्ट होता है । जैसे ये बाहरके खम्भा आदिक हमारे ज्ञानमें आ रहे हैं, पर मैं खम्भा नहीं बन गया, ऐसे ही ये रागद्वेष विकार । ये कर्मके अनुभाग हमारे ज्ञानमें आ रहे हैं, पर मैं विकार नहीं बन गया, ऐसा सोचकर विकारसे विरक्त रहे वह पुरुष सच्चा विरक्त है । किसी कारणसे कोई घरमें विरक्त हो गया तो भी विरक्त न कहलायगा । किसी कारणसे कोई धनसम्पत्तिसे विरक्त हो जाय तो भी असली विरक्त यों नहीं कहा जा सकता । यदि अपने भीतरकी कषायोंसे विरक्त हो जाय तो वह असली विरक्त है । और यह फल है । जो कषायसे विरक्त हुआ है वह घरसे, वैभवसे भी विरक्त होता है । मगर घरसे विरक्त होनेका नाम विरक्त नहीं, किन्तु घर सम्बंधी जो राग है उस रागको छोड़नेका नाम विरक्त है । तो जो विरक्त है वह तो मुक्त है और जो रक्त है, रागी है वह कर्मबन्धनसे बधता है ।

सद्वचरओ सवणो सम्माइट्ठो हवेइ णियमेण ।

सम्मत्तपरिणदो उण खवेइदुट्ठकम्मणि ॥१४॥

स्वद्रव्यरतके अष्टकर्मक्षपण—समाहितजीव अपने द्रव्योंमें रत रहते हैं, और यही

कारण है कि उसको धर्ममें संकट नहीं, क्योंकि वह अपने स्वरूपको देखता है, जानता है कि यह स्वरूप अमर है। इस स्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं है। स्वरूपमें स्वयं में कष्ट नामकी कोई चीज नहीं है। यह तो ज्ञानस्वरूप है। जानन-जानन परिणमन इसका चलता रहता है। इस पर क्या संकट आया ? कोई संकट नहीं है। तो ऐसा जो अपने द्रव्यसे विरक्त है वह है सम्यग्दृष्टि और इस सम्यक्त्व रूपसे जो परिणत हो रहा है याने उपयोगमें यह ही निज द्रव्य समाया है। यह ज्ञानस्वरूप मेरे लिए सर्वस्व समाया है वह अष्ट कर्मोंका क्षय करता है। कर्म बंधते कैसे हैं ? कर्मोंसे यह जीव नहीं बंधता। कर्म तो पाद्गलिक हैं, आत्मा चेतन है, चेतन पौद्गलिकको कैसे बांधेगा ? पर यह चेतन अपने स्वभावको भूलकर जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहके भावोंमें लगता है और नाना मन, वचन, कायकी क्रियाओंको करता है, अपनाता है, ऐसे कर्मायके विकल्प बनाता है तो इसका सामना पाकर पौद्गलिक कर्म स्वयं कर्मरूप बंध जाते हैं। और इस जीवके साथ बंधनको प्राप्त होते रहते हैं। जैसे—कोई पुरुष मित्र को बांधता नहीं है, पर वह रागभाव करता है तो मित्र अपने आप बंध जाता है। घरका भी कोई प्राणी किसी दूसरेको बांधता नहीं है किन्तु वह रागमोह रूप परिणाम करता है जिसके प्रति वह स्वयं आकर्षित हो जाता है। तो जब जीव अपने आपमें विषय कषायके भाव रखता है तो कर्म अपने आप बंध जाते हैं, तो ये मितेंगे कैसे ? विषय और कषायोंका राग न रहे तो ये बंधे बंधाये कर्म यों ही खिर जाते हैं जैसे गीली धोती सुखानेके लिए खूटेमें बांध दी गई और वहां से छूटकर नीचे जमीन पर गिर गई, उसमें काफी धूल चिपट गई। तो समझदार पुरुष उस गीली धोतीको झिटकाकर वह धूल न हटायेगा, किन्तु उस धोतीको धूपमें सूखनेके लिए डाल देगा। धोती सूख जानेपर वह धूल जरासे झिटकेसे साफ हो जाती है। तो ऐसे ही समझो कि रागके कारण ये कर्म बंधा करते हैं। तो जो स्वद्रव्यसे रत मुनि हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं और इस सम्यग्दर्शनकी परिणति रहेगी तो ये दुष्ट अष्टकर्म सब दूर हो जायेंगे।

परद्रव्यके लगावमें संकटोंका आक्रमण—सभी लोग अपने आपपर संकटका अनुभव कर रहे हैं और वे संकट क्या हैं ? किसी न किसी पर द्रव्यके बारेमें खयाल। वही एक मात्र संकट है। कोई निर्धनताका संकट अनुभव करे तो वह परद्रव्यके खयालका ही संकट है। कोई इष्टके वियोगका संकट अनुभव करे तो वह भी परद्रव्यके खयालका संकट है। कोई अपनी हानिका संकट अनुभव करता तो वह सब परद्रव्यके खयालका

ही संकट है। परद्रव्यके ख्याल बिना संकट हो ही नहीं सकता। तो अब जो ज्ञानी पुरुष है वह जानता है कि समस्त परद्रव्य मुझसे अत्यन्त निराले हैं। घरमें रहने वाले जितने जीव हैं, ज्ञानी जीव घरमें रहते हुए उस काल भी ऐसा उनको जानते हैं कि जैसे जगतके अन्य जीव मुझसे भिन्न हैं उसी प्रकार घरमें बसे हुए जीव भी मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव सब अलग है। उनकी किसी परिणतिसे मेरेको सुख दुःख नहीं। घरमें यद्यपि यह होता है कि भाईका या पुत्र का कोई दुःख देखा तो यह भी दुःखी हो गया, मगर पुत्रके दुःखसे यह दुःखी नहीं होता, इसने उसके बारेमें कल्पनायें करके अपना दुःख अलग बनाया। पुत्र अपने दुःखसे दुःखी हो रहा है और उसके दुःखको देखकर मोहीने कल्पनासे रागसे अपनेमें एक कल्पना बनाया है, तो यह अपना दुःख और भी बढ़ा लेता है। इसी तरह घरमें किसी एकके सुखसे सुख नहीं मिल रहा। घरके बच्चे यदि सुखी हैं तो उनके सुखी होनेसे पिताको सुख मिलता है, यह बात नहीं है। हो ही नहीं सकता। दूसरेका परिणमन मेरेमें त्रिकाल आ ही नहीं सकता। किन्तु यह उनको सुखी देखकर रागसे अपनेमें कल्पनायें बनाकर कि मेरे घरके लोग कैसा सुखी हैं, इस कल्पनासे वह एक नया सुख बनाता है।

ज्ञानीका चिन्तन—घरमें जितने भी जीव हैं, किसी भी जीवके साथ मेरा अत्यन्ताभाव है, पर ज्ञान जगनेपर भी जब तक घरमें रह रहा है तब तक उनसे राग किए बिना घरमें रह न सकेगा। यदि राग न करेगा घरमें तो खाना पीना भी मिलना मुस्किल हो जायगा, अगर प्रीतिका बर्ताव न करेगा तो उनकी चेष्टा हमारे अङ्गुल कैसे हो पायगी, इसलिए राग करना पड़ता है। और राग किए बिना घरमें रह नहीं सकते। और घरमें रहते हैं तो राग करना हमारा कर्तव्य बन जाता है एक दूसरेकी देख भालके लिए मगर मोह करना कर्तव्य नहीं है। राग तो बनेगा घरमें मगर मोह नहीं है। तब संकट मुझपर न आयें उसके लिए केवल एक ही औषधि है, दूसरी है ही नहीं, वह क्या कि अपने स्वरूपको देखें कि यह मैं हूं, अपनेमें हूं, अपने लिए हूं। जो कुछ होता है वही मेरा कार्य है। वही मेरा सर्वस्व है। मेरेसे बाहर मेरा कुछ नहीं। ऐसा स्वद्रव्यमें जो रत है श्रमण वह श्रमण सम्यग्दृष्टि होता है और वह सम्यक्त्वसे परिणत हुआ अष्ट कर्मोंको दूर करता है। यह मनुष्य जीवन बहुत दुर्लभ जीवन है। संसारके प्राणियोंकी ओर दृष्टि दो। कोई पेड़ है, कोई कीड़ा-मकौड़ा है, कोई गधा है, सूकर है, कैसे कैसे दुःखी जीव हैं। ये जीवकी ही तो परिणतियां हो रही हैं। मैं जीव भी तो

ऐसा ही था । आज मनुष्यभव पाया तो इसका फल इस ही में मिल सकता है कि सर्व बातोंकी उपेक्षा करके एक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्यकी योग्यता वाले इस ज्ञानस्वरूप आत्माको अपनी दृष्टिमें लें । देखिये जिनको बड़े-बड़े वैभव मिले हैं, चक्रवर्ती का वैभव, इन्द्रका वैभव, सो ये वैभव कमानेसे नहीं मिलते कि उन्होंने कोई शरीरका व्यापार किया हो या कमाया हो सो बात नहीं किन्तु सम्यग्दर्शनके होते सन्ते जब तक संसारमें रहता है यह जीव तब तक इसको ऐसे ऊँचे वैभव मिला ही करते हैं । तो सम्यग्दर्शन, अपना अनुभव, आत्मदृष्टि एक ऐसी परम अमृत औषधि है कि जिसके पाने से जब तक संसार है तब तक आनन्दमें रहेगा और निकट कालमें मुक्त होनेपर अनन्त कालके लिए आनन्दमय हो जायगा । बस एक ही धुन हो कि मेरे आत्मस्वरूपका ज्ञान यह मेरेसे कभी अलग न हो । यह सदा सुध बनी रहे कि मैं सबसे निराला दर्शन ज्ञान-स्वरूप हूँ । स्वरूप क्या है ? जैसे कि एक दर्पण है उस दर्पणमें खुदकी झलक है तो बाहरमें रहने वाले पदार्थोंकी फोटो भी आजाती है और जिस पदार्थमें खुदकी झलक नहीं है उसमें बाहरी पदार्थकी फोटो नहीं आ सकती है । बस यह ही दर्शन और ज्ञान का उदाहरण है । आत्माकी खुदकी एक झलक है । वह तो है दर्शन और दर्शन है तब बाहरी पदार्थकी झलक भी यहां होती है । यदि आत्मामें दर्शनगुण न होता तो ज्ञान भी न होता । इस कारण आत्मा दर्शन, ज्ञान स्वरूपी है और यह दर्शन, ज्ञानस्वरूप सहज आनन्दसे भरपूर है । तो ऐसे दर्शनमय, ज्ञानमय, आनन्दमय अपने स्वरूपको निरखना बस इसीसे ही इस जीवनकी सफलता है, और जो होना होगा बाहरी संयोग वह होगा, पर उसमें तृष्णा न जगे, उसमें मोह न जगे तो इस आत्माका मोक्षमागमें निर्वाधि गमन होता है । तो स्व द्रव्यमें जो रत है वह सम्यग्दृष्टि है । जो सम्यग्दृष्टि है वह अपने ज्ञानबलसे दुष्ट अष्ट कर्मोंका विनाश कर लेता है ।

जो पुण परद्वरओ निच्छाबिठो हवेइ सो साहु ।

मिच्छत्तपरिणदो उण वज्झवि दुट्ठकम्मोहि ॥१५॥

परद्रव्यरत जीवकी दुष्टाष्टकर्मबद्धता—जो जीव परद्रव्यमें रत होता है वह मिथ्या-दृष्टि है, जो साधु परद्रव्यमें रत है वह मिथ्यादृष्टि है । यहां साधुओंको सम्बोधन किया जा रहा है मोक्षपाहुड़ ग्रन्थमें । कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि जिसका उपयोग परद्रव्यमें लगता है । जो परद्रव्यसे अपना भला बुरा मानता है वह साधु मिथ्यादृष्टि है । और ऐसे मिथ्यात्वमें परिणत परद्रव्यके मायने इष्ट कुछ भी वस्तु । जैसे **वस्तु** की इष्ट वस्तु

अथवा इष्ट स्त्री आदिक या मित्रादिक या जिनसे यश बढ़ता है ऐसे भक्त लोग, ऐसे पद्मव्योंमें जो लीन हैं उनके रूपादिकको निरखता है और अपने आपके आत्माकी सुध नहीं कर पाता वह साधु मिथ्यादृष्टि है। और वह जिनलिङ्गको धारण कर केवल आजीविका अपनी बनाये है वह पुरुष मिथ्यात्वसे वासित होकर दुष्ट अष्ट कर्मोंका विध्वंस करता है। इन ८ कर्मोंको दुष्ट इस कारण कहा कि ये अत्यन्त मजदूत हैं, स्निग्ध हैं। और फल देनेमें ये भारी वज्रके समान हैं। ये कर्मके विपाक ज्ञानीको भी कुमार्गमें डाल देते हैं तब अन्य प्राणियोंकी तो कथा ही क्या है? ऐसे इन अष्ट कर्मोंसे बेधे जाते हैं। जब कभी कुछ पुण्यका उदय है, और आरामकी सामग्री मिली है अथवा मनको स्वच्छंद प्रवर्तकर सुविधा और आराम मौज माना जाता है। उनमें जो कषाय उत्पन्न होते हैं विषय अथवा लोभ या अन्य प्रकारकी खोटी भावनायें जब उत्पन्न होती हैं तो कर्म बंध जाते हैं। बंधे हुए कर्म आसानीसे निकलें यह बहुत कठिन है। उनका उदयकाल होता है और यह जीव उस अनुरूप अपना परिणमन करता है। इससे एक बात यह चित्तमें होना चाहिए कि हम अणुद्ध भाव कभी न करें क्योंकि खोटे भाव करेंगे तो उनका ऐसा बंध होता है कि उनका फल भोगना पड़ता है। जो करता है सो भोगता है।

कर्मविपाकविचयीके पापकर्मपरिहार—चाहे कुछ देर हो जाय कर्मका फल भोगनेमें, पर अंधेर नहीं होता। नियमसे उसको वेदना होगी, दुर्गति उसको प्राप्त होगी। पुराणों में देख लो या वर्तमानके लोगोंको देख लो जो अन्याय करते हैं, दूसरोंको दुःखी करने का प्रयत्न करते हैं, अपने स्वार्थकी साधनाके लिए जो चाहे कर सकते हैं। उनके कर्म बंधे और उनका फल भोगना पड़ा है। इसीलिए कहा कि देर है पर अंधेर नहीं। एक ऐसा ही कथानक है कि कोई एक पुरुष था जिसके कोई बालक न था। तो किसीने उसे यों समझा दिया कि तुम किसी दूसरे छोटे बालककी बलि अमुक देवके नामपर कर दो तो तुम्हें बालक मिल जायगा। सो उसने वैसा ही किया। किसीका बालक उस देवके नामपर बलि दे दिया। समयकी बात कि उसको बालक भी मिला, काफी धन भी बढ़ गया, बहुत बड़ी सम्पत्तिका मालिक बन गया। देखिये—कहीं बलि देने से यह सब हुआ ऐसा न समझना किन्तु पूर्वकृत कर्मका कुछ ऐसा ही उदय आया कि यह सब कुछ हो गया। यह बात तो कुछ दिन तक चली, पर कुछ ही दिन बीते थे कि उसकी स्त्री मर गई, बच्चे भी मर गए। ज़ायदाद भी सब नष्ट हो गई। यहां तक

भी उसकी दशा हो गई कि उसके पास जो कुछ पहले साधारण स्थिति भी उससे भी दयनीय स्थिति हो गई। वह एक-एक रोटीके लिए तरसने लगा। अपनी यह स्थिति देखकर वह अत्यन्त आकुलित हो उठा। उसे अपनी पुरानी घटना याद आयी। ओह मैंने पाप किया था, बालक पानेकी इच्छासे दूसरेके बालककी बलि दिया था। उसके फलमें मुझे आज इस प्रकारकी दयनीय स्थिति देखनेको मिली। सो पागलोंकी नाई उसकी वृत्तियां होने लगीं। वह सर्वत्र यही कहता फिरे—देर है पर अंधेर नहीं। याने मैंने जो पाप किया था उसका फल मुझे देरमें मिला पर अंधेर नहीं है। सो देर है अंधेर नहीं, ऐसे शब्द रोज-रोज सुनकर लोग उसे पागल समझने लगे थे। पर एक दिन एक जज साहबके मनमें आया कि यह रोज-रोज एक ही बात बोलता है इसमें कोई खास कारण है। यदि पागल होता तो अन्य कुछ भी बोलता, और और भी अटमट चेष्टाये करता, पर ऐसी बात तो नहीं है। सो जज साहबने उसे प्रेमसे अपने घर बुलाया, उसे आदरसे रखा और फिर धीरेसे सब बात पूछा तो उसने अपनी पिछली सारी कहानी बताया कि मैंने ऐसा पाप किया था सो उसका फल मुझे देरसे मिला, पर अंधेर नहीं है। तो ऐसे ही अपने बारेमें सोचना चाहिए कि हमसे कोई अनुचित कार्य हो जाय, पापके भाव हो जायें तो वह हमारे अवर्थके लिए ही होगा। उसका फल भोगना पड़ेगा। इस कारण भावोंको शुद्ध रखनेका सदा ध्यान रखना चाहिए।

परद्रव्यादो दुग्गइ सद्व्यादो हु सुग्गई हवइ ।

इय णाऊण सदव्वे कुणइ रई विरह इयरम्मि ॥१६॥

परद्रव्यरतकी दुर्गति और स्वद्रव्यरतकी सुगति—परद्रव्योंके प्रसंगमें दुर्गति होती है और स्वद्रव्यके उपयोगसे सद्गति होती है। ऐसा जानकर स्वद्रव्यमें तो रति कीजिये और परद्रव्यमें विरति कीजिये। परद्रव्यसे दुर्गति नहीं होती किन्तु परद्रव्यके बारेमें अपना उपयोग लगाये, मोह करे, प्रतीति बनाये तो उसको दुर्गति होती है। और स्वद्रव्यमें उपयोग लगाये तो उससे भवितव्य अच्छा होता है। आत्मामें जितने विकार-भाव जगते हैं वे सब किसी न किसी परद्रव्यका आश्रय करके जगते हैं। कर्मविपाक होनेपर जगते हैं, किन्तु निर्मल पर्याय जो उत्पन्न होती है उसे किसी परद्रव्यका सहारा नहीं लेना पड़ता किन्तु निज शाश्वत् चैतन्यस्वरूप अतस्तत्त्वके आश्रयसे ही निर्मल पर्यायें बनती हैं? यहां तो यह नियम बन गया कि स्वद्रव्यकी आत्माकी अच्छी दशा बनती है और परद्रव्यसे दुर्गति नहीं बनती किन्तु परद्रव्यमें मोह करनेसे दुर्गति

बनती है। तो आश्रय तो रहा पर द्रव्य, इस कारण पर द्रव्यका राग छोड़ना चाहिए। जितने भी बन्धन होते हैं वे किसी परद्रव्यका ख्याल होतेसे बन्धन होता है। इस कारण परद्रव्य नोकर्म हैं। आश्रयभूत हैं। उसका उपयोग न करें और अपने स्वद्रव्यका उपयोग किया जाय तो बन्धन दूर हो जायगा। तब स्वको, निजको निज परको पर जान, यथार्थतया जो जैसा निज है उसको जान लें कि यह मैं हूं। जैसा परद्रव्य है उसे जान ले कि यह मैं हूं। जैसा परद्रव्य है उसे जान ले कि यह पर है, फिर दुःखका नहिं लेश निदान।

अन्तस्तत्त्वका परिचयन—निज क्या है? मिथ्यात्वमें तो लोग अपने बच्चेको भी कह देते कि यह निज है, यह सगा है, पर सगा शब्द संस्कृतका शब्द है। स्वकः याने स्व बना लेना, आपा ही मान लेना, तो मोहमें तो यह पुत्रादिकको भी जो अत्यन्त पृथक् जीव हैं, भिन्न क्षेत्रमें हैं, उनको भी आपा मान लेते। पर वास्तवमें आपा क्या है? सो जरा बाहरसे समझ करके भीतरकी ओर आये। जितने भी ये बाह्य अचेतन परिग्रह हैं धन वैभव, मकान, महल आदिक ये सब तो प्रकट भिन्न हैं ही। वे तो निज नहीं हैं। अब उससे और कुछ पास आये तो कुटुम्ब, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक ये भी निज नहीं हैं। ये भी भिन्न जीव हैं। अपना परिणमन कर रहे हैं, उनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं। अब और निकट आये तो यह देह है जिसमें यह निरन्तर अभी बंधा हुआ है। यह देह भी निज नहीं है, यह भी अत्यन्त भिन्न परद्रव्य है, पौद्गलिक है, आत्मा चेतन है, यह देह भी निज नहीं है, और अन्दर चले तो वे कर्म जो सूक्ष्म पुद्गल हैं, जिनके निरन्तर बंध रहता है संसारदशामें। जिसे कहते हैं मरना, मरनेपर देह तो छूट जाता है और जीवके यहांसे निकलनेपर जीवके साथ वे कर्म जरूर जाते हैं जिनका कि बंध पड़ा हुआ है। तो ऐसे सूक्ष्म पुद्गलकर्म वे भी निज नहीं है। क्योंकि वे भी साक्षात् पुद्गल हैं। और निकट आइये तो उन पुद्गल कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जो जीवमें विकल्प होता, विचार होता, रागद्वेष होता यह भाव भी निज नहीं है। यद्यपि ये भाव मेरेमें ही हुए, मेरी ही परिणति है, पर मेरी चीज तो वास्तवमें वह हैं जो मेरेमें मेरे ही स्वभावसे हो। किसी परद्रव्यका निमित्त नहीं है इसमें। और निकट आइये तो आत्मामें जो विचार चलते हैं। तर्क चलता, ज्ञान चलता, यह भाव तो निज है ना। अरे यह भाव भी निज नहीं है। और ज्ञान चल रहा, पर अधूरा ज्ञान होना यह तो आत्मस्वरूप नहीं है। यह क्षायोपशमिक ज्ञान है। विकल्प है। यह भी मैं नहीं

हूं। अच्छा तो और निकट चलें—यद्यपि मुझमें तो नहीं है केवलज्ञान मगर प्रभुमें हो जाता न ? तो ऐसा जो केवलज्ञान है वह तो निज होगा ? अरे वह भी निज नहीं है। यद्यपि केवलज्ञान स्वभावपर्याय है और केवलज्ञान केवलज्ञान ही अनन्तकाल तक चलता रहेगा। तो भी ऐसा यदि मैं लक्षणतया केवलज्ञानरूप होऊं तो यह अनादिसे ही रहना चाहिए था। किन्तु यह तो किसी दिनसे पैदा हुआ है, इससे मालूम होता कि यह भी मैं नहीं हूं। यह मेरी शुद्ध परिणति है। तब मैं क्या हूं ? अनादि अनन्त एक सारिखा एक स्वरूप, जिसे कहते हैं ज्ञायक एक भाव, वह मैं हूं। इसे कहा करते हैं—टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव। टांकीसे उकेरी गई प्रतिमाकी तरह एक ज्ञायकस्वरूप।

टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावका अन्तस्तथ्य—टांकीसे जो पत्थरकी प्रतिमा बनायी गई है उसमें पहली बात यह मालूम होती है कि वह निश्चल है। जहां हाथ है वहां हाथ है, जहां जो अंग है वहां वह है। कहीं जापानी खिलौनोंकी तरहसे उसको जिस चाहे जगहसे मोड़ नहीं सकते। तो पत्थरमें जो मूर्ति निकली है वह अचल है। निश्चल है। उसका कोई अंग चलायमान नहीं होता, ऐसे ही आत्माका जो ज्ञानस्वरूप है, चैतन्यस्वरूप वह निश्चल है। वह चलायमान नहीं होता कि चलो जब कर्मका सम्बंध है तो यह आत्मा भी जड़ हो जाय ऐसा कभी नहीं होता। दूसरी बात इस दृष्टान्त में यह जानें कि टांकीसे जो प्रतिमा उकेरी गई वह प्रतिमा किस विधिसे बनी ? तो पहले एक बड़ा पाषाण था। प्रतिमा बनवानेके लिए कारीगरको बुलवाया और उसको बताया कि देखो इस पाषाणमें इस तरहकी प्रतिमा बननी है, क्या बना सकोगे ? तो वह कारीगर उस पाषाणको और जैसी प्रतिमा बनानी है उसको बड़ी अच्छी तरहसे देखता है, कहीं इस पाषाणमें कोई रेखा तो नहीं पड़ी है या पाषाण कुछ छोटा तो न रहेगा आदि सभी बातोंका भली भांति निरीक्षण करता है और फिर बता देता है कि हां ठीक है यह प्रतिमा बन जायगी। अब देखो—उस कारीगरको वह प्रतिमा जब उस पाषाणके अन्दर दिख गई तभी कहा कि ठीक है, बन जायगी। अगर उस पाषाण के अन्दर उसे वह प्रतिमा न दिख गई होती तो उस पाषाणमें वह कारीगर उस उस प्रकारसे छैनी हथौड़ा चला ही न सकता था। वह तो अटपट छैनी हथौड़ा मारता, पर उसे तो वह प्रतिमा पहलेसे ही उस पाषाणके अन्दर दिख गई। तो अब वह क्या करता है। उस प्रतिमाको कहीं बाहरसे मिट्टी पत्थर आदि कोई चीज लाकर नहीं बनाता किन्तु करता क्या है कि उन पाषाणखण्डोंको हटाता है जो कि प्रतिमा आव-

रण किए हैं। पहले अत्यन्त मोटे आवरणोंको मोटी छैनी हथौड़ेसे हटाता, फिर बारीक आवरणोंको बारीक छैनी हथौड़ेसे हटाता। फिर अत्यन्त बारीक छैनी हथौड़ोंसे अत्यन्त बारीक आवरणोंको हटाता। उस स्थितिमें तो ऐसा लगता कि यह कारीगर कई दिनों से कुछ भी काम नहीं कर रहा। फाल्तू रोजी ले रहा। पर ऐसी बात नहीं। अब देखिये—सारे आवरण हट जानेपर मूर्ति ज्योंकि त्यों प्रकट हो गई। तो ऐसे ही समझिये कि सिद्ध भगवान होनेकी विधि क्या है? इस सम्यग्दृष्टि कारीगरने इस वर्तमान आत्मपत्थरमें निरखा कि मुझे क्या बनाना है? वह एक चैतन्यमात्र सिद्ध प्रभु बनाना है। उसने यहां समझा। समझमें आया कि हां यहां सिद्ध बन जायगा। तो उस सम्यग्दृष्टिने अपने आपमें उस निकट परमात्मस्वरूपको निरख लिया, यह प्रकट करना है। अब सम्यग्दृष्टि क्या काम करता है कि वह कहीं बाहरसे कोई चीज ला लाकर सिद्ध भगवान नहीं बनाता, किन्तु उस सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूपको ढाकने वाले जो पत्थर हैं याने जो देह रागद्वेष विकल्पादिक हैं उनको ज्ञानकी छेनीसे, ज्ञानकी हथौड़ीसे दूर करता है। विकारसे रहित मेरा स्वरूप है, केवल ज्ञानमात्र मेरा स्वरूप है। उसको निरखता है और यह ही निरखन छेनी हथौड़ी है। इनके बलसे वह रागद्वेष आदिकको दूर करता है। कर्म दूर हुए, रागद्वेष दूर हुए, देह दूर हुआ और सिद्ध भगवान प्रकट हो गए। सिद्ध भगवानके न गुण बनाये गए न कुछ। गुण तो थे ही। वह स्वरूप तो था ही, पर उसपर जो रागद्वेषका आवरण पड़ा था उस आवरण को हटाया कि जो था सो प्रकट हो गया। सिद्ध भगवन्तके मायने क्या? केवल आत्मा मात्र। उसके साथ अन्य कुछ नहीं लगा है। न कर्म, न देह, न विकार, न अधूरापन। जो है सो ही प्रकट हुआ है इसे कहते हैं सिद्ध भगवान् तो यहां बात बनी कैसे? स्वद्रव्यसे। याने आत्मा का जो सहज शाश्वत चैतन्यस्वभाव है, स्वद्रव्य है उस ही पर धुन रहे, वही ज्ञानमें रहे, उसीका आलम्बन हो तो इस स्वद्रव्यसे यह सिद्ध परिणति प्रकट हुई है। ऐसा जानकर परद्रव्यसे तो राग छोड़िये और स्वद्रव्यमें अपना अनुराग बनाइये, भक्ति बनाइये, मैं यह हूं। लाख बातकी एक यह ही बात है कि जिसका यह दृढ़ निश्चय है कि मैं यह मात्र चैतन्य स्वरूप हूं। अन्य कुछ नहीं हूं तो वह इस जीवनमें भी धीरता पूर्वक रह लेगा और उसके कर्म भी निर्जीण हो जायेंगे और वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर लेगा।

ज्ञानकी दृढ़तामें आचरणकी अपरिहार्यता—एक ही काम करना है हम आपको

धर्मके लिए । यदि यह काम न कर सके तो धर्म नहीं हो रहा । वह क्या काम है ? निज सहजस्वरूपका ज्ञान कि अपने आपको ऐसा मान लेना, समझ लेना, जान लेना, श्रद्धान करना कि मैं समस्त परद्रव्योसे रहित केवल चैतन्यमात्र आत्मपदार्थ हूं । यदि किसीका यह निर्णय है तो उसको संकट नहीं आ सकते । मानलो जिन्दा सांप आगे पड़ा हो तो उसे देखकर जान लिया कि यह सांप है । पर यह अधिक विषैला है या कम विषैला है इस प्रकारका यदि ज्ञान हो जाय तो वह उस मौकेपर वैसा काम कर लेता है । यदि अधिक विषैला सर्प हुआ तो वह उस मौकेपर दूर भाग खड़ा होता है । तो जैसा ज्ञान होता वैसा आचरण होता ही है । अगर वहां आचरण न हो तो समझो कि इसको अपने ज्ञानमें दृढ़ता नहीं है । यदि कोई उस सांप पर ही पैर रखे या उसे छुवे तो यह समझना चाहिए कि वह अभी बालकवत् अबोध है । उसको इस प्रकार के ज्ञानकी दृढ़ता नहीं है कि यह विषधर सर्प है, और यह भयंकर प्राणघातक है । तो ऐसे ही जब कभी कोई कहता है कि ज्ञानवान होकर भी यह पापमें लग रहा है तो वहां वास्तविकता यह है कि पापोंमें जो लग रहा है वह ज्ञानवान है ही नहीं । जो सर्पसे जुट रहा उसको सर्पकी भयंकरताका ज्ञान है ही नहीं । अन्यथा वह हट जाता । तो जब ज्ञानकी दृढ़ता होती है, निजसहज ज्ञानस्वभावरूप अपनेको दृढ़तासे मान लेता है तो उसके विषयोंमें राग कभी हो ही नहीं सकता । भले ही विषयोंमें पड़ना पड़े पूर्व-कृतकर्मके उदयसे, पर वह विषयोंमें लगता नहीं है । उनसे विरक्त ही रहेगा । तो यों समझिये कि जो परद्रव्योंमें उपयोग फंसाता है उसको दुर्गति ही प्राप्त होती है और जो स्व द्रव्यका आश्रय करता है उसका भला होता है । कितना सुगम स्वाधीन मुफ्तका एक महान धर्म प्राप्त हो रहा है, अर्थात् जिसमें न तन लगाना, न मन लगाना, न धन लगाना, न वचन लगाना किन्तु एक ज्ञान द्वारा अपने आपको निरख लेना है कि यह मैं ज्ञानस्वरूप हूं । उसकी दृढ़ता होना । दृढ़ता कहते किसे हैं ? कि उसके विरुद्ध फिर कोई बात न सुहाये उसे कहते हैं दृढ़ता ।

दृढ़ भेदविज्ञानी संतोंकी दृष्टि और प्रवृत्ति—सुकुमालको जो इतने सुकुमार थे कि जलता हुआ दीपक दिख जाय तो अश्रु आने लगें, रुईमें बिनौले हों तो वे शरीरमें गड़े, उन पर वे पड़ न सकें । कमलके फूलोंमें वासित चावल ही जिनके मुखमें जा सकें, इतनी सुकुमारतामें पले हुए सुकुमालको जब एक सहज परमात्मतत्त्वका बोध होता है और कर्मविपाककी यह दशा विदित होती है तो वह साड़ियोंका रस्सा बनाकर महल

से नीचे उन साड़ियोंके सहारे उतर जाते हैं, जमीन पर पैर घिसनेसे उनके पैरोंसे खून चू रहा है, मगर उस ओर उनकी दृष्टि ही नहीं है, जाकर दीक्षा ले ली । और पूर्व कर्मवश स्यालिनीने उनके शरीरका भक्षण किया, लेकिन उन्हें कुछ भी उसका ध्यान नहीं । यह है ज्ञानकी दृढ़ता । और, एक ज्ञानस्वरूपमें ही उनका उपयोग बसा तो उन्होंने सर्वार्थसिद्धिका भव पाया । अब एक भव धारण करके ही वह मोक्ष जायेंगे । अनेक उदाहरण हैं जो कि उपसर्गोंसे जरा भी नहीं चिगे । उन्होंने कोई पीड़ा ही नहीं माना, इतना उन्हें ज्ञान प्रिय था । इसे कहते हैं ज्ञानकी दृढ़ता । कभी ज्ञान भी हो जाता और ज्ञान होनेपर भी विषयादिकमें प्रवृत्ति होती, मगर स्वच्छंद प्रवृत्ति नहीं होती । भीतरमें उससे हटनेका भाव होता । जिसके ज्ञान जगा है उसको नियमसे क्रोधादिक कषायोंसे हटनेकी भावना रहती है, विषयकषायोंसे हटनेकी भावना ही न रहे तो निश्चित समझिये कि उसको सम्यग्ज्ञान प्रकट नहीं हुआ । तो जितना अपना निर्मल परिणाम है, अरहंत अवस्था हो, सिद्ध अवस्था बने, सहज आनन्दकी अवस्था आये, वह सब स्वद्रव्यसे ही बनता है । उसमें किसी परद्रव्यके आश्रयकी आवश्यकता नहीं होती । अब समझिये कितना सुगम है धर्मका पालन । कितना सुगम है कल्याण का लाभ । एक स्वद्रव्यसे ही प्रयोजन रहा और अपना आत्मद्रव्य कभी मिटता नहीं है । सदा पास है । जिसकी दृष्टि करनेसे कल्याण होता है वह सदा साथ है । कितनी सुगमता है धर्मपालनकी । इस तथ्यको जिन्होंने नहीं जाना वे धर्मके नामपर कितनी ही क्रियायें कर लें पर उन्हें वास्तविक लाभ नहीं मिल पाता । तो यहां आचार्यदेव कह रहे कि परद्रव्यसे तो दुर्गति होती है और स्वद्रव्यसे सद्गति होती है, ऐसा जानकर समस्त परद्रव्योंसे वैराग्य लावें, भीतरसे वैराग्य लावे । उनमें परिस्थितिवश लगना पड़े तो भी उनसे हटाव सा बना रहे, ऐसा निजके अभिमुख हों और अपने आत्म-तत्त्वमें भक्ति जगावें । जो कुछ मिलेगा मुझे वह मेरे ही पुण्यके उदयसे मिलेगा, अन्य किसी परवस्तुसे मुझे कुछ नहीं मिल सकता । ऐसा स्वद्रव्यमें जो अनुरागी होता है वह कल्याण प्राप्त करता है ।

आदसहावादणं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि ।

तं परद्वं भणियं अविताथमव्वदरिस्सीहि ॥१७॥

परद्रव्योंका परिचयन—इससे पहलेकी गाथामें बताया था कि जो परद्रव्यमें लीन होता है उसकी कुगति होनी है और जो स्वद्रव्यमें लीन होता है उसकी सुगति होती

है। तो वे परद्रव्य क्या-क्या हैं कि जिनमें लीन होनेसे दुर्गति होती है उस परद्रव्यका इसमें विश्लेषण किया है। आत्माके स्वभावके अतिरिक्त जो जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब परद्रव्य कहलाते हैं। चाहे वह सजीव हो चाहे अजीव हो, चाहे वह जीवाजीव हो, जैसे पुत्र मित्रादिक ये सजीव कहलाते हैं। धन वैभव आदिक अजीव कहलाते हैं और ग्राम, नगर आदिक ये जीवाजीव कहलाते हैं। मायने जीव पदार्थ और अजीव पदार्थ इनके समूहको गांव बोलते हैं। खाली घरोंका नाम गांव नहीं या केवल मनुष्योंका नाम गांव नहीं किन्तु जहां मनुष्य बस रहे हैं उन घरोंके समूहका नाम गांव है। तो चाहे सचित्त पदार्थ हों चाहे अचित्त, चाहे मिश्र, जो आत्मस्वभावसे अन्य हैं वे सब परद्रव्य कहलाते हैं। अब सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करें तो जो अत्यन्त भिन्न क्षेत्रमें हैं वे परद्रव्य हैं, इनकी समझ करनेकी दिक्कत नहीं पड़ती, पर जो आत्माके क्षेत्रमें बस रहे हैं वे परद्रव्य हैं। ऐसी समझ बनानेमें थोड़ा विवेक चाहिए। जैसे शरीर यह परद्रव्य है। भले ही आज बंधनमें है किन्तु आत्मस्वभावसे ये भिन्न हैं अतएव परद्रव्य हैं। कर्म जो सूक्ष्म पुद्गल वर्णनाये हैं जीवके कषाय निमित्त पाकर कर्मरूप बन जाती हैं वे भी परद्रव्य हैं, पौद्गलिक हैं। आत्मस्वभावसे अन्य हैं, और कर्मके उदयसे जो रागद्वेष मोहभाव जगता है वह भी परद्रव्य है, आत्मस्वभावसे अन्य है। इन सबमें लगाव रखना, प्रीति करना दुर्गतिका कारण है।

दुष्टदृष्टकम्परहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।

शुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवदि सद्वच्चं ॥१८॥

शुद्ध आत्मतत्त्वकी दुष्टदृष्टकर्मरहितता—ऊपरकी गाथामें बताया कि सर्वज्ञदेवने यह कहा है कि आत्मस्वभावके अतिरिक्त अन्य जो भी पदार्थ है वे सब परद्रव्य हैं। तो स्वद्रव्य क्या है, इसका वर्णन इस गाथामें है। जो दुष्ट अष्ट कर्मोंसे रहित है, उपमा रहित है, ज्ञान ही जिसका शरीर है, नित्य है, शुद्ध है ऐसे आत्माको स्वद्रव्य कहते हैं। जो भी पदार्थ है वह अपना सत्त्व लिए हुए है, उसमें कोई भी दूसरा पदार्थ नहीं रहता। मैं भी कुछ पदार्थ हूं, अगर नहीं हूं कुछ तब तो बहुत ही भला है, फिर दुख ही किसमें हो ? तो मैं हूं और जब मैं हूं तो अपने ही सत्त्वसे हूं, अपना ही स्वरूप मुझमें है, मुझमें अन्यका स्वरूप नहीं है, तो मुझमें देह भी नहीं है, कर्म भी नहीं है, पर हमारी गलतीसे कर्म और देहका जोग जुड़ रहा है। स्वरूपमें तो नहीं है। वस्तु तो कहता है कि मुझमें अन्य कुछ चीज नहीं। परमें विकार करके, मोह करके अन्य चीजों

के साथ जुड़ता हूँ और बंधनमें पड़ता हूँ। यह गलती पुद्गल नहीं कर पाता क्योंकि पुद्गल पुद्गल है। जानता नहीं वह, तो इसमें स्वतः ही स्निग्ध रूक्ष गुणके कारण बंध होता है, पर आत्मा चूँकि जानकार है तो जब यह बिगड़ा ज्ञाननहार है तो इसकी ये सारी सृष्टियाँ चलती रहती हैं। तो मैं आत्मा अष्टकर्मोंसे रहित हूँ क्योंकि मैं स्वतः सिद्ध हूँ, और जो हूँ सो ही हूँ। एक सत्त्वका दूसरे सत्त्वसे भिड़ना नहीं होता है।

शुद्ध आत्मतत्त्वकी अनुपमता—मैं आत्मपदार्थ उपमारहित हूँ। इस आत्मद्रव्यको समझानेके लिए किसकी उपमा दी जाय? कोई दूसरा ऐसा पदार्थ ही नहीं कि जिसका कुछ दृष्टान्त दिया जाय। दिखनेमें जो भी आते हैं ये सब जड़ पुद्गल हैं, उनकी उपमा दी नहीं जा सकती, और जो कुछ ये मनुष्य पशु आदिक समझमें आते हैं ये भी शुद्ध आत्मद्रव्य नहीं, ये विकार परिणमन हैं, इनकी भी उपमा इस आत्मद्रव्यसे नहीं लग सकती। तो यह आत्मद्रव्य अनुपम है, उपमारहित है। अगर उपमा कोई दे तो यह कहेंगे कि यह आत्मा आत्माकी तरह है, यह आत्मा परमात्माकी तरह है, पर अन्य द्रव्यमें उपमा नहीं चल सकती। जैसे कवि लोग मानो जब श्री रामचन्द्रजीकी उपमा देना है तो किससे उपमा दी जाय। तो वहाँ लिखते हैं कि रामरामकी तरह हैं। राम रावणका युद्ध हुआ था तो उसकी उपमा किससे दें? तो कहा कि राम रावणका युद्ध उनके ही युद्धकी तरह है। जिसकी उपमा न दी जा सके ऐसा जंचे तो उसकी उससे ही उपमा दी जाती है। तो यह आत्मा अनुपम है, उसकी उपमाके लायक यहाँ कोई पदार्थ नहीं। यदि अपने आपके अन्दर झुककर निरखें तो ज्ञात होगा कि मैं आत्मा तो कृतार्थ हूँ। मेरेको दुनियामें कोई करनेका काम भी नहीं और इस मुझमें कोई उपद्रव भी नहीं। मैं सत् हूँ और परिणमता रहता हूँ, इतना ही सबमें काम है, पुद्गल, धर्म, अधर्म आदिक जितने भी पदार्थ हैं सबका एक ही व्रत है। वह है और परिणमता रहता है, मैं हूँ और परिणमता रहता हूँ। मेरा विनाश नहीं हो सकता कभी, मेरेमें कुछ अधूरापन नहीं हो सकता कभी। मैं हर समय पूरा हूँ और अपने स्वभावके निरखें तो वहाँ कोई भार नहीं है, वहाँ कोई कष्ट नहीं है। पर कैसा मोह का फंदा है कि यह अपने स्वरूपपर तो टिकता नहीं और बाह्य पदार्थोंपर दृष्टि डालता है जो कि बिल्कुल व्यर्थ है। बाह्य पदार्थोंका लगाव बनानेमें इस जीवको क्या लाभ मिलता है? लाभ तो जाने दो, उल्टा कष्ट ही कष्ट पाता रहता है। तो व्यर्थका कष्ट उठानेका परिश्रम क्यों करते? बाह्य पदार्थोंमें लगाव रखनेसे मन, वचन, काय

का परिश्रम करना पड़ता है। तो जो जैसा है वैसा जान लीजिए, तो वह मैं निज क्या हूँ, स्वद्रव्य क्या हूँ, उसकी पद्धतिमें कह रहे हैं कि यह मैं आत्मद्रव्य उपमा रहित हूँ।

ज्ञानविग्रह शुद्ध आत्माका दिग्दर्शन—हमें किस ढंगसे आत्माका ध्यान करना चाहिए? बस ज्ञानरूप। इसका ज्ञान, इसकी बाडी (शरीर) ज्ञान ही है, ज्ञान सिवाय इस आत्मामें कुछ नहीं है। अपने आपको ज्ञानमात्र तको, मैं ज्ञान ही ज्ञान हूँ। ज्ञानमात्र एक जानन, कैसा विचित्र पदार्थ है इसीलिए बताया है कि आत्मा सब पदार्थोंमें सार-भूत है। अन्य द्रव्य सब अचेतन हैं, पड़े हैं, पर आत्मद्रव्य अन्य द्रव्योंकी भांति परिणमता भी है और अपनी भांति जानता भी है। समयसारमें दो शब्द हैं, समय और सार। तो समयका अर्थ बताया है कि जो दोनों एक साथ काम करें। अन्य द्रव्योंकी भांति परिणममें, यह सामान्यतया दिखता है और जाने भी। अन्य द्रव्य सिर्फ परिणमते हैं, पर जानते नहीं हैं और आत्मा परिणमन भी करता है और जानता भी है। तो जो परिणमन करे सो द्रव्य हुआ और जो जाने सो आत्मा हुआ। द्रव्य तो है ही, पर जाननहार होनेसे यह आत्मा कहलाता है। तो इसका ज्ञान ही शरीर है, ज्ञान ही मुद्रा है, ज्ञानसिवाय अन्य कुछ इसकी मुद्रा नहीं है। ज्ञानविग्रहः आत्मा।

शुद्ध आत्मतत्त्वकी नित्यता—यह आत्मा नित्य है, सदा रहता है, पदार्थ तो सभी ही सदा रहते हैं। किसी पदार्थका विनाश नहीं होता। यह जीव अपने नाशको सुनकर कांप जाता है—मेरा मरण हो जायगा, मेरा नाश हो जायगा। यदि यह आत्मा अपने आपके स्वरूपमात्र ही दूसरेको माने तो इसको मरणका डर हो ही नहीं सकता। जो यह अज्ञानी देहसे लगाव रखे हैं, वैभवसे लगाव रखे हैं तो उसको मरणका भय लगा है। बहुतसा धन कमाया इस जिनंदगीमें तो उसको मरण समय कष्ट क्यों होता कि बड़े परिश्रमसे कमाया हुआ धन आज हमसे छूटा जा रहा है, इस बातका ख्याल करके वह बड़ा कष्ट मानता है। तो मरण समयमें जितना भी कष्ट है वह सब परिग्रहकी ममताका कष्ट है। यदि परिग्रहका ममत्त्व नहीं है और अपने स्वरूपपर ही दृष्टि है तो वह जान रहा है कि लो मैं इतना हूँ और पूराका पूरा यहां से अब जा रहा हूँ। जैसे कोई पुराना घर छोड़कर नये मकानमें उमंगसे जाता है, उद्घाटन कराता है, बाजे बजवाता है, समारोह करता है, आज नये घरमें प्रवेश हो रहा है तो वह दुःख नहीं मानता कि हाय मैं इस पुराने घरको छोड़कर जा रहा हूँ। तो यही हाल इस जीवका है, जिसका शरीर अत्यन्त वृद्ध हो गया, शरीरका सारा बल भी खतम हो

गया, बड़ी तकलीफ भोग रहा फिर भी वह मरणसे डर रहा है। अरे पुराने शरीरको छोड़कर नये शरीरमें पहुंचनेसे क्या डर, पर कैसा मोहका उदय है कि इस जीवको कुछ चेत नहीं है, विवेक नहीं है। यही बात जवानोंमें भी देखिये—ये जीव न जाने कितने-कितने प्रकारके विकल्प करते हैं, यह कार्य अभी नहीं हुआ, यों यों न हुआ, यह कार्य अधूरा ही रह गया, अभी मुझे इतना और करना है। यों विकल्प-विकल्पमें चल रहा है, और यदि यह सोचे कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं, बस जानते रहना जाननेके लिए, इतना ही मेरा काम है, इसके आगे कुछ काम नहीं। बाह्य पदार्थोंमें मैं कुछ कर सकता नहीं। मैं हूं और जानता चला जा रहा हूं, सो जानते चले जाननेसे कभी टोटा नहीं पड़ता। यह तो स्वरूप है, जानता ही रहेगा, फिर कौनसी हानि इस जीवमें आयी? पर यह अपने स्वरूपपर टिकता नहीं है इसलिए दुःखी होता है। इस आत्मा का सर्वस्व ज्ञान है और वह नित्य है, सदा रहने वाला है। इसका कभी विनाश नहीं होता।

स्वद्रव्यरत निकटभव्यकी निःशंका—कर्म अधिकसे अधिक दुःखके कारण बनते हैं तो २ प्रकारके दुःखके कारण बनते हैं (१) निर्धनता और मरण। वैसे तो कष्ट हैं मगर उन सब कष्टोंके राजा दो हैं (१) निर्धनता और (२) मरण। सो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव निर्धनताका बड़ा आदर करते हैं। निर्ग्रन्थ दिग्गम्बर होना, इसके मायने क्या है कि सारे धनको त्यागकर वे खुश हो रहे हैं। तो जो निर्धनतामें आनन्द मानता और मरणको मरण ही नहीं समझता। वह तो यह जानता है कि मैं आत्मा तो कभी मरता ही नहीं, सदा रहता हूं। चलो यहां न रहे, कहीं दूसरी जगह चले गए। तो जो मरणको मरण नहीं समझते, निर्धनताका आदर रखते हैं, अब उनको कर्म ओर क्या सतावेंगे? कर्म अब मेरा कुछ नहीं कर सकते। जब तक कोई डर रहा है तब ही तक बंदर उसका पीछा कर रहा, जब तक कोई लड़का गाली दे रहा है तब तक ही वह बड़े लड़केसे पिट रहा है। गाली देना बंद कर दे तो उसका पिटना बंद हो जायगा। जब तक यह जीव परद्रव्योंमें राग कर रहा है तब तक यह कर्मसे पिट रहा है। यदि परद्रव्यका राग ही न रहे तो कर्म फिर उसका क्या कर लेंगे? वहां फिर कर्मका कुछ प्रभाव नहीं रहता। तो यह आत्मा नित्य है, मरणरहित है, ऐसा जिनको विदित है उनको किसी प्रकारकी शंका नहीं रहती। स्वद्रव्य क्या है, वह बात इस गाथामें बतायी जा रही है। यह आत्मा शुद्ध है, कर्मभल कलकसे रहित है। केवल स्वरूपको देखो

चैतन्यमात्र, ज्ञानमात्र । उस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वमें किसी प्रकारका कलंक नहीं है, पर जब अपने स्वरूपसे च्युत हुए कि कलंक ही कलंक आ जाते । ज्ञानी जीव निशंक और निर्भय होता है, क्योंकि उसके सदैव यह ही प्रतीति रहती है कि सर्व परद्रव्योंसे निराला, अनन्त ज्ञानानन्दकी शक्तिसे भरपूर यह मैं आत्मतत्त्व हूं । परपदार्थोंमें अपनी पहुंच न बनाये तो उसके लिए वह कुछ परिचय नहीं है । आत्मपरिचय है तो उसके सब कुछ है । तो जिसने अपने आत्मतत्त्वका अनुभव किया, परिचय किया उसे कर्मभल कलंक कहाँ सता सकते ? कहते हैं कि नारकी जीव जो सम्यग्दृष्टि हो, वह नरकमें मर-पिट करके भी भीतरमें व्याकुल नहीं होता, उसका कारण क्या है कि उसको अपने आपकी प्रतीति है कि यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं तो यह तो सदा काल रहने वाला हूं और ये तो कर्मके खेल हैं । स्वर्गोंके जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि देव हैं वे हजारों देवियोंके बीच रहकर भी उनमें लिप्त नहीं होते, क्योंकि ज्ञानी जानता है कि ये सब परद्रव्य हैं, बाह्य पदार्थ हैं, इनसे मेरा क्या सम्बंध है ? इनको पाकर क्या लीन होना है ? तो जिन्होंने इस शुद्ध अंतस्तत्त्वको जाना है, जो कि कर्मकलंकसे रहित है, उन्होंने अपने आत्माको (स्वद्रव्यको) प्राप्त किया । जो स्वद्रव्यमें रत है, लीन है वह सम्यग्दृष्टि है और वह निर्वाणको प्राप्त होता है ।

जे क्षायंति सबब्बं परद्वयपरम्मुहा दु सुचरिता ।

ते जिणवराण मग्गं अणुलगा लहंहि णिव्वाणं ॥१६॥

परद्रव्यपराङ्मुख स्वद्रव्यध्यानीके निर्वाणका लाभ—जो पुरुष स्वद्रव्यका ध्यान करता है, परद्रव्यसे परान्मुख रहता है, सम्यक्चारित्रका निरन्तर पालन करता है वह जिनेन्द्र देवके द्वारा कहे गए मार्गमें लगा है, और ऐसा ज्ञानी पुरुष निर्वाणको प्राप्त होता है । स्वद्रव्य क्या ? आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपको स्वद्रव्य कहते हैं । नित्य अन्तः अचल, गुप्त ज्ञायक अमल यह है स्वद्रव्य जो सदा काल है और अन्तरङ्गमें अचल है, यह जीव अनादि कालसे निगोद भवमें रहा आया जिसमें ज्ञानकी न कुछ जैसी दशा है । कहने मात्रको स्पर्शनइन्द्रिय है, ऐसे भवोंमें अनन्तकाल व्यतीत किया, किन्तु यह चैतन्यस्वरूप न मिट सका, सो यह चैतन्यस्वरूप ऐसा अचल है और गुप्त हैं । गुप्त कहते हैं सुरक्षितको । गुप्तका अर्थ छिपाया गया नहीं है, यह तो लोगोंने अर्थ लगाया है, पर गुप्त शब्द जिस धातुसे बनता है उसका अर्थ संरक्षण है, गुप्संरक्षणे, गुप् धातु संरक्षण अर्थमें है, जिसका अर्थ होता है सुरक्षित । यह चीज गुप्त है मायने

सुरक्षित है। सुरक्षित प्रायः वही होता है जो छुपाकर रखा गया हो। जैसे कोई स्वर्ण का जेवर दिया कि भाई इसको सुरक्षित रखना तो वह क्या करता कि बड़ी तिजोरी में किसी ट्रंकमें किसी पोटलीमें बांधकर छुपाकर रखेगा। छुपाकर रखी हुई चीज सुरक्षित रहती है इस कारण लोगोंने गुप्तका अर्थ छुपा हुआ कह दिया, पर गुप्तका वास्तवमें अर्थ है सुरक्षित। यह आत्मा सुरक्षित है क्योंकि स्वयं सत् है, नित्य है। कभी इसका विनाश नहीं हो सकता, गुप्त है, ज्ञायक है, निरन्तर जाननहार है। सोया हुआ है कोई मनुष्य तो भी जान रहा है भीतर निरन्तर। भले ही उसकी इन्द्रियां बेहोश हैं, अनुभव नहीं हो पाता प्रकट कि कुछ जान रहा हूं लेकिन वह जान रहा है अन्दर में और तभी तो जब सोकर उठा तो कहता कि आज तो मैं खूब रातभर आनन्दसे सोया। तो रात भर वह सोनेका आनन्दानुभव करता रहा। ऊपरसे कुछ विदित नहीं हो रहा मगर भीतरमें वह आनन्द पा रहा, निरन्तर जान रहा, तो जानन निरन्तर रहा करता है। तो जो निरन्तर जाननहार है वह ज्ञानस्वभाव स्वद्रव्य कहलाता है। स्वद्रव्यकी ओर तो अभिमुख होना चाहिए और परद्रव्यसे विमुख होना चाहिए। यही सच्चा चरित्र है। विषय कषायोंसे हटा हुआ हो और समता ज्ञान प्रकाश इन ही में लग रहा हो तो उसे कहते हैं स्वद्रव्यकी ओर रह रहा है और परद्रव्यसे परान्मुख है।

स्वात्माभिमुखकी मोक्षनिकटता—गुरुजी एक घटना सुनाया करते थे कि कोई सिमरिया ग्रामके व्यापारी सामर ग्राम नमक खरीदने गए। अब सिमरिया तो है बुन्देलखण्ड (म०प्र०) में और सामर है राजस्थानमें। दोनों ग्रामोंके बीचमें करीब दो ढाई सौ मीलका अन्तर होगा। यह बात उन दिनोंकी है जबकि आवागमनके पर्याप्त साधन न थे, रेल, बस, ट्रक आदि नहीं चलते थे। प्रायः करके ऊंटोंपर बैठकर या पैदल यात्रा करनी होती थी। सो जब सामर ग्रामसे नमक खरीदकर सिमरिया ग्रामके लिए रवाना हुए, कोई एक दो मील ही चले थे, उनमेंसे एक भाई बोल उठा—अरे इस सामर ग्रामसे सिमरिया ग्राम तो बहुत दूर पड़ता है, इतनी दूर पहुंचनेमें तो माह दो माहका समय लग जायगा। तो उनमेंसे कोई दूसरा भाई बोला—अरे अब तो सामर दूर सिमरिया नीरी। ...कैसे? ऐसे कि जिधर पीठ हो गयी वह तो बहुत दूर हो गया आर जिधरको मुख हो गया वह बहुत नजदीक हो गया। तो यहां अपने लिए यह शिक्षा लें कि अपने ज्ञानानन्दस्वभावकी ओर जिसकी दृष्टि हो गई उसके लिए संसार दूर हो गया और मुक्ति निकट हो गई। तो जो परद्रव्योंसे परान्मुख हैं और स्वद्रव्यका

ध्यान करते हैं वे सम्यक्चारित्रवान हैं और जिनेन्द्र देवने जो मार्ग बताया उस मार्गमें लगे हुए हैं। जैसे जो पुरुष नदीको पार कर चुका है जिस मार्गसे चलकर वह यदि दूसरोंको मार्ग बताये कि तुम इस इस मार्गसे आवो तो इस पार आ जावोगे, तो उसकी बातपर दूसरोंको विश्वास होता है, और वे उस मार्गपर चलकर नदीके उस दूसरे पार पहुंच जाते हैं ऐसे ही अरहंतदेव, जिनेन्द्रदेव इस ससाररूपी नदीमें से रत्नत्रयके मार्गसे चलकर पार हो चुके हैं तो उनपर ज्ञानीको पूरा विश्वास है कि जो इस जिनवाणीमें शब्द कहे गए हैं वे पूर्ण सत्य हैं, और उस मार्गसे हम चलेंगे तो अरहंतदेवकी तरह हम भी पार हो जायेंगे। तो यही कहलाता है जिनेन्द्रदेवके मार्गमें लग गए। सो जो चरणानुयोगके अनुसार अपना बाह्य आचरण बनाता है और द्रव्यानुयोगके अनुसार उपयोगको लक्ष्यपर टिकाये है उसके मोक्षमार्गमें प्रगति होती है। कोई यह चाहे कि हमने द्रव्यानुयोग जाना तो लक्ष्य करते रहेंगे, आचरण कुछ न करेंगे तो वे भी पार न पायेंगे। और कोई यों सोचे कि जैसा चरणानुयोगमें बताया है उसके अनुसार क्रिया करेंगे, अपनेको जाननेकी क्या बात, तो वे भी पार न पायेंगे। बाह्यमें होती है चरणानुयोगके अनुसार प्रवृत्ति और अन्तरंगमें रहती है निज सहज स्वभावपर दृष्टि तो ऐसा पुरुष जिनमार्गमें लगा है और वह नियमसे निर्वाण प्राप्त करेगा।

जिणवरमण जोई ज्ञाणे ज्ञाएइ सुद्धमप्पाणं ।

जेण लहइ णिव्वाण ण लहइ कि तेण सुर लोयं ॥२०॥

शुद्धात्मतत्त्वके ध्यानसे सुगति—जो योगी अपने ध्यानमें जिनेन्द्रदेवके मतानुसार शुद्ध आत्माका ध्यान करते हैं वे स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं, इसमें तो आश्चर्य ही क्या, क्योंकि जिस ध्यानसे निर्वाणकी प्राप्ति हो सकती है उससे स्वर्गलोक प्राप्त होना क्या कठिन है ? शुद्ध अंतस्तत्त्वका ध्यान करते हुए यदि आयुका बंध होता है तो इस मनुष्य को देवायुका ही बंध होगा और यदि राग उसमें है विशिष्ट संहनन है जो कि आजकल सम्भव नहीं है, पर चतुर्थकालमें या चतुर्थकालमें उत्पन्न होनेसे पंचमकालमें यह संहनन ठीक था, ध्यान ठीक था, वहां निर्वाण हो जाता था, पर आज निर्वाण नहीं, किन्तु जो मनुष्य सम्यक्त्वके रहते हुए आयुका बंध करते हैं वे देवायुका ही बंध करते हैं। शुद्ध आत्माका ध्यान अर्थात् केवल आत्माका ध्यान। निर्मल पर्यायमें रहनेवाले आत्मा के ध्यानकी बात नहीं कही जा रही है। यद्यपि वह भी शुद्ध आत्मा हैं, जो वीतराग हैं, परमात्मा हैं, पर निर्मल पर्याय परिणत आत्माके ध्यानकी बात नहीं ली गई, किन्तु

अपने आपके सत्त्वके कारण जो कुछ मैं हो सकता हूं उतने मात्रका ध्यान करनेकी बात कही जा रही है। तब एक समस्या सामने आती है कि परका ध्यान करनेसे मुक्ति नहीं होती, तो पर हैं अरहंत और सिद्ध भगवान। ये निज आत्मा नहीं है, ये परम-पवित्र निर्मल पर्याय परिणत उत्कृष्ट आत्मा हैं, तो ये दूसरे आत्मा हैं कि आप ही स्वयं हैं ? ये दूसरे आत्मा हैं। तो जो पवित्र आत्मा हैं वे तो दूसरे हैं, सो दूसरेका ध्यान करनेसे मोक्ष नहीं मिलता और खुद हैं अपवित्र रागीद्वेषी, सो रागी द्वेषीका भी ध्यान करनेसे मोक्ष नहीं मिलता। तो अब उपाय क्या रहा ? जो पवित्र है वह तो है पर जीव, सो यह भी कहा है कि पर आत्माके ध्यानसे मोक्ष नहीं है, क्योंकि वहां भेद है और वह भिन्न है। उस ध्यानका विषय स्व नहीं है और खुद हैं रागीद्वेषी, कर्ममल कलंकसे पूरित। तो खुदके भी ध्यानसे याने उस अशुद्ध पर्याय वाले खुदके भी ध्यानसे मोक्ष नहीं होता, तो अब मोक्षका रास्ता क्या रहा ? तो उसका समाधान इसमें मिलेगा। यद्यपि यह मैं आत्मा अशुद्ध पर्यायमें रह रहा हूं, रागद्वेष चल रहे हैं पर पर्याय से जुदा निरखते हैं। अपना जो स्वभाव है, अपने सत्त्वके कारण आपका जो स्वरूप है वह स्वरूप कहा गया है शुद्ध आत्मा। इस निज शुद्ध आत्माका ध्यान करनेसे मोक्ष मिलता है।

परमात्मभक्तिका कारण—अच्छा तो जब अन्य आत्मावोंके ध्यानसे मोक्ष नहीं, चाहे वे भगवान ही क्यों न हों। तब फिर भगवानकी भक्ति हम क्यों करते हैं ? तो भगवानकी भक्तिका कारण यह है कि प्रभुका स्वरूप और अपना स्वरूप एक समान है द्रव्यदृष्टिसे। और प्रभुका स्वरूप जैसा है वैसा साफ स्वच्छ प्रकट हो गया है, हमारा स्वरूप साफ स्वच्छ प्रकट नहीं हुआ है तो हम उस स्पष्ट प्रकट हुए परमात्माके स्वरूप का ध्यान करते हैं तो उस समय ध्यान करते करते वह निर्मल पर्याय उनका गौण हो जाता है और स्वरूपदृष्टि मुख्य हो जाती है। तो परमात्माका ध्यान करनेसे अभी हमारी पहुंच यहां तक बनी कि निर्मल परिणति चूंकि स्वभावके अनुरूप है सो निर्मल पर्यायका ध्यान करते-करते हम पर्यायसे तो हट गए और स्वभावमें आ गए। इतनी बात होने के पश्चात् जब स्वभावदृष्टि हमारी बनी तब वहां पर जीव विषय न रहा। स्वभाव तो स्वभाव है और स्वभाव ज्ञेय बन गया, पर वहां अरहंतका ध्यान कर रहा हूं या सिद्धका ध्यान कर रहा हूं, यह विकल्प नहीं रहता। सो प्रभुका ध्यान करनेसे हम अपने स्वभावपर आ जाते हैं, इस कारण प्रभुभक्ति करना हमारा कर्तव्य है।

दूसरी बात यह है कि खुद रागद्वेषमें पग रहे हैं। रागद्वेषसे ऊबकर रागद्वेषसे निवृत्ति के उद्देश्यसे इसका ध्यान रागद्वेष रहित प्रभुपर जाता है, अपनेको निन्द्यता है और प्रभु को सराहता है। धन्य हैं ये पवित्र आत्मा जो स्वच्छ स्वभावके अनुरूप परिणम रहे हैं, सो हमें जैसा बनना है उसकी सुध, उसकी खबर जरूर ही की जाती है। इसलिए प्रभुका ध्यान है और वह परम्परया मोक्षका कारण है।

साक्षात्मोक्षका साधन सहजसिद्ध अन्तस्तत्त्वका अभेदध्यान—साक्षात् मोक्षका कारण कौन ? जो गुण पर्यायसे परे, देहकर्म आदिकसे न्यारे, नित्य अन्तरंगमें अचल सदैव सुरक्षित ज्ञानस्वरूप अविकार यह चैतन्यतत्त्व यह है शुद्ध अन्तस्तत्त्व जिसके ध्यानसे, जिसके अध्ययनसे इस प्रभुकी मुक्तिका मार्ग मिलता है। सो जिनवर मतके अनुसार जो योगी ध्यानमें इस शुद्ध आत्माको ध्याता है तो उसको जब निर्वाण मिलना ही हो जाता है तो फिर स्वर्गकी प्राप्ति क्या उसके लिए दुर्लभ है ? यहां यह बताया जा रहा है कि कहीं स्वर्ग उपादेय है और वहां पहुंचना चाहिए, जन्म लेना चाहिए। यह उमंग नहीं बतायी जा रही है, किन्तु सम्यग्दृष्ट पुरुष यदि आयु बांधता है अगले भवकी, उस भवसे मोक्ष नहीं जाता है तो वह मरकर वैमानिक देव होगा। सो यह सब आत्मध्यानका प्रभाव बताया जा रहा है। इस मनुष्यको क्या चाहिए ? खूब वैभव। तो विशिष्ट वैभवका अर्जन परिश्रमसे नहीं बनता किन्तु विशिष्ट पुण्यका उदय हो तो बनेगा। तो सम्यग्दर्शनके रहते हुए यदि रागद्वेष भाव चल रहा है तो विशिष्ट पुण्यका बंध होता है। पुण्यबंध सम्यक्त्वसे नहीं होता। हुआ रागसे मगर सम्यक्त्वके साथ रहते हुए रागसे पुण्यबंध हुआ है इतना विशेष है। जैसे किसी मिनिस्टरके साथ रहते हुए चपरासीका भी प्रभाव बढ़ जाता है ऐसे ही सम्यक्त्वके साथ रहते हुए रागका भी ऐसा प्रभाव बढ़ जाता है कि उस रागसे चक्रवर्ती तीर्थंकर आदिक विशिष्ट महापुरुषों के वैभव प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी सिद्धि वाले आत्माका परिचय और आत्माकी रुचि साधक है। लोकमें अच्छी तरहसे रहना चाहो तो आत्मध्यान चाहिए। मोक्ष जाना चाहें तो आत्मध्यान चाहिए, परमशान्ति चाहिए तो आत्मध्यान चाहिए। सर्व सिद्धियोंका मूल है आत्मध्यान।

जो जाइ ज्योणसयं दियहेणकेण लेवि गुरुभारं ।

सो कि कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाउ भुवणयले ॥२१॥

अन्तस्तत्त्वके ध्यानका सामर्थ्य—ऊपरकी गाथामें बताया था कि जो शुद्ध आत्मा

का ध्यान करता है तो जिस शुद्ध आत्माके ध्यानसे निर्वाण प्राप्त हो जाय उससे स्वर्ग की प्राप्ति हो जाय तो इसमें कौनसी कठिनाई है ? इसीका दृष्टान्तपूर्वक यहां समर्थन किया है । जैसे कोई मनुष्य बहुत बड़ा बोझ लेकर भी १०० योजन चला जाता है तो वह पुरुष बोझ आध बोध लेकर चला जाय तो इसमें कौनसी कठिनाई है ? ऐसे ही जो निकट भव्य शुद्ध आत्माके ध्यानसे निर्वाणको प्राप्त हो सकता है वह स्वर्गादिकको प्राप्त हो ले तो इसमें कौनसी कठिनाई होती है ? कितनी सुविधा है, कितनी सुगमता है कि समस्त सुखोंका मूल उपाय एक ही है, कुछ अन्य सोचना ही नहीं । वह उपाय है शुद्ध आत्माका ध्यान ।

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं ।

सो किं जिप्पइ इक्कि णरेण संगामए सुहडो ॥२२॥

अन्तस्तत्त्वके ध्यानसे सर्व विजय—इस गाथामें आत्मध्यानके प्रतापकी जो बात पूर्व गाथामें कही थी उसीको दूसरा दृष्टान्त देकर समर्थित किया है । जो सुभट करोड़ों सुभटोंसे भी नहीं पराजित हो सकता है वह एक सुभटसे कैसे पराजित हो जायगा ? कुछ ठीर कोटिभट होते हैं, जैसे श्रीपालको कोटिभट कहा है । जिसमें करोड़ों योद्धावों जितना बल होवे । करोड़ों योद्धा भी जिसे पराजित न कर सकें उसे कहते हैं कोटिभट । तो जो कोटिभट करोड़ों योद्धावोंसे भी न हार सके वह क्या किसी एक योद्धासे हार जायगा ? अर्थात् नहीं हार सकता । इसी तरह जो जिनेन्द्र मतके अनुयायी हैं वे मुनि भी परीषद्दोंके द्वारा अजेय होते हैं । तो वह सुभट मुनि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जो अनेक इन्द्रियके विषयोंसे नहीं जीता जा सकता वह क्या एकेन्द्रियके विषयसे जीता जा सकता है ? नहीं जीता जा सकता । इन्द्रियविषय करनेके लिए ऐसी अलग छांट नहीं होती कि जिसको रसनाइन्द्रियका विजय करना है तो बस खाली रसना इन्द्रियका विजय कर लिया, हो जायगा । किसी भी एक इन्द्रियका विजय करना है तो सभी इन्द्रियके विषयोंको बंद करना पड़ेगा । कोई खूब रूप देखनेका, सनीमा देखनेका शौक रखे और वह भोजनसे वैराग्य रखे यह कैसे होगा ? जब वैराग्य होता है तो सभीसे होता है । सो जो पांचों इन्द्रियके विषयोंसे नहीं जीता जा सकता वह मुनि क्या एक इन्द्रियसे जीता जा सकता है ? नहीं, वह किन्हीं भी परीषद्दोंसे हार नहीं सकता ।

सगं तवेण सव्वो वि पावए तहिं वि ज्ञाणजोएण ।

जो पावइ सो पावइ परलोए सासय सोव्व ॥२३॥

आत्मध्यानसे शाश्वतसुखका लाभ—इस गाथामें कुन्दकुन्दाचार्य देव कह रहे हैं कि तपश्चरणसे तो स्वर्गादिक मिल जाते हैं किन्तु जो ध्यानके बलसे स्वर्ग प्राप्त करता है, स्वर्गप्राप्ति तो वह कहलाती है, क्योंकि ध्यानके बलसे सद्गति पाने वाला जीव एक भव मनुष्यका पाकर मोक्ष चला जाता है। स्वर्ग मिलना कोई कठिन बात नहीं है। थोड़ासा कीड़ामकोड़ोंपर या पशु पक्षीपर दया करनेसे भी स्वर्ग मिल जाता है, किन्हीं लोगोंपर दया करके उनके संकटोको दूर करनेसे भी स्वर्ग मिल जाता है, किन्तु उस स्वर्ग मिलनेमें निर्मल शुद्ध आत्मउपासनाकी बात नहीं बसी है, इसलिये वह तो एक संसारमें रलने जैसा ही कार्य है। भला करनेसे ही स्वर्ग मिल गया, किन्तु जो आत्मतत्त्वका ध्यान करता है और उस ध्यानसे जो विशुद्धि बनती है उस विशुद्धिसे बर्तता हुआ पुरुष स्वर्ग जाता है तो यह संस्कार वहां भी रहता है और उसके प्रतापसे एक भव पाकर मोक्ष जा सकता है, जिसको उत्तम ध्यान है वह स्वर्गमें जन्म ले तो वहां देवियोंका बड़ा झुंड रहता है, उनके बीचमें रहना पड़ता है, तो जो मात्र तपश्चरणसे हो स्वर्ग गए वे वहां भी मोहित हो सकते हैं और जो आत्मध्यानके बलसे स्वर्ग गए वे वहां मोहित नहीं होते। एक बात सोचें कि जो आचार्यगण हुए हैं समंतभद्र, अकलंक देव, कुन्दकुन्दाचार्य, अमितगति, अमृत चन्द्राचार्य आदिक आध्यात्मिक पुरुष जो मुनि पहले हो गए हैं वे इस समय कहां होंगे ? यद्यपि निश्चयमें कोई नहीं कह सकता, पर अनुमान यही है कि वे इस समय स्वर्गमें होंगे, और स्वर्गमें क्या कर रहे होंगे ? अनेक देवियोंके बीच बैठे होंगे, कोई देवी नृत्य, वादित्य, संगीत, हावभाव आदि भी उनके सामने प्रस्तुत करती होंगी, ऐसी सभायें भी होती होंगी, और वह उनके बीच बैठकर कुछ अपना सिर भी मटका लेते होंगे, जो आचार्य इतने विरक्त थे कि जिन्हें मुनिश्रेष्ठ कहा गया, वे इस समय स्वर्गमें होंगे तो उन देवियोंके बीच उस शौक साजका समर्थन भी कर रहे होंगे फिर भी आत्मध्यानके प्रतापसे वे स्वर्ग गए तो वहां भी आत्माकी सुध रख रहे होंगे। वे वहां विभ्रान्त न हो रहे होंगे। तो जो आत्माके भान पूर्वक मरकर स्वर्ग जायगा तो वहां भी आत्माका भान रहेगा और जो मात्र तपश्चरणसे या थोड़ी दयासे स्वर्ग गए और अंतस्तत्त्वके ध्यानकी बात नहीं है तो उनका जीवन ऐसा ही है जैसे कि अनेक भव पाये। तो यहां आत्मध्यानकी महिमा बतायी जा रही है। आत्मध्यानका ऐसा प्रताप है कि स्वर्ग सुख भोगेगा और निकटकालमें मनुष्यपर्याय पाकर मुनिव्रत धारणकर मोक्ष पायगा। कोईसा भी संकट हम आपपर कभी आये तो

उस संकटको मिटानेका उपाय क्या है सो तो बताओ। वैभवका संचय करना उपाय नहीं है। परपदार्थोंमें रागद्वेषमोहादि करना उपाय नहीं है, किन्तु आत्माके यथार्थ-स्वरूपका ध्यान होना उपाय है। इसके सिवाय कोई अन्य उपाय नहीं और मानो जचता हो कोई उपाय तो वह केवल थोड़े समयको संकट शमन करनेका उपाय है। कोई-कोई तो ज्ञान ध्यान तपमें लीन आध्यात्मिक संत इस कलिकालमें भी सर्वार्थसिद्धि के देवोंकी भांति लौकान्तिक देव होकर एकाभवतारी हो जाते हैं।

आत्मध्यानके प्रतापसे सकलसंकटोंका त्वरित हटाव—एक उदाहरण लो—यमुना नदी में बड़े-बड़े कछुवे रहते हैं, मानलो कोई कछुवा जो कि पानीके अन्दर तैर रहा था उसके मनमें आया कि मैं पानीसे ऊपर अपना मुख निकालकर तैरूं और कुछ विशेष आराम करूं। तो उस कछुवेने पानीसे ऊपर-ऊपर अपनी चोंच करके तैरना शुरू किया। इतनेमें हुआ क्या कि कुछ पक्षी पूरब दिशाकी ओर से उड़कर आये और उसकी चोंच चोटने लगे तो वह बेचारा कछुवा घबड़ाकर पश्चिम दिशाकी ओर भागा। फिर कुछ पक्षी पश्चिम दिशासे भी आये उसकी चोंच चोटनेके लिए तो वह उत्तर दिशाकी ओर भागा। थोड़ी ही देरमें चारों ओर से अनेकों पक्षी आ आकर उसकी चोंचको चोटने लगे। वह बेचारा कछुवा अब इधर उधर चारों ओर भागता फिर रहा था और अपने को बड़ा दुःखी असहाय अनुभव कर रहा था। अब बताओ उसका यह दुःख कैसे दूर हो ? तो उसे कोई समझा दे कि रे कछुवे तू व्यर्थमें क्यों दुःखी होता फिर रहा ? अरे तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला है कि यदि उसका उपयोग करे तो एक ही क्या सैंकड़ों दुःख तेरे एक साथ टल सकते हैं। ...क्या है वह कला ? ...अरे कोई ४-६ अंगुल पानी में अपनी चोंच डुबाले फिर ये सारे पक्षी तेरा क्या बिगाड़ कर सकेंगे ? ठीक है, उसकी समझमें आ गया वह उपाय सो वह पानीमें कोई ४-६ अंगुल पानीके अन्दर अपनी चोंच डुबा लेता है, सो सारे संकट उसके एक साथ टल जाते हैं। उन पक्षियोंका फिर उसपर कोई वश नहीं चलता, तो ऐसे ही हम आप यह समझें कि हम आप क्यों निरन्तर दुःखी रहा करते हैं ? सो उसका कारण यह है कि हम आप अपने उपयोग रूपी चोंचको बाहर निकालकर चारों ओर भगते फिरते हैं याने यह उपयोग बाहर-बाहर दौड़ रहा है जिसके फलमें सैंकड़ों प्रकारके कष्ट आते रहते हैं। कष्ट आते रहते हैं। कहीं बाहरमें थोड़ा भी आराममें कमी आये तो यह खेद मानता है, पर इस पर भी संकट आते रहते हैं, अपनी इज्जत प्रतिष्ठामें कमी आये तो उसका भी संकट

मानता है। मानलो धन वैभवमें कुछ कमी आयी तो उसका भी बड़ा कष्ट मानते हैं। फिर चोर, राजा, अग्नि आदिक अनेक प्रकारके उपद्रवोंका बड़ा संकट मानते हैं। तो रोज-रोज संकट आते हैं और उन संकटोंका उपाय भी बनाते हैं, और बनते हैं। मगर वे सब शमन रूप हैं, पर तेरेमें एक ऐसी कला है कि जिसका प्रयोग करे तो एक दो ही नहीं, सारे संकट एक साथ समाप्त हो जायेंगे। वह क्या कला है कि तू है ज्ञान-स्वरूप, ज्ञानसरोवरमें तू बस रहा है तो तू अपनी इस उपयोगकी चोंचको अपने ही ज्ञानसरोवरमें मग्न करदे तो सारे संकट एक साथ तेरेसे दूर हो जायेंगे और उस समय जो सहज आनन्दस्वभावका अनुभव करेगा उसके प्रतापसे पूर्वबद्ध कर्म भी क्षीण हो जायेंगे। अतः एक ही उपाय करें कि आत्माका जो यथार्थ स्वरूप है उसके ध्यानमें रहें, फिर जैसे भी कल्याण होना होगा सो होगा और निर्वाण भी प्राप्त कर लेंगे।

अइसोहणजोएणं शुद्ध हेमं हवेइ जह तह य।

कालाईलड्डीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥

आत्मशोधनका उपाय—आत्मा परमात्मा कैसे होता है इसका वर्णन इस गाथा में किया है। इसके लिए एक उदाहरण लिया है कि जैसे अत्यन्त शुभ सामग्रीसे, शोधन सामग्रीसे सुहागा आदिक वस्तुओंसे स्वर्ण शुद्ध किया जाता है इसीप्रकार काल आदिक लब्धियोंसे आत्मापरमात्मा होता है। अशुद्ध स्वर्णको शुद्ध करनेकी कोई तरकीब है, उस उपाय बिना वह शुद्ध नहीं हो पाता, ऐसे ही इस अशुद्ध आत्माकी शुद्धपरणति करनेकी तरकीब है तो वह क्या है कि योग्य द्रव्य मिले, योग्य क्षेत्र हो, योग्य काल हो और योग्य भाव हो तो उसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। जैसे अन्य भवोंसे मुक्ति नहीं मिलती। तो मनुष्यभवका लाभ। अन्य क्षेत्रोंसे मुक्ति नहीं मिलती, ढाई द्वीपके अन्दरसे मुक्ति होती है सो भी कर्मभूमियांमें उत्पन्न हुए की मुक्ति होती है, भोगभूमिमें उत्पन्न हुए की मुक्ति नहीं है। योग्य काल हो, संहनन हो, चतुर्थकाल या विदेह क्षेत्रका समय हो, योग्य भाव हो। आत्माके अविकार स्वरूपपर दृष्टि हो तो मुक्ति मिलती है, बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि लगी रहे उससे तो संसार ही बढ़ता है। तो योग्य सामग्री मिलने पर यह आत्मा परमात्मा हो जाता है, अब अपनेको क्या करना चाहिए? पहले तो यह निर्णय बनायें कि मुझे संसारमें नहीं जमना है, संसारसे मुक्त होना है, नेमिनाथ भगवान के समयकी एक घटना है। जब श्रीकृष्ण बलदेव, प्रद्युम्न आदिक सभी समवशरणमें गए थे। नेमिनाथका धर्मोपदेश चल रहा था, वहां प्रसंगवश किसीके पछनेपर यह बात

आयी कि यह द्वारिकापुरी १२ वर्षमें भस्म हो जायगी और यह द्वीपायनमुनिके कारण भस्म होगी, तो उस समय कोई श्रावक व्रतमें लगा, कोई मुनिधर्ममें लगा । संसारकी असारता जाना तो भरी सभामें जबकि श्रीकृष्णका दरबार लगा हुआ था वहां प्रद्युम्न खड़े होकर बोला कि भगवानकी वाणीमें जो आया सो सबने सुना । अब जिसका जो कर्तव्य हो सो करो, मैं तो विरक्त होता हूं, और अब मैं यहां से छूटकर जाऊंगा । तो बहुतसे लोगोंने कहा कि तुम अभी बच्चे हो, तुम्हारे तो अभी पिता बैठे हैं और पिता के भी पिता बैठे हैं तुम छोटी उम्रके छोकरे होकर क्यों सबको छोड़कर वनमें तपश्चरण करनेकी बात कहते हो ? तो प्रद्युम्न उस समय कहता है कि जिसको संसारका खम्भा बनकर रहना हो वह रहे चाहे बाप हो चाहे बाबा, पर मुझे संसारका खम्भा बनकर नहीं रहना है । यह कहकर प्रद्युम्न चल दिया । अब चल तो दिया पर ख्याल आया कि चलते-चलते स्त्रीसे तो बता दें कि हम विरक्त हो गए, सो वह स्त्रीके पास पहुंचा और बोला कि अब हम विरक्त हो गए, अब हम अपना आत्मकल्याण करेंगे, तुमको भी यही काम कर लेना चाहिए । तो वहां वह स्त्री बोली—अरे अभी तुम विरक्त कहाँ हुए । अगर विरक्त होते तो हमारे पास बताने आनेकी क्या जरूरत थी ? संसारमें बहुत सी स्त्रियां हैं, अन्य किसीसे कह देते, खैर तुम चाहे जब विरक्त होना, पर मैं तो यह चली । लो वह तो विरक्त होकर निकल पड़ी । तो देखिये जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव-योग्य मिलते हैं तब वहां मोक्षमार्ग चलता है ।

अपने प्राप्त सुयोगका सदुपयोग करनेका अनुरोध—अब आप हम सब लोग अपनी-अपनी स्थितिपर विचार करें, आप सबने श्रेष्ठ मन पाया है, करीब-करीब द्रव्य सबको योग्य मिला है, उच्च कुलमें उत्पन्न हुए, जिनवाणीके शब्द सुननेको मिलते हैं, आजीविका चलानेके लिए सबके पास पर्याप्त साधन भी हैं । सब बातें अच्छी मिली हैं । क्षेत्र भी भरत क्षेत्र मिला है । भरत क्षेत्रका यह आर्यखण्ड है इसमें अभी धर्मकी परम्परा इस पंचम कालके अन्त तक चलेगी । हां इस कालमें मोक्ष नहीं है संहनन योग्य न होनेसे, सो उस प्रकारका ध्यान नहीं बन पाता कि जिससे मोक्ष मिले, मगर मोक्षमार्ग तो मिल रहा है । मोक्ष कुछ भव बाद मिल जायेगा पर मोक्षमार्ग अब भी इस पंचम कालमें चल रहा है, क्षेत्र भी ठीक है, काल भी ठीक है, भाव भी यह सब अपनी-अपनी बात है, अपनेमें जानें । अपनेको अकेला समझें, जो कुछ भी मैं कर रहा हूं उसका मैं ही अकेला जिम्मेदार हूं । दूसरा कोई जिम्मेदार नहीं हो सकता । वस्तुका

स्वरूप ही ऐसा है कि एक जीवमें किए गए कृत्योंका जिम्मेदार कोई दूसरा जीव नहीं हो सकता। तो जरा अपने आपपर भी कुछ दया आनी चाहिए। परिवार धन वैभव इज्जत प्रतिष्ठा आदिक जो जो हो रहे हैं वे सब पुण्योदयसे हो रहे। पुण्यके उदयमें ये सब समागम मिले हैं और इन समागमोंमें मस्त होनेसे पापका बंध होता है। और जो पापका बंध होगा तो वह जब फल देगा दुःखी होना पड़ेगा। इनमें ज्ञाता दृष्टा रहना यह जिनेन्द्र देवका उपदेश है। हम सबके जाननहार रहें। मेरा एक परमाणुमात्र भी नहीं है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखें। तो इस समय मौका मिला है त्रस पर्याय है। इस त्रस पर्यायको असंख्याते कोड़ाकोड़ी सागरों बाद केवल दो हजार सागर मिलते हैं, दोइन्द्रिय तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, ऐसा मौका अधिकसे अधिक दो हजार सागरका मिलता। मगर यह मनुष्य पर्याय यों ही खो दी और त्रसपर्याय यदि अंत होनेको है तो फल है कि एकेन्द्रिय ही होना पड़ेगा, और एकेन्द्रि आदिक हो गए फिर क्या करेंगे? जो पेड़ खड़े हैं वे भी तो हमारी ही तरह जीव हैं, यदि ये ही बन गए तब फिर अपना कल्याण कैसे कर सकते हैं? या जब एकेन्द्रिय जीव थे तब क्या कर सकते थे? आज अपनेको बहुत उपाय मिले हैं। हम अच्छी भावनायें बना सकते हैं। अनेक लोग तो बिना प्रयोजन ही खोटी भावनायें बनाते रहते हैं उससे पता नहीं उन्हें क्या लाभ होता? जैसे अमुक मिट जाय, बरबाद हो जाय, अमुक मेरा दुश्मन। अरे इस जगतमें कोई किसीका दुश्मन हो ही नहीं सकता। यदि आप कहें कि दिख तो रहा है कि कोई किसीसे दुश्मनी बाँधे फिरता है, कोई किसीको मारनेको तैयार है, कोई किसीको बरबाद करनेको तैयार है। ...हां ठीक है, हैं तैयार मगर उस दुश्मनीके कारण ऐसा करनेको तैयार नहीं हैं किन्तु उन्हें ऐसी समझ है कि मुझे ऐसा करनेसे सुख शान्ति मिलेगी। सो सुख शान्ति पानेके उद्देश्यसे वैसा करता है न कि किसीकी दुश्मनीसे। वह चेष्टा करता है अपनी सुख शान्ति पानेकी, मगर वह विरोध जंचने लगता है। मान लो कोई आपको गाली दे रहा तो वह कहीं आपको दुःखी करनेके लिए गाली नहीं दे रहा, किन्तु अपने सुख शान्तिके लिए इस प्रकारका उद्यम कर रहा। वैसा लगता है बाहरमें ऐसा ही पर भीतरमें कारण यह ही है। तो जगतमें सब जीव एक स्वरूप हैं। जैसे मेरा चैतन्यस्वरूप वैसा सबका स्वरूप, पर कर्मका उदय होनेसे उसमें अन्तर पड़ गया है। सब जीवोंको एक समान निरखें और अपनेसे उनको भिन्न निरखें। मेरा कोई नहीं, और सब मेरे स्वरूपके समान हैं, तो सद्भावना जगेगी। तो ऐसे

मनुष्यभवको पाकर यदि हमने सद्भावना न की, दुर्भावना की तो इसका फल है कि नारकादिक खोटी गतियोंमें जन्म लेना पड़ेगा। यहां कुन्दकुन्दाचार्य समझा रहे हैं कि योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मिले हैं तो अपने आपको मोक्षमार्गमें लगाना चाहिए।

वरव्यतवेहि सगो मा दुख होउ गिरइ इयरेहि।

छावातबटिठयाण पडिवालताण गुरुभेय ॥२॥

अशुभभावसे हटनेकी नितान्त आवश्यकता—जीव भावमात्र, ज्ञानमात्र है, यह अपने ज्ञानपरिणामको कर पाता है, जगतमें अन्य कुछ नहीं करता। तो इसका जो ज्ञानपरिणामन चल रहा सो कर्मोंके उदय, क्षय, क्षयोपशम आदिकके अनुसार इसके ३ तरहके परिणाम चलते हैं—(१) अशुभ (२) शुभ और (३) शुद्ध। अशुभ परिणाम तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशिल, परिग्रह ये ५ परिणाम हैं, पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें रमना ये पापके परिणाम हैं। और पुण्य परिणाम क्या हैं? दया, दान, त्याग, शील, उपवास, भक्ति, पूजा, वंदन, ध्यान आदिक, ये सब शुभ परिणाम हैं। और शुद्ध परिणाम क्या कि न पुण्यके भाव जगें न पापके भाव जगें किन्तु ज्ञातादृष्टा मात्र रहे, ऐसी ज्ञानकी जो स्वच्छ परिणति है वह शुद्ध परिणामन हैं। और तीन तरहके परिणामनोंके तीन प्रकार के फल हैं। अशुभ परिणाम करनेका फल है नरकमें उत्पन्न होना, खोटे तिर्यञ्चोंमें, पशुपक्षियोंमें उत्पन्न होना यह पाप परिणामका फल है। स्वर्गमें अच्छे देव होना, या बड़े-बड़े राजा महाराजा सेठ आदिक कुलीन होना ये सब पुण्यके फल हैं। और शुद्ध-भावका फल क्या है? मोक्षमार्ग। और मोक्ष पाना। अब इन तीन फलोंमें विचार करें तो नरक तिर्यञ्च, ये तो अच्छे फल नहीं हैं। कोई नहीं चाहता कि हम नारकी जीव बनें या पशु पक्षी कीटपतंगा, पेड़पौधा आदि बनें। ये तो बहुत ही अशुभ परिणामके फल हैं। पुण्यका फल है देव होना, उत्तम मनुष्य होना। सो ये नारकादिक की अपेक्षा तो अच्छे हैं मगर इतना हो जानेसे कल्याण नहीं हो जाता। क्योंकि हो गए बड़े संसार में और आगे धर्म न चला। धर्म प्रवृत्ति न हुई तो फिर लौटकर ऐसी ही दुर्गति मिलेगी। उसमें फायदा क्या है? और शुद्ध परिणामका फल है मोक्ष। वही एक सर्वोत्तम उपादेय है, फिर भी यह बात तो बतलावो कि मोक्ष नहीं मिला तो उससे पहले दुर्गति अच्छी या सद्गति? सद्गति अच्छी है। तो इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि व्रत तप आदिक करके जो स्वर्गका लाभ होता है वह तो श्रेष्ठ है, पर पाप परिणामके फलमें जो नारकादिक गतियोंके दुःख होते हैं वे श्रेष्ठ नहीं हैं। जैसे कोई दो पुरुष हैं।

उन्होंने किसी बड़े पुरुषसे मिलनेका वायदा किया कि हम भी आपके साथ चलेंगे । अब वे दोनों पुरुष उस बड़े आदमीकी प्रतीक्षा कर रहे थे । एक तो पेड़की छायामें बैठा हुआ प्रतीक्षा कर रहा था और एक धूपमें खड़े होकर प्रतीक्षा कर रहा था, अब देखो प्रतीक्षा तो दोनों कर रहे थे पर दोनोंमें ठीक कौन माना जायगा सो तो बताओ ? अरे ठीक वह माना जायगा जो कि पेड़की छायामें बैठकर प्रतीक्षा कर रहा था, तो ऐसे ही समझो कि पाप और पुण्य यद्यपि दोनों ही संसारमें हैं और इनको चाहिए यह कि वे मोक्षकी प्रतीक्षा करें और करते भी होंगे । तो एक तो पापके फलमें दुर्गतिमें दुःख सहता हुआ रहे और एक पुण्यके फलमें देव आदिक होकर रहे तो इसमें धर्मकी ओर मानो दोनों ही चलना चाहें तो वह देव होना भी भला है । वे देव अरहंत भगवानके दर्शन कर सकते हैं, अनेक प्रकारके कल्याणक समारोह मनाते हैं, मुनियोंके उपदेश भी सुन सकते हैं । तो जैसे उन दोनों प्रकारके पुरुषोंमें छायामें बैठा हुआ पुरुष ठीक है ऐसे ही पुण्यके फलको पाने वाले देव उत्तम मनुष्य ये ठीक हैं । पर ये इसमें ही न रम जायें, पाये हुए इन बाह्य समागमोंमें ही मस्त न हो जायें, “पुण्य पाप फल माहि हरषि बिलखो मत भाई ।” पुण्यका फल पाकर मस्त न हो और पापका फल पाकर विषाद मत हो । ये सब तो पुद्गलकी पर्यायें हैं, उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं । इस कारण यहां न रमकर उन सर्वद्रव्योंसे मुक्त होवें, यह भावना रहना चाहिए, और यह जो कोई भावना करता है, जो मुक्त होना चाहता है वह क्या करता है, यह बात अगली गाथामें कहते हैं ।

जो इच्छइ निस्सरिदु संसारमहणवस्तु रबस्य ।

कम्मिंघणाण उहणं सो ज्ञायइ अप्पय सुद्धं ॥२६॥

संसारमहार्णवसे निकलनेका उपाय शुद्धात्मतत्त्वका ध्यान—जो महापुरुष इस संसाररूपी महा समुद्रसे पार होना चाहते हैं, कर्मईधनकी अग्निको बुझाना चाहते हैं तो वे शुद्ध आत्माका ध्यान करते हैं । शुद्ध आत्माका तथ्य जानना बहुत आवश्यक है धर्मका पालन करने वालों को । इस तथ्यको यदि न जान सके तो वास्तवमें धर्म न बनेगा । और जो अपने शुद्ध आत्मस्वरूपके तथ्यको जान सके वे धर्ममार्गमें बढ़ते चले जायेंगे, इस कारण सर्व प्रयत्न करके तन, मन, धन, वचन, प्राण सर्वस्व समर्पण करके भी यदि शुद्ध आत्माके तथ्यको जान लिया तो आपने सब पा लिया । वह शुद्ध आत्मतथ्य क्या है ? एक दृष्टान्त लो जैसे किसी बर्तनमें मान लो ८-१० तरहके अनाजके दाने रखे हैं—गेहूं, चना, ज्वार,

मक्का, सांवा, कोदो आदिक । मगर यह तो बतलावो कि प्रत्येक अनाजका दाना अपने अपने दानेमें ही है या किसी दूसरे दानेमें घुस गया ? अपने ही दानेमें है । तो शुद्धका अर्थ यह जानें कि अपनी सत्ता अपनेमें रहे, अपनी सत्ता परमें न जाय, परकी सत्ता मुझमें न आ जाय, ऐसा शुद्ध, अपने-अपने सत्त्वमें रहनेको शुद्ध कहा करते हैं । जिसे कहो एकत्व विभक्त । समयसारमें यह शब्द, दिया है याने परसे निराला और अपने स्वरूपमें तन्मय ऐसे अपने आत्माको देखें तो कहलायगा कि यह शुद्ध आत्माका ध्यान कर रहा है ।

पर्यायशुद्धि और द्रव्यशुद्धिका विश्लेषण—परमात्मा तो पर्यायसे शुद्ध है । यहां पर्यायशुद्धिकी बात नहीं कह रहे, वह तो एक उत्कृष्ट पद है, जहां हमको पहुंचना है । वह परमात्मपद अरहंत सिद्ध हैं मगर उस पद तक पहुंचनेका उपाय क्या है वास्तविक कि अपने आपको समस्त परसे निराला, विकारसे निराला केवल अपनी सत्तामात्र जो अपनेमें स्वभाव है, उस स्वभावमात्र अपनेको निरखनेका नाम है शुद्ध आत्माका ध्यान करना । जैसे शुद्ध दूध । शुद्ध दूध क्या कहलाता कि कोई चीज उस दूधमें से मिली न हो और दूधमें रहने वाले तत्त्व दूधमें पूरेके पूरे हों, उसे कहते हैं शुद्ध दूध । यहां व्रती त्यागीजनोंके खाने-पीनेमें काम आने योग्य शुद्ध दूधकी बात नहीं कह रहे । उसमें तो अठपहरा पानी मिला दिया जाय फिर भी शुद्ध कहलायगा । ऐसे शुद्धकी बात नहीं कह रहे किन्तु दूध स्वयं द्रव्यमें कैसा शुद्ध होता है, जैसा शुद्ध होवे उस द्रव्यशुद्धिकी बात कह रहे हैं, याने दूधमें एक बूंद भी कोई चीज न तो डाली गई हो और न निकाली गई हो, दूध मात्र दूध रहे वह कहलाता है शुद्ध दूध । उसमें मानलो एक भी बूंद पानी डाल दिया या उसमेंसे क्रीम निकाल लिया गया तो अब वह शुद्ध दूध न रहा । तो यहां द्रव्यदृष्टिसे शुद्धिकी बात बोल रहे हैं कि उस दूधमें कोई अन्य चीज मिलाना नहीं और उससेमें कोई चीज निकालना नहीं उसे कहते हैं शुद्ध । तो अपने आत्माको जो इस तरहसे निरखना है कि यह मैं आत्मा देहसे अत्यन्त जुदा हूं । सत्ताको निरख रहा है ज्ञानी । कर्मसे अत्यन्त जुदा और कर्मका सम्बंध होनेसे जो रागद्वेषका प्रतिफलन हो रहा है उससे भी अत्यन्त जुदा केवल चैतन्यस्वभावमात्र यह मैं आत्मा हूं । इस तथ्य तक जो आया वह महाभाग धन्य है, पवित्र है, पूज्य है, उसने संसारके सारे संकट समाप्त कर लिये, नियमसे वह मुक्ति पायगा ।

अपनेपर विवेकपूर्ण प्रयोगका अनुरोध—भैया, तृष्णा करना है तो इस स्वभावकी

आराधनाकी तृष्णा करना है। बाह्य पदार्थोंकी तृष्णामें संकट ही संकट है। मानलो आपमें मायाचारी करनेकी आदत पड़ी है तो तन मन वचनसे चूँकि ऐसी गृहस्थीके परिस्थितिमें रहते हैं सो राग प्रीतिका व्यवहार करें और अंतरंगमें अविकार ज्ञान-स्वभावकी आराधनामें मस्त रहें। यह माया बुरी नहीं है। यह तो सम्यग्दृष्टिकी सही लीलाकी बात कह रहे। यदि घमंड ही करना है, एक गौरव अपनेमें अनुभव करना है तो आत्माका जो सहज सामर्थ्य है, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति, उसको निरख करके अपनेमें तृप्त होइये। क्रोध करनेकी आदत पड़ी है तो क्रोध करिये अपने दोषोंपर, दूसरे जीवोंपर नहीं। ये विषयके भाव क्यों जगते हैं? यह संसारमें अपना नाम फ़ैलानेका भाव क्यों जगता है? यह सब कूड़ा करकट है, बेकार बात है। ये दोष क्यों जग रहे हैं, ऐसे दोषोंपर गुस्सा कीजिए और जैसे गुस्सा करके दूसरोंकी झोंपड़ी उखाड़ देते हैं लोग ऐसे ही अपने दोषों पर गुस्सा करके दोषों के आश्रयभूत इन परिग्रहोंको उखाड़ फेंकिये। अपने आपको समस्त परपदार्थोंसे निराला अपने ही स्वरूपमें तन्मय चैतन्यमात्र अपनेको देख लें तो यह अपने ऊपर वास्तविक दया होगी और विषयोंमें रमना, विषयोंमें लगना, इस संसारको अपना वैभव समझना यह सब अपना घात किया जा रहा है। तो देखो जो एक मनुष्यका घात करता है उसको यहां लोकमें प्राणदण्ड दिया जाता है, किन्तु जो अपने भगवान् आत्मा-पर प्रहार कर रहा है, अपने चैतन्यस्वभावका घात कर रहा है, स्वरूप विकासकी दृष्टि ही नहीं है, दोषोंसे भरा जा रहा है तो उसके लिए निगोदमें उत्पन्न होना, नरक में उत्पन्न होना यह ही दंड मिलता है। इस कारण अपने भगवान् ज्ञानघन आत्मापर, परमात्मापर विषयकषायोंका आक्रमण न करें तो संसारके संकटोंसे हम सदाके लिए छूट सकेंगे। सो बतलाया जा रहा कि जो संसारसे छूटनेकी इच्छा करता है वह इस शुद्ध आत्माका ध्यान करता है।

सन्वे कसायमोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं।

लोयववहारविरदो अप्पा ज्ञाएइ ज्ञाणत्थो ॥२७॥

क्रोधका त्याग होनेपर आत्मध्यानकी पात्रता—समस्त कषायोंको त्यागकर, रागद्वेष और मोहको छोड़कर लोक व्यवहारसे विरक्त होते हुए ध्यानस्थ मुनि शुद्ध आत्माका ध्यान करते हैं। जहां कषायें हैं वहां शुद्ध आत्माका ध्यान कैसे हो सकता? जीवके बैरी कषाय हैं क्रोध, मान, माया, लोभ। कषायोंकी उग्रता मिथ्यात्वमें होती है। जहां

स्वपरका यथार्थ भान नहीं और अपने देहको मानना कि यह मैं हूं, दूसरे देहको मानना कि यह दूसरा है, देहमें ही आत्माकी बुद्धि है उनके पद-पद पर क्रोध आता है। लोग कहते कि अमुकको बहुत क्रोध करनेकी आदत है, जरा-जरा सी बातमें क्रोध आ जाता है। सो बात यह है कि कुछ पुण्यका योग होता है, अच्छी प्रकार रह रहे हैं, कोई तरहकी असुविधा नहीं है, कोई दुःख नहीं आ पड़े हैं तो ऐसे मौजमें रहने वाले अज्ञानी जीव बाहरमें अनुकूलता चाहते हैं, सब लोग मेरे माफिक चलें। सब मुझको बड़ा मानें ऐसी कल्पना बन जाती है ठलुवा होनेसे। और ऐसा होता है नहीं, क्योंकि सब जीव बिल्कुल स्वतंत्र है। उनका जैसा परिणाम है सो करेंगे। यह चाहता है कि सब मेरे अनुकूल हों, तो क्रोध आयगा ही, क्रोध प्रायः बचपनमें अधिक रहता। कुछ और बड़े तक भी रहता, तो जब तक कोई कष्ट नहीं आता, संकटोंसे जब तक नहीं टकराता तब तक यह जीव मदमें रहता है, और बाह्य पदार्थोंको अपने अनुकूल चाहता है यह ही कारण है कि इसको क्रोध आया करता है। यह क्रोध बैरी है। रहे सहे गुणोंको भी यह क्रोध जला देता है। कोई पुरुष कितना ही उपकारी हो और एक बार क्रोध आ जाय तो किया हुआ उपकार भी सब फुक जाता है। यह क्रोध खुदका अनर्थ करने वाला है, क्रोध बैरीके रहते हुए आत्माका ध्यान नहीं बन पाता।

मान मायाका त्याग होनेपर आत्मध्यानकी पात्रता—दूसरी कषाय है घमंड, मान हो जाना, मान होता है मिथ्याभावमें। जिसने देहको माना कि यह मैं हूं उसको इस देह के प्रति बड़ी प्रीति होती है और इस मूर्तिमान देहको ऐसा मनवाना चाहता है कि लोग इस मुझको बड़ा मानें। जहां मान बसा हुआ है वहां नम्रता नहीं है। जहां नम्रता नहीं है वहां आत्मध्यानकी पात्रता न होगी। आत्मध्यानके मायने उपयोगका आत्माकी ओर झुकना। जिसने झुकना सीखा ही नहीं कहीं अर्थात् जो अभिमानमें चूर रहता हो वह अपनी ओर क्या झुकेगा, जो बाहरमें मान रखा है वह अपने प्रभुके दर्शन से वंचित रहता है। अभिमानी पुरुष आत्माका ध्यान नहीं कर सकता। छली कपटी पुरुषकी तो बड़ी दुर्गति है। वह धर्मसे कोसों दूर है। दृष्टान्त दिया है कि जैसे माला के किसी दानेमें टेढ़ा छेद हो तो उस दानेमें सूतका प्रवेश नहीं हो पाता, उस दानेको अलग ही करना पड़ता है। तो टेढ़ा मायने कपट, ऐसे ही जिस जीवमें कपट भाव हो उसमें धर्मरूपी सूतका प्रवेश नहीं होता। कपटी हृदय बहुत बेकार हृदय है जिसमें ज्ञान विवेक ये कुछ भी नहीं ठहर सकते। सब कषायोंमें छल कपट वाली कषायको

शल्य बताया है । इस कपटके रहते हुए धर्ममें प्रवेश नहीं है । कपटीको ही तो दोगला और चौगला कहा करते हैं, क्योंकि कपटका रूप यों व्यक्त होता है कि मनसे और, वचनसे और, करेंगे कुछ और । तो जब वचन कुछ बोलेगा किसीसे कुछ, किसीसे कुछ तो वह दोगला और चौगला हो जाता है । अब दोगला और चौगलामें बताओ कौन खराब है ? तो यह तो समय समयकी बात है, कहीं चौगला खराब तो कहीं दोगला । दोगलाके तो दो गले हैं । जिसके दो गले हों सो दोगला । कहीं गले दो नहीं हो जाते किन्तु किसीसे कुछ बात कहा किसीसे कुछ ऐसा दो को जो भिड़ाये उसका नाम है दोगला, और चौगलाके क्या चार गले होते हैं ? अरे चार गले नहीं होते मगर किसी एक बातको जो चार जगह भिड़ाये, एकसे कुछ कहा, दूसरेसे कुछ, तीसरेसे कुछ और चौथेसे कुछ । तो इस छल कपटमें ऐसा व्यवहार बनता है । छली पुरुष धर्मका पात्र नहीं है ।

तृष्णाका त्याग होनेपर आत्मध्यानकी पात्रता—चौथी कषाय है तृष्णा । लोभ जगता । धन जोड़ते जायेंगे, उसमें कुछ उपकार करनेका, खर्च करनेका या त्याग करने का भाव नहीं बनता । ऐसी वृत्ति तृष्णावी पुरुषकी होती है । और किसीको तृष्णा नहीं है इसकी पहिचान यह है कि यह पाये हुए धनका दान करता है, त्याग करता है, परोपकारमें लगाता है । जिसके तृष्णा है, लोभ है, कंजूस है वह धनका खर्च नहीं कर सकता, त्याग नहीं कर सकता । मगर एक कविने ऐसे कंजूस पुरुषकी दिल्लगी की है । बताया है कि कंजूस व्यक्ति दुनियामें सबसे बड़ा दानी है । उसके बराबर दानी न कभी कोई हुआ और न हो सकेगा । कैसे कि कृपण (कंजूस) पुरुष जीते जी अपने संचित धनमें से न तो खुदके लिए खर्च कर सकता न दूसरोके लिए, किन्तु मरनेपर साराका सारा धन दूसरोके लिए छोड़ जाता है । देखिये यह कंजूस पुरुषकी निन्दा की गई है न कि प्रशंसा । तो जिसके हृदयमें तृष्णाका भाव है उसके हृदयमें धर्म नहीं जगता । धर्म वास्तवमें क्या है उसकी बात कही जा रही है । मंदिरमें आये या कुछ समय दे दिया या बड़े-बड़े विधि विधान कर लिए इतनेसे कहीं धर्म नहीं हो गया । जिसके कषाय मंद हों और बाह्य वस्तुओंमें मोह न हो उसको धर्म होता है, और उस धर्मकी बढ़वारीके लिए उस धर्मकी उमंग पैदा करनेके लिए मंदिरमें आते हैं । तो जिसके तृष्णा कषाय है उसके भी ध्यान नहीं बनता है ।

गारवोंका त्याग होनेपर आत्मध्यानकी पात्रता—गारव यह भी एक अभिमानका

रूप है किन्तु यह साधुजनोंके प्रायः हो जाया करता है जो ध्यानकी योग्यता नहीं रखते, तो ऐसे गारव ३ प्रकारके होते हैं (१) शब्दगारव (२) ऋद्धिगारव और (३) सात गारव । शब्दगारवमें यह अभिमान रहता है कि मैं बड़े शुद्ध शब्दोंका उच्चारण करता हूँ । अच्छी कलाके साथ लोगोंको व्याख्यान सुनाता हूँ । मेरी शब्दकला बड़ी ऊँची है । जैसा सुन्दर उच्चारण करना मैं जानता हूँ उतना और कोई मुनि नहीं जानता, इस प्रकारके गर्वसे भरा हुआ जो भाव है उसे कहते हैं शब्दगारव । दूसरा है ऋद्धिगारव अपनी ऋद्धि सम्पदा, चमत्कारको जाहिर करना ऋद्धि गारव है । आजकल तो इसमें बड़ी तारीफ मानी जाती कि अमुक मुनिके इतने अधिक शिष्य हैं । जैसे औषधालय खुलवाने वाले लोग इस बातमें अधिक अपनी तारीफ समझते कि अस्पतालमें दिन प्रतिदिन रोगियोंकी संख्यामें विशेष वृद्धि होती रहती है । अरे वे यह क्यों नहीं सोचते कि एक ऐसा वातावरण बन जाय कि जिससे रोगी ही न पैदा हों अधिक । तो आज का वर्तमान युग है, इसमें तृष्णा चलती है बिना पढ़े लिखे साधुजनोंमें भी । हर एक कोई संतोष चाहता है, पर संतोष कहां मिले । वे तो इसमें संतोष मानते कि मेरे पास शिष्यजनोंकी संख्या अधिक बढ़े और उससे वे अभिमान पुष्ट करें कि मेरे बहुत शिष्य हैं । जितने मेरे शिष्य हैं उतने अन्य मुनियोंके नहीं हैं, इस प्रकारका भाव होना यह ऋद्धि गारव है । अथवा किसी प्रकारका कुछ चमत्कार हो गया तो उसमें भाव बनाना ऋद्धिगारव है । तीसरा है सात गारव । जिसकी बड़ी प्रतिष्ठा है, जिसके प्रति लोगों का बड़ा सेवाका भाव है । आहार विहार ठहरनेकी जगह आदिक बहुत शौकके साथ करते हैं, तो इसे कहते हैं साता मिली । तो कोई मुनि ऐसी साता मिलनेपर गर्व करते हैं कि जैसे इन्द्रपनेका सुख, चक्रवर्तीका सुख, तीर्थंकरका सुख इस तरहका सुख भोग रहा हूँ मुनि होकर भी, अपनेको पुण्यका प्रभाव जताना यह सब सात गारव है, जिनके गारव लगा है उनको धर्मध्यानकी बात नहीं बन पाती । इस कारण उपदेश किया गया है कि गारवोंको छोड़कर ध्यानस्थ मुनि आत्माका ध्यान करते हैं ।

अष्टमदरहित ध्यानस्थ योगीके ध्यानका लाभ—मद ८ होते हैं, जिनके कारण सम्यक्त्वमें भी दोष आता है । सम्यक्त्व भी नहीं जग पाता । वे ८ मद हैं—(१) कुलमद । अपने कुलका घमंड होना, मेरे पिता बाबा ऐसे धर्मात्मा थे, कभी किसीने कोई दोष नहीं किया, निर्दोष उनका कुल रहा । बात तो ठीक है, निर्दोष कुल रहे यह तो अच्छी बात है, पर यह उसकी बात सोचकर भीतरमें घमंड कर रहा इस कारणसे यह कुलमद

आ जाता । (२) जातिमद—मेरी मां ऐसे घरकी है जहां ऐसा आराम रहता था । जहां बहुत धर्मका पालन होता है, बड़ी शील सती घरानेकी है, ऐसा घमंड करके सोचना यह जातिमद है । चीज तो अच्छी है, होना चाहिए अच्छा ही अच्छा, पर उसको निरखकर मनमें घमंड आ जाय तो वह जातिमद है । (३) ज्ञानमद—कुछ ज्ञान हो गया उसका घमंड होना—जैसा मैं जानता हूं वैसा अन्य लोग नहीं जानते । मेरा ज्ञान श्रुतकेवली जैसा बन गया । ज्ञानको निरखकर घमंड करना ज्ञानमद है । (४) पूजामद—मैं इन सबके बीचमें माननीय हूं । बड़े-बड़े राजा महाराजा, मिनिस्टर आदि हमारे चरणोंके सेवक हैं । इस प्रकार पूजा विषयक घमंड होना पूजामद कहलाता है । जहां ऐसा घमंड है वहां आत्माका ध्यान कैसे सम्भव है ? (५) बलमद—बलका घमंड होना बलमद है, जैसे मैं सहस्रभट हूं, लक्षभट हूं, कोटिभट हूं, इस प्रकारसे अपने बल का घमंड करना बलमद कहलाता है । (६) ऋद्धिमद—मेरे पास बड़ी सम्पदा थी और ऐसी सम्पदाको छोड़कर मैं मुनि हुआ हूं । अन्य मुनियोंके पास इतनी कहां सम्पदा ? इनमें कई तो कर्जदार भी थे आदिक बातें बनाकर अपना घमंड पुष्ट करना यह कहलाता है ऋद्धिमद । (७) तपमद—तपके अनेक प्रकार होते हैं । जैसे एक चंद्रायण व्रत है, उसमें एक-एक ग्रास घटा घटाकर एक ग्रास तक रह जाय, कई-कई दिनोंके उपवास भी हो जायें, फिर पारणा करना, फिर अनेक दिनोंके उपवास करना, ऐसे अनेक प्रकार के व्रत हैं, उन तपश्चरणोंको करके अभिमान आ जाना कि मैंने ऐसे बड़े-बड़े महातप किये हैं, करता हूं, मेरा जीवन ऐसे-ऐसे तपोंमें व्यतीत हुआ है, मेरे समान अन्य कोई तप नहीं कर सकता । अनेक मुनि तो रोज-रोज भोजन करते, तपस्त्री तो मैं हूं, इस प्रकार तपका अभिमान करना तप मद है । (८) रूपमद—अपने शरीरकी सुन्दरताका घमंड होना रूपमद है । जहां इस शरीरके रूप रंग आदि पर दृष्टि गई वहां फिर ध्यान नहीं बनता, अतएव आचार्यदेव उपदेश कर रहे हैं कि इन मदोंको छोड़कर आत्माका ध्यान करना चाहिए ।

आत्मध्यानकी सन्मित्रता—संसारमें केवल एक आत्मध्यान ही वास्तविक मित्र है । अन्य मित्र तो धोखा कर सकते हैं, अथवा इस जीवका मित्र कोई दूसरा हो ही नहीं सकता । सब जीव अपनी-अपनी सुख शान्ति पानेके लिए अनेक प्रकारकी चेष्टायें करते हैं, पर आत्मध्यान यह वास्तविक मित्र है । दुःख दूर तब ही होगा जब आत्मध्यान बने । इससे पहले याने आत्मध्यानके बिना चाहे कैसी ही स्थिति हो,

राजा हो, सेठ हो, ख्याति प्राप्त हो तो भी उसको शान्ति सुख नहीं प्राप्त होता । जिसे शान्ति मिली उसे आत्मध्यानसे ही मिली । शुद्ध आत्मा—“सिद्धि जिनने भी अब तक है पायी, तेरा आश्रय ही उसमें हुवा सहाई ।” जो सर्व विविक्त अर्थात् सत्त्व मात्रसे जो सहजस्वरूप है उस रूपमें अपनी श्रद्धा करने वाला और उस ही अविकार स्वभावका आश्रय करने वाला मोक्षमार्ग पाता है । तो आत्मध्यान ही एक वास्तविक मित्र है, रक्षक है, गुरु है, ऐसा जानकर आत्मध्यानमें प्रयत्न करना चाहिए । और आत्मध्यान के लिए उस शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान करना चाहिए ।

ध्येय शुद्ध अन्तस्तत्त्वका दिग्दर्शन—यहां रागद्वेषरहित परिणति वालेको शुद्ध नहीं कह रहे हैं । वह तो पर्यायसे भी शुद्ध हो गया, पर इतना तो जानें कि जब मैं आत्मा सत् हूं तो मैं ही तो सत् हूं अपनेमें, मेरी अन्य पदार्थोंसे मिलकर सत्ता नहीं बनती । अन्य सब पदार्थोंसे निराला केवल अपनी सत्तासे सत् हूं और अपने ही असाधारण स्वभावरूप हूं । ऐसा अपनेको निरखना यह कहलाता है शुद्ध अन्तस्तत्त्वका ध्यान । रागद्वेषरहित जो शुद्ध आत्मा है वह तो कार्यसमयसार है, फल है, पर वह बात बनी कैसे ? जब हमने यह जाना कि मैं तो केवल हूं, अपने सत्त्व मात्रसे सहज चैतन्यस्वरूप हूं, उस रूप अपनेको मानना यह है शुद्ध आत्माका श्रद्धाम । कर्म मेरेसे पृथक् हैं । याने उनका स्वरूप निराला है, देहका स्वरूप निराला है, विकार भी आये पर विकारको अपने स्वभावसे तो नहीं कर रहा, ये तो नैमित्तिक हैं ।

विकार नहीं होते । निमित्तके सन्निधान बिना विकार नहीं होते । किसी भी जगह पुद्गलमें भी जो जो भी विसम परिणमन हैं, अर्थात् विकार हैं वे किसी पर निमित्तके सन्निधानमें ही होते हैं । सो विकार मेरे स्वभाव नहीं है । यह तो कर्मकी छाया है । इससे भी निराला मेरा स्वरूप है, ऐसा ज्ञायकभाव मात्र अपने आपको मानना, ध्यान में लेना यह है शुद्ध आत्मतत्त्वका ध्यान । तो जहां रागद्वेष मोह बने हुए हैं वहां यह ध्यान नहीं बन सकता । तो इन दोषोंको छोड़कर और लोक व्यवहारसे विरक्त होकर ध्यानस्थ मुनि ध्यान कर रहा है ।

लोकव्यवहारविरत ज्ञानीका आत्मध्यान व आत्मध्यानके उपायमें प्रवर्तन—जो लोक-व्यवहारमें अधिक पड़ रहा है वह आत्माका ध्यान नहीं कर सकता । आत्माके ध्यानके जितने बाधक कारण हैं उन बाधक कारणोंसे हटना और अपने स्वभावकी ओर अभिमुख होना यह है ध्यानकी प्रेरणा देने वाला वातावरण । और जो कुछ पुण्यको पाकर

समागमोंमें ही राजी रहते हैं, रागद्वेष मोहादिकके लिए ही जिनका दिल तड़फता रहता है वे पुरुष आत्मतत्त्वका ध्यान नहीं कर सकते । वे ध्यानमें प्रवीण होनेके लिए लोक-व्यवहारसे भी विरक्त होते हैं । बोलना, व्यवहार करना, अधिक सम्पर्क करना ये सब ध्यानके बाधक व्यापार हैं । अपनेको केवल निरखना, मैं जो हूं वह अपने मात्र ही हूं । अन्य रूप नहीं हूं, अन्यसे मेरा सम्बंध नहीं । ऐसा केवल अपने आपको जो निरखे वही लोकव्यवहारसे विरक्त हो सकता है । ऐसी योग्यता वाले ध्यानस्थ मुनि याने जिनको ध्यानकी धुन है, ध्यानमें बैठे हैं सो वे इस शुद्ध आत्मतत्त्वका ध्यान कर लेते हैं, ध्यान बिना कोई नहीं है, सबके ध्यान लगा है । जिनके मन नहीं है उनके संज्ञाके आधारपर ध्यान है, ओर जो जिसका ध्यान रखते हैं वे उसके पुजारी कहलाते हैं । जिसका निरन्तर ध्यान बना रहे तो उसके लिए भगवान बना हुआ है और यह भक्त बना हुआ है । तो अब यह परीक्षा करें कि हमारा भगवान कौन है ? जिसका ध्यान अधिकाधिक बना रहता है उसीको उसका भगवान समझो । यदि कोई मंदिरमें आकर भगवानके दर्शन करके भी ध्यान बनाये रहता है निरन्तर स्त्री पुत्रादिकका तो वह उन स्त्री पुत्रादिकका भक्त है न कि भगवानका । जिसपर अधिकाधिक ध्यान रहे उसके लिए वही प्रभु बन रहा है । प्रभु नहीं है पर अपनेको समझ रहा है कि मेरा रक्षक शरण सब कुछ ये ही हैं । ध्यान बिना कोई नहीं रहता । पर यह अपनेमें विवेक बनायें कि किसका ध्यान करनेसे हमको लाभ है ? वीतराग सर्वज्ञ परमात्माका ध्यान करें तो बाह्य विषयोंसे चित्त हटा रहेगा और हम स्वतंत्र केवल निश्चल शान्त रहेंगे और यदि विषयोंका ध्यान करेंगे तो कायर, कषायवान, छलवान, तृष्णावान रहकर अपना ही घात करेंगे । सो ऐसा ज्ञान जगना चाहिए कि यह अनुभव बन जाय कि मैं ज्ञानमात्र हूं, और ज्ञानमात्र अपनेको अनुभवनेमें ही मोक्षमार्ग है । यह बात बनेगी सत्संगसे, स्वाध्यायसे और प्रभुभक्तिसे । तो तीनों बातोंको देखिये हम आपको सत्संग भी मिल रहा, प्रभुभक्ति भी रोज-रोज कर रहे और स्वाध्याय भी रोज होता । हां सत्संग तो स्वाधीन नहीं है मगर स्वाध्याय और प्रभुभक्ति इनमें कोई पराधीनता नहीं है, कर सकते हैं । तो स्वाध्याय सत्संग और प्रभुभक्ति इन तीन उपायोंसे अपने आपको शान्ति के मार्गमें बढ़ाना चाहिए ।

मिच्छन्तं अण्णाणं पावं पुण्ण चएवि तिविहेण ।

सोणववएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

मिथ्यात्वका त्याग होनेपर आत्मदर्शनकी पात्रता—जिसको सच्चा प्रकाश मिला है, अपने आत्माके स्वरूपका सही बोध हुआ है वह इस संसारमें, इस संसारके साधनोंमें लगना नहीं चाहता। संसारसे और सांसारिक समस्त समागमोंसे सदाके लिए हटना चाहता है। केवल स्वरूपमात्र रहना चाहता है, ऐसा कोई निकट भव्य पुरुष जिसको मात्र अपने स्वरूपकी ही लगन है वह क्या करता हुआ क्या करके मोक्ष पाता है इसका वर्णन इस गाथामें किया है। आत्मकल्याणका इच्छुक पुरुष मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य इन चारको मन, वचन, कायसे सर्वथा त्याग करके योगमें रहता हुआ शुद्ध आत्माका प्रकाश पाता है। जीवका प्रबल बैरी मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व, मोह, अज्ञान, मूढ़ता, बेहोशी, ये सब एकार्थवाचक हैं, इस जीवका प्रबल बैरी मोह है। वस्तु सब अपनी-अपनी सत्तामें रहते हैं, किसीकी सत्ताको कोई वस्तु उत्पन्न नहीं करता। इस कारण प्रत्येक पदार्थ एक दूसरेसे जुदा-जुदा ही है। एक पदार्थका दूसरा पदार्थ कुछ नहीं है, लेकिन मोह अंधकारमें यह अज्ञानी प्राणी बाह्य पदार्थोंको ऐसा अपनाता है, उनमें ऐसा लगाव रखता है कि मानो उनके संयोगसे तो प्राण हैं और उनके वियोगसे प्राण खतम होते हैं, इतना तीव्र व्यामोह इस जीवका प्रबल बैरी है।

धर्महीन मनुष्यका जीवन पशुसे भी निम्न—भैया, आज दुर्लभ मनुष्यभव पाया है जो बड़ी कठिनाईसे मिलता है और उसमें भी जैन शासनका मिलना, जिनवाणीका सुनना यह बड़ी कठिनाईसे मिलता है और हमारी इस जैन शासनमें, जिनवाणीमें रुचि न जगे तो मनुष्य हुए, न हुए बराबर हैं, क्योंकि मनुष्य होकर और कौनसा कार्य कर लिया पशुओंसे अधिक? पशु भी खाते हैं, मनुष्य भी खाते हैं, पशु भी सोते हैं, मनुष्य भी सोते हैं, पशु भी विषयोंका सेवन करते हैं, मनुष्य भी विषयोंका सेवन करते हैं, पशु भी डरते हैं और मनुष्य भी डरते हैं। पशुओंसे अधिक ये मनुष्य कर क्या रहे हैं सो तो बताओ? बल्कि धर्महीन मनुष्य, ज्ञानहीन मनुष्य पशुओंसे भी गए बीते हैं। पशुओंका खाना तो उनकी भूखपर निर्भर है। भूख तेज लगी है तो वे खाना खायेंगे, मगर मनुष्योंका खाना ऐसा है कि भूख लगी हो तो, न लगी हो तो, जबरदस्ती खाते ही हैं और यों कहलो कि जब चाहे खाते पीते रहते हैं। पशु तो पेट भरेके बाद कुछ भी नहीं खाते, चाहे कितनी ही हरी घास रखे, चाहे कितने ही गेहूं चने आदि दाने रखे, वे उनकी ओर देखते भी नहीं, पर मनुष्योंका पेट भरा हो तो भी चाट पकौड़ी खानेके लिए कुछ न कुछ जगह निकाल ही आती है, इसकी इच्छा कभी तृप्त नहीं होती।

तो बतलाओ भोजनके विषयमें मनुष्य पशुओंसे भी बुरे हैं या नहीं ? अब नींदकी बात देखो तो पशु ऐसी नींद लेते हैं कि जरासी आहट होनेपर जग जाते हैं मगर मनुष्योंको तो नींद लेते हुए में हाथ झकझोर कर उठाना पड़ता है, इतनी तेज बेहोशीसे मनुष्य सोते हैं। तो नींदमें भी मनुष्योंसे पशु अच्छे रहे। अब डरकी बात देखो तो पशुओं को जब कोई लाठी लेकर सामने आ खड़ा हो तभी डरते हैं पर मनुष्य तो गद्दात कियों, बड़े-बड़े आरामके साधनोंके बीच रहकर भी भय किया करते हैं। कहीं चोरोंका भय, कहीं सरकारी कानूनोंका भय तो कहीं अपनी इज्जत प्रतिष्ठामें कमीका भय। तो भय में भी मनुष्योंसे पशु अच्छे रहे। अब मैथुन विषयकी बात देखो तो पशु कोई नियत ऋतुमें इन विषयोंका सेवन करते हैं, पर मनुष्योंका कोई नियत काल नहीं है। तो विषयसेवनमें भी, कामसेवनके विषयमें भी यह मनुष्य पशुओंसे गया बीता है। कौन सी बात श्रेष्ठ है। मनुष्यमें सो तो बताओ ? तो एक धर्मको छोड़कर श्रेष्ठताकी बात कुछ नहीं है मनुष्यमें। धर्महीन मनुष्य पशुओंसे गया बीता है। अब शरीरकी भी बात देखो तो हम आप यहां इन पशुओंको देखकर ऐसा कह बैठते कि ये क्या चार पैरोंपर चल रहे, इनकी क्या दशा है ? पर पशु क्या इन दो पैरोंपर चलने वाले मनुष्योंके प्रति इस तरहसे न सोचते होंगे ? अरे वे भी इन मनुष्योंके प्रति न जाने क्या-क्या सोचते होंगे ? सुन्दरताका वर्णन जब कवि लोग करते हैं तो मनुष्योंकी सुन्दरताके लिए पशु पक्षियोंके अंगोंकी उपमा देते हैं, पर पशु पक्षियोंकी सुन्दरताके लिए किसी कविने मनुष्यके किसी अंगकी उपमा नहीं दी। तो जिसकी उपमा दी जाय वह श्रेष्ठ कहलाता है। इस मनुष्यकी नाक तोतेकी तरह है, इस मनुष्यका स्वर कोयलकी तरह है, इस मनुष्यकी कमर सिंहके समान है, आदिक अंगोंकी उपमा पशु पक्षियोंसे दी जाती है। लो सुन्दरतामें भी ये पशु पक्षी इन मनुष्योंसे बड़े निकल गए। अब जरा शरीरके अंगोंके कामकी बात देखो तो पशु पक्षियोंके अंग तो कुछ काम आ जाते हैं जैसे हाथी के दांत, गाय, बैल, भैंस आदिककी चमड़ी अथवा रोम, अनेक चीजें पशुओंकी काममें आ जाती हैं, पर मनुष्योंका कोई अंग यदि काममें आता हो तो बतलावो। इसे तो मात्र जलाना या गाड़ना पड़ता है। तो मनुष्योंकी विशेषता धर्मपालनसे है, इस कारण एक भवमें भी यदि मोहको त्याग दें तो आत्माका कल्याण हो जाय। अनन्त भव तो गुजर गए मोह कर करके। एक भव यदि बिना मोहके गुजरे धर्मपालनमें तो आत्मा का सदाके लिए संकट टल जायगा।

मिथ्याभावकर अन्ने भगवान् आत्मापर अत्याचार करनेका फल दुर्गन्—आत्मन् ! कुछ अपने आप पर दया अवश्य करना चाहिए । अपने भगवान् आत्मापर अत्याचार न करें । एक कथानक है कि एक साधु महाराजके पास एक चूहा रहता था, चूहा महाराज से स्नेह भी करने लगा । वहीं पास ही रहा करता था, और उस साधुको भी चूहेसे प्रेम हो गया । एक दिन चूहे पर बिल्ली झपटी तो साधुने आशीश दिया—विडालो भव, तू भी बिडाल बन जा । अब विडाल बननेके बाद विडालसे भय न रहा, फिर उस पर कुत्ता झपटा तो साधुने फिर आशीर्वाद दिया स्वानोभव अर्थात् तू भी कुत्ता बन जा । लो वह भी कुत्ता बन गया, अब उसे कुत्तेका डर न रहा । एक बार उस पर झपटा तेंदुवा तो साधुने आशीर्वाद दिया—व्याघ्रो भव अर्थात् तू भी तेंदुवा बन जा, लो वह भी तेंदुवा बन गया, अब उसे तेंदुवाका भय न रहा । फिर एक बार उस पर झपटा सिंह तो साधुने आशीर्वाद दिया, सिंहो भव अर्थात् तू भी सिंह बनजा, लो वह भी सिंह बन गया, अब उसे तेंदुआका भय न रहा । अब लगी उस सिंहको तेज भूख, कुछ खानेको था नहीं, सो मनमें आया कि इन्हीं साधु महाराजको खाकर अपनी क्षुधा मिटाये । जब खानेका उद्यम किया तो साधुने पुनः कहा—पुनर्मूसको भव याने तू फिर से चूहा बन जा, लो वह फिरसे चूहा बन गया । भला बताओ जिसके आशीर्वादसे चूहेसे सिंह बना उसके ऊपर हमला करनेकी ठाने तो उसे फिरसे चूहा बनना पड़ेगा ।

ऐसे ही यह जीव जिस सहज पर-मात्मतत्त्वके आशीशसे निगोदसे निकलकर, एकेन्द्रियसे निकलकर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय आदिकसे निकलकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य हुए हैं तो आज ये अनेक कलावोंके द्वारा इस सहज परमात्मा भगवान्पर आक्रमण कर रहा है । विषयों का सेवन, मोह अज्ञानमें रहना, ममता करना यह इस भगवान् आत्मापर आक्रमण है । सो मनुष्य होकर यह अपने ही भगवान् आत्मापर आक्रमण करने लगा । सो यह भगवान् आत्मा पुनः आशीश देगा पुनर्निगोदोभव, याने तू फिरसे निगोद बन जा । सो भैया, मिथ्यात्व इस जीवका प्रबल बैरी है ।

अज्ञानको तजकर मौनव्रतसे योगस्थ ज्ञानीका आत्मनिरीक्षण—अज्ञान सही ज्ञान न होना । यह मोही जानता है कि ये घरमें उत्पन्न हुए हैं, ये ही मेरे सब कुछ हैं, इनके ही लिए मेरा तन, मन, धन, वचन प्रायः अर्पित है । इनको छोड़कर मेरा कुछ नहीं है । यह विकट अज्ञान है और इसका फल संसारमें जन्ममरण करके भटकते रहना है ।

मोक्षपाहुड़ प्रवचन

इस अज्ञानीको यह पता नहीं कि जैसे यह मैं आत्मा स्वतंत्र सत् हूँ, ऐसे ही ये घरमें आये हुए जीव स्वतंत्र सत् हैं। इनकी करनी इनके साथ है, इनके कर्म इनके साथ हैं। इनका होनहार इनके भावोंके अनुकूल है। इनकी किसी भी चेष्टासे मेरेको सुख नहीं होता। मैं अपने ही भावोंसे सुख और दुःख पाता हूँ। यह प्रकाश इस अज्ञानीको नहीं मिला, सो कुटुम्बीजनोंमें एकदम लीन होता हुआ अपने जीवनको व्यर्थ गमा रहा है। वह अज्ञान इस जीवको पतनकी ओर प्रेरित कर रहा है। इसको सुहावने लगते हैं विषयोंके साधन। विषय साधनोंमें ही इसकी रुचि है, विषयके साधनोंमें ही इसका मन है, विषयके साधनोंमें ही यह सारे क्षण बिताता है, इसको ये बाह्य विषय ही प्रिय लग रहे हैं, और जो प्रिय हैं सम्बेग, ज्ञान वैराग्य, ये इसे रुचिकर नहीं होते। तो यह अज्ञान इस जीवको पतनकी ओर प्रेरित करता है। जो आत्मकल्याणके इच्छुक हैं वे जैसे मिथ्यात्वका त्यागकर आत्मकल्याणके मार्गमें बढ़ते हैं ऐसे ही अज्ञानको छोड़कर मोक्ष-मार्गमें बढ़ रहे हैं। जिसको आत्मकल्याणकी धुन है वह क्या करता है, यह बात इस माथामें कही जा रही है।

पापपुण्य विकल्पोंको तजकर योगस्थ ज्ञानीका मौनव्रतसे अन्तःप्रेक्षण—पाप—पापों का सिरताज है मोह, मिथ्यात्व। फिर क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये सब पाप हैं। सप्त व्यसनोमें रहना यह सब पाप है। ये पाप तो छोड़ने योग्य ही हैं, इन पापोंको ही तो पूरी तरहसे छोड़कर आत्मकल्याणके इच्छुक जन योगी बनते हैं। पापोंको छोड़ो अर्थात् अपनी दुर्भावनाको त्यागो। पाप अपने दुर्भाव हैं। बाह्य से कुछ प्रवृत्ति बन जाती है, वहां पाप इस कारण कहते हैं कि छोटे भावोंके कारण प्रवृत्ति बनी है तो दुनियाको हम किस तरह समझायें कि पाप किसे कहते हैं? तो छोटी प्रवृत्तियोंका नाम लेकर कहा जाता है कि यह पाप है। जो दुर्भाव न हो तो छोटी प्रवृत्तियां कौन करेगा? छोटे आसय बनाना, अहिंसाके विरुद्ध आचरण करना, विषयकषायोंमें लीन होना ये सब पापभाव हैं। आत्मकल्याणके इच्छुक पुरुष पापभाव सर्वथा त्याग देते हैं। समय है, जिस समय जो पर्याय होनी है वह उस क्षण होती है, गुजर जाती है, मगर दुर्भाव करके जो छोटी परिणति बनाया है, जिसमें वह मौज जान रहा है वह कल्पित मौज भी नहीं रहती। और उसके कारण जो पापका बंध हुआ है उसके उदयमें अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं, तो आत्मकल्याणका इच्छुक पुरुष पापभावको तजता है और आत्मकल्याणमें बढ़नेका उद्यम करने वाला योगी पुण्यभाव

को भी छोड़ देता है। परीषह विजय, व्रत पालन, उपवास आदिकके विकल्पको छोड़ देता है। उपवास करते हुए वह आगे बढ़ता जा रहा है, पर विकल्प मचाकर उनको वह नहीं करना चाहता। तो पुण्यको छोड़नेका मतलब पापमें आनेके लिए नहीं है, किन्तु शुद्धोपयोगमें पहुंचानेके लिए है। तो ऐसे इन सब दुराश्योंको तजकर योगीजन शुद्ध आत्माके प्रकाशमें आते हैं।

जं मया दिस्सदे ख्वं तण जाणादि सव्वहा ।

जाणगं दिस्सदे णेत तम्हा जंपेसि केण हं ॥२६॥

ज्ञानी योगस्थ श्रमणके मौनव्रतका कारण—उक्त गाथामें यह बताया है कि सारे पाप पुण्यकी प्रवृत्तियोंको छोड़कर मौन व्रतमें रहता हुआ यह योगी शुद्ध आत्माके प्रकाशमें रह रहा है। अब योगीजन अधिकतर मौन क्यों रहते हैं? तो उसका उत्तर इस गाथामें है। ये महापुरुष जानते हैं कि जो मेरे द्वारा दिख रहा वह जानता ही नहीं। क्या दिख रहा? यह भीत खम्भा वगैरह, यह शरीर, शरीर भी नहीं जानता। जो ये मृतक शरीर खम्भा, मिट्टी, पत्थर आदि दिखते ये भी नहीं जानते। ये स्थावर जीवोंके मृतक शरीर हैं। ये सड़ते गलते नहीं। मांसकी तरह ये दुर्गन्ध पैदा नहीं करते। क्योंकि स्थावर जीवोंके देहमें मांस नहीं होता। अंगोपांग नहीं होते, हाथ पैर नहीं होते, पीठ पेट भी नहीं होते। वह तो एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय वाला ही शरीर है। पर जो भी दिखता है वह जानता नहीं है। और जो जाननहार है वह दिखता नहीं, और यह मैं ज्ञायकस्वरूप आत्मा हूं, यह किसीको दिखता नहीं है। तो जब मुझे कोई ज्ञायक नहीं दिखता तब किसीको मैं ज्ञायक नहीं दिख रहा हूं। तब फिर किससे बोलना चालना।' जैसे कोई-कोई पुरुष अपनी स्त्रीमें इतना अधिक मोहित होवे कि उस स्त्री के गुजर जानेके बाद स्त्रीके फोटोसे बात-चीत किया करते। अब भला बताओ यदि कोई ऐसा करे तो उसे लोग क्या कहेंगे? शायद उसे पागल ही बतायेंगे। एक घटना बनारसकी ऐसी ही है, गुरुजी सुनाते थे, उन्हींके सामनेकी घटना है। कोई एक गणित का प्रोफेसर वहीं किसी धर्मशालामें रहता था, पासमें ही दूसरे कमरेमें गुरुजी भी थे। गुरुजीने क्या देखा कि उस बगलके कमरेसे कुछ आवाज आ रही है। क्या आवाज आ रही थी कि अरे उठो, सवेरा हो गया, क्या मन्दिर न चलोगी, हमारे खाने पीनेके लिए चाय नास्ताका इन्तजाम न करोगी क्या?...इस प्रकारकी अनेक आवाजें सुनकर गुरुजीने मनमें विचार किया कि देखो इस कमरेमें दूसरा तो कोई नहीं है, सिर्फ अकेले प्रोफेसर है, पर यह बातें किससे कर रहा, चलकर देखना चाहिए। जब गए तो क्या

देखा कि अपनी स्त्रीका फोटो लिए उस फोटोसे बातें कर रहा था। गुरुजीने उससे पूछा कि भाई तुम इस फोटोसे क्यों बात कर रहे हो ? तो उसने अपनी सारी कथा सुनाया। बताया कि मेरी स्त्री मर चुकी है, उस पर मुझे बड़ा मोह था। यहां तक कि वह स्त्री यदि धूपमें मन्दिर जावे या बरसातमें कहीं बाहर जावे तो मैं स्वयं उसके ऊपर छाता लगाकर उसे पहुंचाने जाया करता था इतना तीव्र मोह था। वह स्त्री मेरेसे यह भी कहा करती थी कि तुम हमसे इतना अधिक मोह क्यों करते ? कहीं मैं मर गई तो तुम पागल न हो जावो। आखिर वही हुआ। उस स्त्रीके पीछे मेरी वृत्तियां पागलों जैसे हो गईं। तो यहां यह जानें कि ये जो बाह्य पदार्थ दिख रहे वे जानने वाले नहीं। जो जानने वाले हैं ये दिखने वाले नहीं। ऐसा योगीजन जानते हैं और अपने आत्माको समझते हैं कि यह मैं ज्ञायकस्वरूप हूं। इसमें बोलनेकी कला ही नहीं पड़ी है।

शब्दनिष्पत्तिके विधिविधानके ज्ञाताका मौनव्रत—भैया ! यह जो बोल निकलता है सो आत्मा नहीं बोल रहा। फिर निकलते कैसे हैं ये शब्द ? यदि आत्मा न हो तब तो ऐसी वाणी कोई बोल नहीं सकता। फिर कैसे कहा जा रहा कि आत्मा बोलता नहीं ? तो भाई बात यह है कि पहले आत्माका स्वरूप समझें कि क्या है ? एक ज्ञानमात्र पदार्थ है, आकाशकी तरह अमूर्त है। पर हां, ज्ञानस्वभावको लिए हुए है। तो वह जो ज्ञान-स्वभावी आत्मा है उसके मुख कहां है, उसके दांत कहां हैं ? उस सत्को देखो—जो ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्व है उसके जीभ कहां है ? वहां इसका प्रवर्तन कैसे हो सकता है ? यह तो भाव भर करता है भावोंके सिवाय अन्य कुछ नहीं कर रहा, पर निमित्त नैमित्तिक योग है ऐसा कि इस जीवने तो भाव किया, इच्छा की कि मैं ऐसा बोलूं। तो उन शब्दोंके निकलनेमें देर नहीं लगती लगातार एक शब्दके बाद निकलता जा रहा है। तो यह व्याख्याता क्षण-क्षण पर भाव और इच्छा उस उस प्रकारकी बनती रहती है जैसा कि बोला जाता है। तो आत्मामें तो भाव और इच्छा हुए, अब उस इच्छा और ज्ञानका संयोग पाकर आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन हुई। आत्मप्रदेशोंके योग परिस्पंदका निमित्त पाकर एक क्षेत्रावगाहमें रहने वाले इस शरीरमें वायु चली। वायु भी उसी अनुरूप चली जैसा योग हो गया। योग भी उस अनुरूप हुआ जैसी कि इच्छा की। तो निमित्त नैमित्तिक भाव पूर्वक यहां वायु चलने लगी और उस वायुके चलने का निमित्त पाकर ओंठ हिलने लगे। जीभ हिलने लगी, दांत नीचे ऊपर आने लगे।

कंठमें भी जोर बनने लगा तो इसका निमित्त पाकर शब्द वर्गणायें, भाषा वर्गणायें शब्दरूप परिणमने लगी। जैसे हारमोनियममें जो स्वर उठाया वहांकी वायुसे वह पीतलका तार टकराकर उस प्रकारकी आवाज देता है ऐसे ही ये ओंठ, जिह्वा, तालू ये लगकर अलग होकर उस प्रकारके शब्दको उत्पन्न करते हैं। और इसी कारण इन सब अक्षरोंके स्थान नियत हैं। क ख ग घ कोई बोलेगा तो कंठस्थानकी प्रधानतासे बोल पायगा। च छ ज झ कोई बोलेगा तो तालूमें जीभका स्पर्श करके ही कोई बोल पायगा। ट ठ ड ढ बोलेगा तो जीभको मूर्धाके याने ऊपरके दांतमें ऊपरके मांसपर जीभको ठोकर देकर ही बोल पायगा। कोई त थ द ध बोलेगा तो दांतोंमें जीभकी ठोकर लगाकर ही बोल पायगा। कोई प फ ब भ बोलेगा तो ओंठको ओंठमें चिपका कर ही बोल पायगा। फिर इसके भीतर और भी योग हैं। जैसे प बोला तो उसमें अल्प प्राण है। उसमें फोर्स नहीं है, पर फ बोलेंगे तो वह महाप्राण है, उसमें गर्म वायु का फोर्स साथमें रहता है, और इसी बातको इंगलिश भाषामें पीएच=फ मान करके बताया है कि पी में एच की हवा और आये, डंडा लगे तो फ बन पायगा, ऐसे ही जितना इन अक्षरोंमें अन्तर है वह सब अक्षरोंमें कोई न कोई निमित्तके भेदसे हैं। तो यह मैं जीव बोलता नहीं हूं, मैं भाव और इच्छा करता हूं। उसका निमित्त पाकर इस प्रकारकी परम्परा निमित्तमें ये शब्द मुद्रायें बन जाती हैं। मैं कैसे बोलूं? मैं स्वयं तो हूं एक ज्ञायकमात्र और जो कुछ बिखता है वह सब है अचेतन, और मुझमें बोल है नहीं तो अब मेरा किससे बोलना बने? ऐसा योगियोंके मनन रहता है तो वे अधिक समय मौनपूर्वक रहकर अपने आत्माके सहज स्वभावकी आराधना किया करते हैं।

सत्त्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि सच्चिद ।

जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥३०॥

आस्रव की निष्पत्तिका विधान—समस्त आश्रव भावोंके निरोधसे संचित कर्म क्षीण हो जाते हैं। और यों परमयोगमें स्थित योगीमात्र जानता है और केवलज्ञान प्राप्त करता है। किसी भी पदार्थमें विकार होते हैं तो यह समझना चाहिए कि कोई दूसरा पदार्थ सन्निधानमें है, अन्य पदार्थोंका सम्पर्क हुए बिना पदार्थमें विकार हो ही नहीं सकते, क्योंकि किसी भी पदार्थका स्वभाव विकारके लिए नहीं होता। सो यद्यपि विकार हुआ है विकार परिणमते उपादानकी परिणतिसे, पर वह उपादान अपनेमें इस योग्यताके अनुसार कार्य कर पाया तो निमित्त सन्निधानमें। निमित्त कहते किसे

हैं ? जो पदार्थ अत्यन्त भिन्न हो किन्तु जिसका विकारके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध हो उसे निमित्त कहते हैं । तो क्रोधादिक कषाय कर्मके होने पर ही जीवमें कषायभाव बनते हैं और क्रोधादिक कर्मके न होने पर जीवमें कषायभाव नहीं बनते । ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है और जीवसे वे कर्म अत्यन्त जुड़े हैं, कर्म अचेतन है जीव चेतन है इसलिए अत्यन्ताभाव है । तो जो अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ हों और जिनका विकारके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध हो वे निमित्त कहलाते हैं ।

आश्रयभूत कारण बननेपर विकारकी व्यक्तरूपता—अब यहां एक बात और जानने की है कि जो यह कहा करते हैं कि धनपरिग्रह स्त्री पुत्रादिकमें पञ्चेन्द्रियके विषयभूत साधन ये विकारके कारण हैं, सो इसका अर्थ क्या ? इसका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध तो है नहीं कि स्त्रीके सामने होनेपर विकार हो और स्त्रीके न होनेपर विकार न हो ऐसा कोई सम्बन्ध तो है नहीं । अनेक पुरुषोंके स्त्री पुत्रादिक नहीं हैं सामने तो भी विकार किया करते हैं । और किसीके पुरुष स्त्री पुत्रादिक सामने हों तो भी विकार नहीं आता । तो जब अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं इन दृश्य पदार्थोंके साथ तो ये विकार के कारण कैसे हो गए ? यह एक आशंका होती है । तो उसका समाधान यह है कि दिखने वाले ये समस्त पदार्थ ये समागममें आये हुए समस्त भौतिक पदार्थ मेरे विकार होनेके लिए निमित्त कारण नहीं हैं किन्तु आश्रयभूत कारण हैं । इनका अन्तर समझना बहुत लाभदायक है । आश्रयभूत कारणके मायने यह है कि मैं इनमें उपयोग लगाऊं तो ये कारण बनते हैं, इनमें उपयोग न लगाऊं तो ये कारण नहीं हो पाते । तो उपयोगके जो विषयभूत बने ऐसे ये बाह्यपदार्थ विकारके आश्रयभूत कारण हैं और निमित्त कारण क्या है ? रागद्वेषादिक कर्मप्रकृतियां, इस तथ्यको जब तक नहीं जाना जाता तब तक एक भ्रम रहता है । आश्रयभूत कारण वास्तविक कारण नहीं है, और उनको निमित्त कहनेकी प्रथा भी है । तो यहां तक बुद्धि पहुंच जाती है कि देखो निमित्त जोड़ा पर कुछ विकार तो नहीं आया इसलिए निमित्त कारण व्यर्थ है, होता ही नहीं है । मात्र कह देते हैं पर यह नहीं जाना कि जिनका उदाहरण दे रहे हैं वे निमित्त कारण हैं ही नहीं । पञ्चेन्द्रियके विषयभूत पदार्थ ये मेरे विकार के निमित्त कारण नहीं, किन्तु आश्रयभूत कारण हैं ।

आश्रयभूत कारणके परिचयसे उसके परिहारपूर्वक कर्मक्षपणमें प्रगतिका मार्ग— विकार के लिए दो स्थितिमां बनती हैं (१) एक तो निमित्त कारण और एक आश्रयभूत कारण,

एक तो दोनों ही हों उस समयका विकार, और एक आश्रयभूत कारण न बने सिर्फ निमित्त कारण हो उस समयका विकार। ये दो तरहके विकार हुए आत्मामें। इनको व्यक्त और अव्यक्त विकारके नामसे कहा गया है। यदि आश्रयभूत कारण भी बन जाय तो वह विकार व्यक्त विकार कहलाता है और आश्रयभूत कारण न बन सके तो निमित्त का उदय होनेपर प्रतिफलन तो हुआ मगर वह विकार अव्यक्त रहा। जैसे कोई पुरुष आत्माके स्वरूपके ध्यानमें लगा है, उसका उपयोग तो आत्मस्वरूपपर लगा है मगर कर्मोदय तो दनादन चल ही रहे। जब उनका सम्बन्ध है तो उदय चल रहा पर उदय चल रहा तो उनका प्रतिफलन भी चल रहा, मगर आश्रयभूत कारण नहीं बन सक रहा क्योंकि उसका उपयोग अपने आत्माके ध्यानमें है। इन विषयभूत पदार्थोंमें उपयोग नहीं गया, तो वे विकार व्यक्त न हो पाये, व्यक्त विकार न बन पाये, ऐसा पुरुषार्थ करनेका उपदेश आचार्योंने किया है। और इसीलिए चरणानुयोगमें बताया है कि चरणानुयोगके अनुसार तुम इन विषयभूत पदार्थोंका परिहार करो, त्याग करो। यह उद्यम विकारको जीतनेका है, यद्यपि ऐसा करने पर भी, बाह्य पदार्थोंको दूर करने पर भी ये विकार न हों यह नियम नहीं बना किन्तु कुछ सहयोग मिला। न हो आश्रयभूत कारण सामने तो उसपर कुछ नियंत्रण रहता है, तो यहां यह बात कही गई है कि आश्रयभूत कारणका परिहार करें, मनसे भी भुला दें तो व्यक्त विकार न होगा और ऐसी स्थितिमें इस सहज कारण समयसारका आश्रय करेंगे तो अव्यक्त विकारका निदान भी खतम हो जायगा, और इस प्रकार समस्त आश्रवोंके विरोधसे कर्मका क्षय होता है।

क्षोभरहित होनेका एकमात्र उपाय सहज चित्त्वभावका आश्रयण—एक बात तुरन्त की यह ध्यानमें लायें, कर्मकी बात अभी जाने दो, बाह्य पदार्थ हैं, हैं नहीं क्या कैसे क्या-क्या, यह ख्याल भी न लायें, पर अपनेमें इतना अनुभव तो जगता कि जब मैं अनात्मपदार्थोंपर इन बाहरी विषयोंपर दृष्टि लगाता हूं तो नियमसे मेरेमें क्षोभ होता हूं और जब मैं अविकार स्वभाव इस सहज चैतन्यस्वरूपमें आत्मत्वकी भावना रखता हूं तो क्षोभ नहीं होता। तो जो क्षोभ होनेके विकल्प साधन हैं तो उन क्षोभोंसे क्षोभकी संतान बढ़ती है, और एकबार सहज शान्तिका अनुभव बने तो उससे फिर इस सहज शान्तिकी प्राप्ति का एक सिलसिला बन जाता है। तो संकटोंसे दूर होनेके लिए मात्र एक ही उपाय है। जैसे कोई समझदार वैद्य एक ऐसी औषधि तैयार करता है कि जो

करीब १०० रोगोंपर काम करे। दवा एक है और वह १०० प्रकारके रोगोंको दूर करती है, वहां तो भेद हो भी सकता मगर आत्मकल्याणके उपायोंमें चाहे मुनि हो, चाहे श्रावक हो, सबकी एक ही प्रक्रिया है अन्तरंगकी। वह क्या है कि अपने सहज-स्वरूपका आलम्बन रखना, यह मैं हूं इस प्रकारका दृढ़ प्रत्यय रहना, यही बात श्रावक के होती है जितने अंशमें होती है उतने अंशमें कर्मका क्षय होता है और यही बात मुनिराजके होती है, जितने अंशमें होती है, वहां कर्मक्षय होता है, उपाय एक ही है कर्मके दूर करनेका। दूसरा उपाय नहीं है।

ज्ञानीके परिस्थितिवश व्यवहारधर्मोंकी विविधता—व्यवहार धर्ममें जो अनेक उपाय नजर आ रहे हैं ये परिस्थितिवश नजर आ रहे। जैसे घरकी परिस्थिति है कुटुम्बमें रहना, घरमें रहना, व्यापार करना, अनेक सम्मान अपमानकी बातें देखना, ये अनेक परिस्थितियां हैं तो इन परिस्थितियोंमें रहने वाला ज्ञानी श्रावक अपने मात्र इस ध्येय को सीधा नहीं निभा पाता। कुछ स्थितियां होती हैं तो उनपर अनेक विकल्प लगते हैं, व्यसनमें भी लग सकता। अनेक वासनायें लगती हैं तो उनका आक्रमण तत्काल निवारण करनेका उपाय गृहस्थके ६ आवश्यक बताये गए हैं—(१) देवपूजा, (२) गुरु-पासना, (३) स्वाध्याय, (४) संयम, (५) तप और (६) दान। इन सद्भावोंके होनेपर वे व्यसन विकार दुर्भाव दूर हो जाते हैं, और जब व्यसन विकार ये पापभाव दूर हुए तो वहां ऐसी सुरक्षा है कि यह आत्मा अपने स्वरूपपर ध्यान बना सकता है। मुनिराज के आरम्भ नहीं, परिग्रह नहीं, कुटुम्ब नहीं, कमाना नहीं, कुछ अपने स्वरूपकी सुधका लक्ष्य है इस कारण उनके अधिक विकल्प नहीं चलते, फिर भी कर्मविपाकवश या जितना भी शिष्यादिकका समागम है उतने रूपमें विकल्प चलते हैं। तो इस आक्रमणका उपाय उनके यहां अन्य प्रकारके ६ आवश्यक बताये गए हैं—(१) समता (२) वंदना, (३) स्तुति, (४) प्रतिक्रमण, (५) स्वाध्याय और (६) कायोत्सर्ग। तो ये जो व्यवहारमें कर्तव्योंके भेद पड़े हैं ये परिस्थितिवश भेद हो गए। पर जिस उपायसे कर्म कटते, दूर होते हैं, वह उपाय सबमें एक ही है। वह उपाय है अपनेको सहज चैतन्यस्वरूप अनुभवना। इन उपायोंसे कर्म बनना भी रुकता है और संचित कर्मका भी क्षय होता है।

कर्मबन्धनका मूल कारण मोहविचेष्टितता—उक्त उपायके विरुद्ध यदि चेष्टायें हों तो उनसे कर्म बंधते हैं और उदयमें आये हुए कर्म खिरते तो हैं पर वह निर्जरा नहीं

कहलाती, क्योंकि कर्म खिरे और बंध गए, यदि कर्म बंधे नहीं, तो निर्जरा कहलाये । तो वह भाव क्या है ? उन भावोंका मुखिया तो है मिथ्यात्व । मैं अमुक लाल हूं, अमुक प्रसाद हूं, अमुक चंद हूं, अमुक जातिका हूं, अमुक जगहका रहने वाला हूं, मैं श्रावक हूं, मुनि हूं, समझदार हूं आदिक किसी भी प्रकारका जो अनात्मत्वमें स्वका अध्यवसाय है, भ्रम है वह कर्मबन्धका हेतुभूत है । मुनि होकर भी तो यदि यह भाव रहे कि मैं मुनि हूं तो उसके मोह नहीं गला, क्योंकि वह इस देहको, नग्न देखकर कह रहा कि मैं मुनि हूं । तो देहको निरखकर वहिरात्मा भी कहता है कि मैं मनुष्य हूं, तिर्यञ्च हूं आदिक । तो यह नग्न देहको देखकर एक ने यह माना कि मैं मनुष्य हूं तो भले ही थोड़ा व्यवहारमें अन्तर दिखता हो, मगर जो ढंग है उसकी अपेक्षा अन्तर नहीं । वहां भी मोह मिथ्यात्व है और यहां भी मोह मिथ्यात्व रहा ।

ज्ञानीका तत्त्वमनन—मुनिको अपने बारेमें कैसा श्रद्धान रहता है कि मैं चैतन्य-मात्र हूं और इस ही की धुनि रखता मुनि कि मैं सहज चैतन्यस्वरूपका ही ज्ञान बनाये रहूं और उसीमें ही आत्मत्वका अनुभव करता रहूं और इसीके लिए मैं व्रत तप समिति आदिकका पालन करता हूं । कितना विरक्त है श्रावक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि और कितना विरक्त है मुनि, इन दोनोंकी विरक्तिपर ध्यान दें तो आन्तरिक जो मूल विरक्ति है, जो ढंग है, जो शैली है उसमें कुछ अन्तर नहीं हां जो विरक्तिकी मुद्रा बनती है उसमें अन्तर है । सो वह भी अन्य परिस्थितिवश है । ज्ञानी श्रावक भी समस्त बाह्य पदार्थों से विरक्त है अर्थात् उनमें लगाव नहीं रखता और उनके रागसे राग नहीं चलता । और मुनि उसका परिग्रह त्याग होनेपर जितना समागम है वह उससे विरक्त रहता है । श्रावकके समागम अधिक है सो उसे सर्व समागमोंसे विरक्त रहना पड़ता है और मुनिके समागम कम है, सो वह उनसे विरक्त रहता है । इस प्रकारका अन्तर तो दोनों में है मगर ज्ञानका काम है कि अपने ही आत्मामें आत्मत्व मना देना और समस्त परसे विरक्ति लाना यह श्रावकके भी हुआ और मुनिके भी हुआ, पर परिस्थितिवश अन्तर यह है कि श्रावक आत्मानुभव कदाचित् कभी-कभी अल्प समयको कर पाता है और मुनि विशेषतया जब चाहे क्षण-क्षणमें आत्मानुभवके प्रकरण लाता रहता है । तो कार्य एक ही करना है हम आपको मोक्षमार्गमें बढ़नेके लिए कि निज सहज चैतन्य-स्वरूपमें यह मैं हूं ऐसा सत्याग्रह रखना और जो अनात्मभाव हैं उनसे असहयोग रखना । तो अनात्मतत्त्वसे असहयोग और सहज आत्मस्वरूपका सत्याग्रह ये दोनों

उषाय परस्पर एक दूसरेको बढ़ाते हुए मोक्षमार्गमें ले जाते हैं। अब इसके लिए चाहिए कुछ थोड़ा तत्त्वज्ञान। इतनी तो समझ होनी ही चाहिए कि ये बाह्यपदार्थ क्या पदार्थ हैं और इनके गुण क्या हैं और इनका परिणमन क्या है और किस प्रकारसे होते रहते हैं, मैं द्रव्य क्या हूं, मेरेमें गुण (शक्ति) क्या हैं और मेरे परिणमन किस ढंगसे क्या-क्या होते रहते हैं, इस प्रकार स्व और परका स्वरूप जाननेमें आये तो निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नाहिं लेश निदान। निशान चाहे रहा आये, पर निदान नहीं रह सकता। वह निशान ही नीचेसे हटा दिया गया तो तत्त्वज्ञानका हमारे ज्ञानमें प्रभाव बनेगा और हम वह संस्कार बना पायेंगे कि इस भवके गुजरनेके बाद भी हम धर्मसे संस्कृत रह सकेंगे।

दुर्लभ सुमानवभवका सदुपयोग करनेका अनुरोध—एक मोटी सी बात है कि हम आपको जो कुछ भी आज बाह्यवस्तुओंके समागम मिले हैं सो सब जानते हैं कि मरण के बाद रंचमात्र परमाणु मात्र भी कुछ साथ जाता नहीं। तो जो कुछ दिन बाद ऐसी स्थिति बनेगी कि मैं अकेला ही जाऊंगा और ये समागम परमाणुमात्र भी मेरा साथ न देंगे। तो यह बात अभीसे ज्ञानमें बनाये रहें तो फिर उन समागमोंमें आसक्ति न रहेगी। फिर दूसरी बात यह भी देखिये कि जितने काल बाह्य पदार्थोंका समागम बना हुआ है उतने काल भी हम क्या शान्तिका लाभ पाते हैं या क्षोभकी बात पाते हैं? ये वैषयिकसुख जो पञ्चेन्द्रिय द्वारोंसे उत्पन्न होते हैं। यह वैषयिक सुख क्षोभ हुआ था तब विषयसुखोंमें प्रवृत्ति हुई। क्षोभ हो रहा है वैषयिक सुखोंकी प्रवृत्तिमें। और, उन वैषयिक सुखोंको भोगनेके बाद भी उसको क्षोभ रहेगा। तो जिसको जगतके मोही प्राणी सुख मानते हैं उस सुखके आदिमें क्षोभ, उस सुखमें वर्त रहे में क्षोभ और उस सुखके बादमें भी क्षोभ। और इसके अतिरिक्त इन प्रसंगोंमें जो कर्मबन्ध कर लिया गया है उनके उदयकालमें आगे भी क्षोभ। तो इन बाह्य वस्तुओका समागम मेरे हित के लिए नहीं है। मुझे अपना ही स्वरूप जानना होगा और अपने ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व में ही गुप्त और संतुष्ट होना होगा अन्यथा जैसे अब तक संसारमें जन्म-मरण करते हुए भ्रमते आये हैं यही परम्परा हमारी रहेगी। अब कुछ अपनी वर्तमान सुविधा पर भी दृष्टि करें, यह जीव अनन्तकाल निगोदमें रहा। निगोद होता है साधारण वनस्पति का जीव, जहां एक श्वासमें १८ बार जन्म-मरण होता है, और श्वास भी सुख वाली नहीं किन्तु निरोग पुरुषके हाथकी नाड़ी एक बारमें जितने समयको उचकती है उतने

से श्वासमें १८ बार जन्ममरण होता है, जिसका प्रमाण एक सेकेण्डमें करीब २२-२३ बार जन्ममरण हो जाता है। ऐसी जहां दुर्दशा है उसमें हम आपने अनन्तकाल खोया, वहांसे निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति आदिक एकेन्द्रियमें जन्म लिया। सो वह भी कैसी दुर्दशा है सो तो देख ही रहे हो? इससे कुछ आगे बढ़े तो दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय आदिकमें जन्म लिया, सो उन कीड़ा मकोड़ोंकी हालतको भी देख लो, कैसी उनकी दयनीय दशा है। पञ्चेन्द्रिय हुए तो मानो पशु-पक्षी छोटे नारकी कुदेव भी हुए तो वहां भी इस जीवने कभी शान्तिका मार्ग न पाया। आज हम आप उत्तम मनुष्य हुए, भले ही यह पंचमकाल है, भले ही हीन संहनन है, पर आज जैसे समागम पाये वे सब दुर्लभ समागम हैं। मनुष्यभव पाया, अच्छे कुलमें जन्म पाया और गुजारा करनेकी सब सुविधा भी पायी, इतना सबकुछ पानेके बाद और जैन-शासन पानेके बाद जैन तत्त्वोंको समझनेकी योग्यता पानेके बाद यदि हम तत्त्वज्ञानके रुचिया न बन सके और यथार्थ तत्त्वमें उपयोग नहीं लगाते और अपने परमार्थस्वरूप में अपना अनुभव नहीं करते तो यह मनुष्यभव पाना बिल्कुल बेकार है। इससे हमने कोई लाभ नहीं उठा पाया।

प्रभुभक्ति सत्संग व स्वाध्यायके उपायोंसे विशुद्धिमें बढ़कर सहज चित्स्वभावके अनुभवनका अनुरोध—प्राप्त सुमानभवका लाभ पानेके लिए तीन बातें करनी होंगी। (१) स्वाध्याय (२) सत्संग और (३) प्रभुभक्ति और प्रभुभक्तिका ही निकटका रूप है गुरुभक्ति। तो भक्ति सत्संग और स्वाध्याय अब इन तीन बातोंमें अपनी बात तो सोचिये कि हम इसको कर पाते हैं या नहीं करते। यदि नहीं करते तो यह बहुत बड़ा प्रमाद है और इस प्रमादमें जैसे इतनी उमर खोया ऐसे ही प्रमाद चलता रहे तो यह सब खो दिया। इस कारण जितनी उम्रमें जिस समय कुछ अपने आत्मतत्त्वका बोध जगे, आत्महित की भावना बने तो उसको उसी समयसे यथाशक्ति उसका प्रायोगिकरूप दे देना चाहिए। वह महाभाग है, धन्य है जिसके चिरकाल बहुत समय ऐसी प्रतीति रहे कि मैं देह कर्मादिक सब जगसे न्यारा हूं, अखण्ड एक चैतन्यमात्र हूं, ऐसा अपना अनुभव बनायें तो यह है वास्तविक धर्मपालन, यह तो खुदके सोचनेकी बात है। कोई भी प्राणी दूसरेको धर्मपालन नहीं करा सकता। खुदका ही सम्यक्त्व हो, खुदका ही ज्ञान हो, खुदका ही रमण बने, तो धर्मपालन होगा। धर्मपालन यह खरीदसे भी नहीं होता, अन्यके प्रयोगसे भी नहीं होता है, यह तो स्वयं समझना होगा। तो ऐसे अंतस्तत्त्वमें

मोक्षपाहुण्ड प्रवचन

उपयोग रहे तो सर्व आश्रवोंका निरोध हो जाता है। फिर कार्माणवर्गणाओंमें कर्मत्व वहीं आता। जो आया उसकी गिनती नहीं, वह अतिअल्प और पहले बंधे हुए कर्म उसके अधिक अधिक रूपसे खिरते रहते हैं। यह सब है केवल आत्मश्रद्धानका प्रताप। बारबार इस ध्यानमें आना है कि मैं केवल चैतन्यमात्र पदार्थ हूं, इस मुझसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। बाहरका कोई पदार्थ मुझसे विकार नहीं कराता, मैं ही अपने स्वरूपको भूलकर बाह्य पदार्थोंमें लगता हूं तो विकार जगते है। तो जितना अधिक दृष्टि अपने आत्मतत्त्वपर रहेगी हम उतना ही जागरूक रहेंगे अपने अंतस्तत्त्वमें और निर्वाध निर्विघ्न हम मोक्षमार्गमें बढ़ सकेंगे। बात एक ही सोचना है कि मैं सहज चैतन्यमात्र हूं, अन्य कुछ नहीं हूं, मामा, मामी, नाना, नानी, दादा, दादी आदि ये कुछ नहीं हूं। मैं तो निज सहज चैतन्यमात्र हूं।

जो सुत्तो ध्वहारे सो जेई जगए सकज्जम्मि ।

जो जगदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥३१॥

व्यवहारसुप्त योगीका आत्मजागरण व व्यवहारजागृत योगीका आत्मसुप्तपना—जो मुनि व्यवहारमें सोया हुआ है अर्थात् लौकिक कार्योंसे उदासीन रहता है वह अपने काममें जगता है अर्थात् कर्मबन्धमें सावधान रहता है, जो मुनि व्यवहारचारित्र्यमें जगता है मायने लोक व्यवहारके कार्योंमें सावधान रहता है वह अपने काममें सोता है, मोक्षमार्ग उसका नहीं चलता है, जैसे कहते हैं कि एक म्यानमें दो तलवार नहीं रहते, ऐसे ही एक उपयोगमें दो बातें न रह सकेंगी कि लौकिक कार्योंमें उमंग भी रहे और मोक्षमार्ग भी बना रहे, जिसको लौकिक बातोंकी उमंग है उसको मोक्षमार्ग नहीं, जिनको मोक्ष मार्ग है उनको लौकिक कार्योंमें उमंग नहीं। मुनिका कार्य ज्ञानध्यान और तपश्चरण है। ज्ञान मायने ज्ञाता मात्र रहना, ध्यान मायने आत्मतत्त्वका एकाग्र चिन्तन होना और तपश्चरण मायने अनशन आदिक अनेक प्रकारके नियंत्रण, कायक्लेश। तो उत्कृष्ट काम तो ज्ञान है, ज्ञातामात्र रहे, जाननहार रहे, रागद्वेषसे रहित एक जाननकी स्थिति, पर यह न बने तो ध्यानमें रहे, भावनामें रहे और यदि ध्यान भी न बने तो तपश्चरण करे। सबका प्रयोजन है ऐसी स्थिति पाना जहां रागद्वेषके विकल्प न जगें, केवल जाननहार हों। सो जो योगी व्यवहारमें नहीं गिरा वह अपने कार्यमें, आत्मध्यानमें, आत्मानुभवमें आत्माभिमुख रहनेमें सावधान रहता है और जो योगी व्यवहारमें जाग रहा, सावधान हो रहा, लोक व्यवहारमें उमंग रख रहा वह अपने **कार्यमें** सोया हुआ

है। अब इन दोनोंमें हेय उपादेयका निर्णय बनावें। लोकव्यवहारमें पढ़नेसे आत्माका क्या लाभ? उस समय भी यह विकल्प करके क्षोभ कर रहा और आगे भी क्षोभसे कर्मबंध होगा तो आगे भी क्षोभ मिलेगा, और एक आत्मदृष्टि रखनेसे तत्काल शान्ति है और शान्तिका सिलसिला बन जाता है। इससे योगी पुरुष सर्वपरिग्रहोके त्यागी साधु-जन अपने कार्यकी ही धुन रखते हैं और व्यवहारसे उपेक्षा करते हैं।

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं।

झायइ परमप्पाणं जह भणिय जिणवरिंदोह ॥३२॥

योगीको व्यवहारविरति व परमात्मतत्त्वध्यानका उपदेश—उक्त गाथामें जैसे बताया है कि व्यवहारमें उमंग रखने वाला आत्मा कार्यसे गिर जाता है और व्यवहारमें उमंग न रखने वाला आत्मा कार्यमें बढ़ता है, सो ऐसा जानकर योगी पुरुष व्यवहारको सर्वथा त्याग देते हैं। जिस योगीने सर्वपरिग्रहका त्याग किया। गात मात्र ही जिसका परिग्रह समझ लीजिए, परिग्रह तो नहीं है, केवल शरीरमात्र ही जहां रह गया है ऐसे योगी भावश्रमण इस आत्मतत्त्वकी ही सदैव धुन रखते हैं और अपनी ऐसी प्रतीति रखते हैं कि यह मैं सबसे निराला केवल चेतनामात्र हूं। सो उसने सर्वप्रकारके व्यवहार को तजनेकी ठान ली। सो वही योगी परमात्माका ध्यान करता है, परमात्मतत्त्व-सहज परमात्मतत्त्व, और कार्य परमात्मतत्त्व इन दो रूपोंमें प्रयोग करना है, कार्य परमात्मतत्त्व तो अरहंत और सिद्धका स्वरूप है रागद्वेषरहित केवल जाननहार और सहज स्वरूप है केवल ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमात्र। ऐसा योगी परमात्माका ध्यान करता है, हम आपका शरण है शुद्ध तत्त्वका उपयोग करना, क्योंकि किन्हीं भी विषयोंपर किया हुआ उपयोग आश्रयभूत कारण मिल जानेसे व्यक्त विकार बना है और विषयका आश्रय छोड़कर मात्र ज्ञानतत्त्वका आश्रय रखने वाला योगी अपने स्वभावमें तृप्त रहता है। सो सर्व व्यवहारको तजकर यह योगीपरमात्माका ध्यान करता है। जगतके जितने भी जीव हैं उनकी वर्तमान परिस्थिति तीन प्रकारके आत्माओंमें से किसी आत्माकी है—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा, बहिरात्मा तो वह है जो बाहरमें आत्मा समझे, अपने स्वरूपसे अलग भिन्न अन्य तत्त्वोंमें अपना सत्त्व समझे, यह मैं हूं, वह है बहिरात्मा, भूला हुआ, मूढ़, अज्ञानी, मोही, अपनी सुध नहीं है उसे। और, अन्तरात्मा कहलाता है अन्तःस्वरूपको आत्मा मानना। यह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, अपने आपका जो सहज चैतन्यस्वरूप है उस रूप अपने आपको मानता है। और, परमात्मा-उत्कृष्ट

आत्मा, जहां ज्ञान और आनन्द उत्कृष्ट प्रकट हुआ है ऐसे आत्माको परमात्मा कहते हैं। सो बहिरात्मा बने रहनेमें संसारभ्रमण है, संसारके संकट हैं, अन्तरात्मा होना परमात्मा बननेका उपाय है। परमात्मतत्त्वका ध्यान करता हुआ अन्तरात्मा निर्दोषता की ओर बढ़ता है और परमात्मा आत्माकी सर्वोत्कृष्ट दशा है। जहां पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द प्रकट हुआ है, तो परमात्मतत्त्वका ध्यान करनेका यहां अनुरोध किया है, किसको ? अन्तरात्मा मुनिको।

पंचमहन्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तोसु गुत्तीसु ।

रयणत्तयसंजुत्तो ज्ञाणज्जयण सया कुणह ॥३३॥

पञ्च महाव्रतोंसे युक्त योगीको ध्यानाध्ययनका उपदेश—कुन्दकुन्दाचार्य मुनियोंको उपदेश कर रहे हैं कि ५ महाव्रतोंसे युक्त होकर ५ समिति ३ गुप्तियोंमें संयुक्त होकर रत्नत्रयकी मूर्ति बनकर ध्यान और अध्ययन सदा करें। लक्ष्य एक ही है कि अविकार सहज ज्ञानस्वभावमें अपना अनुभव करना कि यह हूं मैं। इसके लिए ही सर्वप्रकारके व्यवहार धर्म बताये गए हैं, तो जो कर्तव्य व्यवहारमें बताये गए उनके खिलाफ यदि क्रिया करे तो उसमें आलस्य और विकल्प रहते हैं जिससे आत्मध्यान नहीं बनता, जैसे अहिंसा महाव्रत। यदि इसके विरुद्ध हिंसाका परिणाम रखे तो उसका परजीवों की ओर चित्त चला गया और किसी परके बारेमें विकल्प बना रहा उसे आत्मध्यान क्या बनेगा ? सत्यमहाव्रत इसके खिलाफ यदि चले, झूठ बोले, झूठ बोलनेकी आदत रखे, झूठसे स्नेह रखे तो उसका उपयोग ही बदल गया, किसी परतत्त्वकी ओर उसको शल्य हुई है। तो ऐसा पुरुष आत्मध्यान कैसे करेगा ? इससे वह सत्यमहाव्रतका पालनहार है, अहिंसाव्रतका पालनहार है। अचौर्य व्रतके खिलाफ चोरीका विकल्प बने, चाहे वह छोटा हो, बड़ा हो, किसी भी परवस्तुके बारेमें चित्त डिगाना या हटाना, घुमाना ये सब विकल्प हैं चोरीके, ऐसा खोटा विकल्प रखते हुए कोई आत्मध्यानमें कैसे बढ़ेगा ? ब्रह्मचर्य महाव्रतके विरुद्ध कुशील पाप, किसी भी परस्त्रीविषयक या अन्य किसी प्रकार कामवासनायें बनाना ऐसा जहां अशुभोपयोग चल रहा हो वहां आत्मध्यान नहीं होता। अतः इस पापका त्याग करना, ब्रह्मचर्य महाव्रतकी साधनामें रहने वाले भव्य जीव अपने आत्मध्यानके लक्ष्यमें रहते हैं। परिग्रहत्याग महाव्रतके खिलाफ क्या करेगा ? परिग्रहसंचय, तो उस तृष्णामें रहने वाले प्राणी कैसे आत्मध्यानकी दृढ़ता कर सकेंगे ? तो पंच महाव्रतसे संयुक्त होना मुनियोंका कर्तव्य है।

पञ्च समितियोंसे युक्त योगीको सदा ध्यानाध्यन करनेका उपदेश—५ समिति, ईर्या-समितिमें मुनि महाराज चार हाथ आगे जमीन देखकर चलते हैं, दिनमें चलते हैं, अच्छे कामके लिए चलते हैं, अच्छे भाव रखकर चलते हैं, ईर्यासमितिमें चार बातें होती हैं। केवल इसका ही नाम ईर्यासमिति नहीं है कि आगे जमीन देखकर चलना और हिंसा टालना वह भी एक अंग है, मगर चार बातें साथ हों तो उसका नाम ईर्यासमिति है। मानलो रातको गमन करते हैं, तेज उजाला रखकर विहार करते हैं तो देखकर तो चल रहे मगर वह ईर्यासमिति नहीं है। दिनमें ही विहार हो, कोई दिनमें ही विहार कर रहा और जमीन देखकर चल रहा, पर जा रहा है किसी छोटे कार्यके लिए तो उसकी वह ईर्यासमिति नहीं है। मानो वह अच्छे कार्यके लिए जा रहा है तीर्थयात्राके लिए जा रहा, दिनमें जा रहा, चार हाथ आगे जमीन निरखकर जा रहा, मगर क्रोध-पूर्वक जा रहा, रोष सहित जा रहा तो वह ईर्यासमिति नहीं है। समितिका प्रयोजन है आत्माको ऐसा संयत रखना कि वह शुद्ध तत्त्वके ध्यानका पात्र रहे। दूसरी भाषासमिति हित मित प्रिय वचन बोलना। कोई हितकारी भी वचन बोले मगर अपरिमित और अप्रियताके ढंगसे बोले तो वह भाषासमिति नहीं है। कोई परिमित बोल रहा, प्रिय बोल रहा, पर हितकारी नहीं है, किसी विषयकी ओर लगाने वाला वचन है वह भाषासमिति नहीं है। कोई हित और मित दोनों बोल रहा मगर अप्रिय शब्दोंसे बोल रहा तो वह भाषासमिति नहीं है। इसमें भी तीनों ही बातें होनी चाहिए। तो ऐसी समितिसे युक्त मुनि अपने आपको ऐसा साफ निःशल्य रखता है कि जब चाहे उसे आत्मध्यानका अवसर मिलता है। एषणासमिति-शुद्ध निर्दोष आहार लेना यह एषणा-समिति है। एषणा शब्दका अर्थ है खोज। भिक्षावृत्ति पूर्वक शुद्ध निर्दोष आहार लिया तो परिणाम एक सावधान रखा गया वहां, जिससे कि यदवा तदवा प्रवृत्ति नहीं होती है। तो ऐसे सावधान हृदयमें आत्मध्यान होनेकी योग्यता रहती है। आदान निक्षेपण समिति—मुनि महाराज किसी चीजको उठाये, पिछीसे साफ करें और उस वस्तुको नीचेसे भी साफ कर उठायेंगे, रखेंगे तो इस प्रकार शुद्ध करके रखेंगे, यह सब आदान निक्षेपण समिति है। प्रतिष्ठापना समिति मलमूत्र खकार थूक आदिकको ऐसी जगह क्षेपेंगे जहां जंतु न हों, जंतुरहित जमीनपर मल मूत्रादिक क्षेपण करें। समितियोंमें रह रहे मुनिजन रत्नत्रयसे संयुक्त होते हुए ध्यान और अध्ययनको करें, ऐसा आचार्यदेवका उपदेश है।

तीन गुप्तियोंसे सहित व रत्नत्रयसे युक्त होकर सदा ध्यान अध्ययन करनेका योगियोंको उपदेश—तीन गुप्तियां मुनि महाराज साधते हैं। मनको वश करना, वचनको वश करना और कायको वश करना। जब सहज अंतस्तत्त्वका परिचय नहीं है और सहज-तत्त्व परमात्मतत्त्वकी अनुभूतिसे जगने वाले सहज आनन्दका अनुभव नहीं है तो ऐसे पुरुषोंको मन वश करनेकी बातमें संदेह होता है कि ऐसा कैसे हो सकता? किन्तु जिसकी दृष्टि सहज ज्ञानानन्दके अनुभवके कारण आत्मस्वरूपपर ही टिकी हुई है ऐसा ही अपनेको अनुभवना, यही कल्याणका मार्ग है। तो जिनको सहज अंतस्तत्त्वकी धुन लगी है उनको मन, वचन, काय वश करना सुगम हो जाता है। तो इन तीन गुप्तियों में रहकर योगीजन ध्यान और अध्ययनको सदा करें। आत्माके स्वरूपका श्रद्धान् सम्यग्दर्शन है—मैं यह हूं, श्रद्धान्के साथ यह बात लगी हुई है कि उस तत्त्वके बारेमें ऐसा निर्णय है कि यही हितरूप है। और फिर जैसा श्रद्धान्में आया उस तत्त्वका ज्ञान बनाये रहना, उसीका ही उपयोग रखना ज्ञान है। और ऐसा ही यह उपयोग जब स्थिर रह जाय तो उसीको ही कहते हैं चारित्र। तो यों रत्नत्रयसे संयुक्त होते हुए योगीजन सदा ध्यान और अध्ययनको करें।

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुण्येव्वो ।

आराहणाविहाणं तस्सफल केवल णाण ॥३४॥

वास्तविक आराधना, आराधक, आराधानाधिष्ठान व आराधनाफल—हम आप सभी जीव आराधना बनाये रहते हैं, पर किसकी आराधना किया करते हैं, इसके अन्तरसे अन्तर आ गया है। किसी तत्त्वपर दृष्टि लगाये रहना, उसीको ही हितकारी रूपसे मानना यह कहलाता है आराधना। तो मोही पुरुष सचित्त परिग्रहके प्रति अपनी आराधना बनाये रहते हैं और ज्ञानी पुरुष रत्नत्रयकी आराधना बनाते हैं। मेरेको मेरे सहज स्वरूपकी श्रद्धा हो, उसीकी ही धुन हो, उसीको ही जानता रहूं और उसको ऐसा जानता रहूं कि दूसरी बात ही बीचमें न आये, ऐसे रत्नत्रयकी आराधना करता है ज्ञानी पुरुष और वही वास्तविक आराधना है। और ऐसी आराधनाका फल है केवलज्ञान। ज्ञानको जोड़ जोड़कर सर्वज्ञ कोई नहीं बन पाता। अभी इसे जाना, अब कुछ जाना, और जाननेको जोड़ते जायें, सर्वज्ञ बन जायें, ऐसा नहीं होता। भले ही मीमांसक लोगोंने यह स्वीकार किया है कि ज्ञानोंका संग्रह हो जाय, अनेकको जानते जावें, तो अनेक को जाननेका जो संग्रह है वह सर्वज्ञता बनाता है पर यह तथ्य नहीं है, बाह्य अर्थको जान जानकर कोई सर्वज्ञ नहीं बनता, किन्तु सर्व बाह्य अर्थोंका त्याग करके

केवल अविकार स्वभाव निज अंतस्तत्त्वमें ही ज्ञानको लीन करे, सबको भूल जाय, किसी भी बाह्य पदार्थको उपयोगमें न ले तो केवल अंतस्तत्त्वका उपयोग रखनेसे केवल-ज्ञान बन जाता है, पर ज्ञानोंको जोड़ करके सर्वज्ञता नहीं बनती। तो यही है आराधना अपने स्वरूपकी आराधना करना। उसका फल है निर्मल केवलज्ञान, सब जीवों को मोक्षमार्ग एक ही प्रकारका बताया है प्रभुने। कहीं मोक्षमार्ग दो तरहका नहीं हो जाता, भले ही परिस्थितिवश व्यवहार धर्मका कर्तव्य है, पालन करनेका सम्बोधन है, पर वह सब सुरक्षाके लिए है। जैसे युद्धमें ढाल और तलवार लेकर योद्धा उतरता है तो ढाल तो दूसरेका आक्रमण बचानेके लिए है और तलवार प्रहार करनेके लिए है ऐसे ही हमारे व्रत, तप, शील, उपवास आदिक व्यवहारधर्म अपनेको बचानेके लिए हैं, सुरक्षित रखनेके लिए हैं कि कहीं गंदे भाव न हावी हो जायें। तो व्यवहारधर्मके वातावरणमें रहकर यह जीव अपनेको सुरक्षित बनाता है। कहीं व्यसन आदिकके विकल्प न जगें, ऐसी सावधानी बनाये है और उस सावधानीके समय यह आत्मस्वरूप की निरख करे तो इसको मोक्षमार्ग मिलता है, ऐसा आराधनाका फल है।

सिद्धो शुद्धो आदा सव्वण्ह सव्वलोयदरसो य ।

सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवल णाणं ॥३५॥

सिद्ध शुद्ध सर्वज्ञ सर्वलोकदर्शी आत्माकी केवलज्ञानरूपता—प्रभुने बताया है कि यह आत्मा शुद्ध है, सहज शुद्ध है और जो कर्मक्षयसे शुद्ध हुआ वह कर्मक्षयसे शुद्ध हुआ। यह आत्मा शुद्ध है, जिनको कर्मका क्षय हुआ वे तो निर्विकार हुए और आत्माके स्वरूपपर दृष्टि दें तो अविकार है। अविकार और निर्विकारमें अन्तर क्या है कि निर्विकारमें निर शब्द लगा है जिसका अर्थ है निर्गत, जिसके विकार निकल गए उसे कहते हैं निर्विकार, यह एक पर्यायरूप संकेत है। और, अविकार मायने विकार है ही नहीं, यह स्वभावका संकेत है, आत्माका स्वरूप स्वयं अविकार है, स्वरूप स्वयं विकार नहीं उत्पन्न करता। ऐसे विकाररहितको कहते हैं शुद्ध, इस जीवका नाम आत्मा है। जो निरन्तर जानता रहे सो आत्मा। अततिसततं जानाति इति आत्मा। आत्मा शब्द अत् धातुसे बना है और उसीसे ही आदित्य बना। आदित्य कहते हैं सूर्यको। सूर्य निरन्तर चलता रहता है और आत्मा निरन्तर जानता रहता है, इसकी शक्ति सर्वज्ञ-रूप है, ज्ञानका काम है जानना। किसे जानना? जो है उसे जानना। तो जो है उस सबको जानता है यह आत्मा और ऐसी शक्ति रखता है तो यह सर्वज्ञ है। और सब

मोक्षपाहुड़ प्रवचन

लोकका देखनहार है। यहां केवल ज्ञान और केवल दर्शनके सम्बंधमें यह बात जानें कि प्रभु परमात्मा केवल ज्ञानसे समस्त लोकालोकको जानते हैं और दर्शनसे क्या करते हैं? अगर लोकालोकका दर्शन करें तो वह तो एक परभावकी ओर गया अथवा ज्ञान की तरहका ही काम हुआ सो केवल दर्शनमें ध्वनित तो होता है, सबका दर्शन होता, पर असलियत यह है कि केवल ज्ञानसे जाने हुए आत्माका दर्शन होना केवलज्ञान है। जैसे ऐनामें पीछेका सारा चित्रण होता रहता है और ऐसे चित्रणवाले ऐनेको किसीने देखा तो उसने सबकुछ जाना। तो ऐसे ही सबको जाननेवाले आत्माको देखा तो उसने सबको देखा। तो ऐसा सर्वलोकदर्शी है, ऐसा जिनेन्द्र भगवानने बताया है और उसे केवलज्ञान समझें।

आवश्यक कर्तव्य करते हुए तत्त्वज्ञानमें बढ़ने रमनेका उपदेश—तत्त्वज्ञान और आवश्यक कर्तव्य ये दो चलने हैं जब इसकी प्रमाददशा है तब आवश्यक कर्तव्य व प्रयोग करने होते हैं। अप्रमत्त दशामें कुछ भी क्रिया या प्रयोग नहीं है, केवल तत्त्वज्ञानका परिणमन है और उससे पहले जहां तक प्रमाद बना हुआ है छठे गुणस्थान तक प्रमाद रहता है वहां तक समय-समयपर आवश्यक कर्तव्य करने होते हैं। नहीं तो तत्त्वज्ञान की बात फिर वहां नहीं हो पाती है। प्रमाद वहां बन जाता है। तो इसलिए मुनियों को ६ आवश्यक कर्तव्य कहा और श्रावकोंको कहा तो उन कर्तव्योंमें से गुजरते हुए शुद्ध अंतस्तत्त्वका कोई ध्यान करता हो तो वह सफल हो जायगा। कोई चीज जब प्रयोग करनी होती है तो बाधायें मालूम होतीं। क्या-क्या काम हैं, उन सबको आचार्य संतोंने पहले ही बता दिया है कि श्रावकजन ६ आवश्यक पालते हुए व्रत, तप, शील की प्रवृत्ति करते हुए अंतस्तत्त्वके ध्यानमें बढ़ें और मुनि भी अपने योग्य व्रतोंको पालते हुए अंतस्तत्त्वके ध्यानमें लगे। सो अपने लिए तीन कर्तव्य हो जाते हैं—(१) प्रभुभक्ति (२) स्वाध्याय और (३) सत्संग। इन तीनोंमें यदि किसी भी बातमें प्रमाद करते हों तो प्रमाद न करें। इन तीनोंके प्रयोगमें चलना चाहिए। तो उससे एक ऐसी प्रेरणा चलती रहेगी कि हम धर्मके कामोंमें सावधान बने रहेंगे।

रयणस्तयं पि जोई आराहुइ जो हु जिनवरमण ।

सो ज्ञायदि अप्पाणं परिहरदि पर ण सवेहो ॥३६॥

रत्नत्रयके आराधकके आत्माका ध्यान और परका परिहार—जो निकट भव्य पुरुष जिनवरके बताये हुए मार्गके अनुसार रत्नत्रयका ध्यान करता है वह अपने आपको

पाता है और समस्त परको त्याग देता है। रत्नत्रयके मायने क्या ? तीन सार बातें। रत्न नाम पत्थरका नहीं कहलाता। रत्न शब्दका अर्थ है जो जिसमें सार है वह उसमें रत्न है। कई शब्द ऐसे होते हैं कि जिनका कोषके अनुसार वाच्य न मालूम होनेसे भ्रम हो जाता है। जैसे सिंहासन, भगवान् सिंहासन पर विराजमान है। उस सिंहासन का अर्थ क्या है ? अनेक लोग तो उस सिंहासनके पाये सिंहके पञ्जेकी तरह बनाने लगे। सिंहके पैर जैसे आकार उनके पायेमें हो तो सिंहासन है, पर यह बात नहीं है, यह अर्थ नहीं है। सिंह कहते हैं श्रेष्ठको। सिंह मायने यह पशु सिंह नहीं है किन्तु सिंह आसन मायने श्रेष्ठ आसन। यहां कर्मधारय समास है न कि तत्पुरुष समास। याने सिंहका आसन नहीं किन्तु जो श्रेष्ठ है आसन सो सिंहासन। ऐसे ही रत्न क्या कहलाता ? जो जिसमें उत्कृष्ट हो वह उसमें रत्न कहलाता है। अब लोगोंकी दृष्टि भौतिक पुद्गलमें अधिक है, उन्हीं में उत्कृष्टकी छांट करते हैं तो उन्हें सबसे अधिक उत्कृष्ट मिले हीरा, मणि आदिक, तो उनका नाम रत्न कहने लगे। तो रत्न मायने सार। सार क्या है जगतमें ? अपने लिए अपना ज्ञान होना, अपनी रुचि होना और अपनेमें रम जाना यह है सार बात। ये तीन बातें भेदविक्षामें है, अभेदसे तो एक तत्त्व है ज्ञानमात्र, चैतन्यमात्र। यह ज्ञानमात्र आत्मा अपने आपको ज्ञानमात्र मानले और उसके साथ ही चूँकि एक सहज परम आनन्दका अनुभव हुआ है इस कारण यह ही सार हैं, यह ही उपादेय है, यह ही हमारे लिए शरण है, इस प्रकारकी ज्ञानमें दृढ़ता आती, वह ज्ञान हुआ, ज्ञानमें दृढ़ता हुई। और ऐसा ही ज्ञान बनाये रहना चारित्र हुआ है। जिसको यह परिचय हुआ है कि यह ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व यह ही मेरा सत्य स्वरूप है वह उसमें ही रमेगा। सत्य स्वरूपके मायने अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण अपनेमें जो स्वरूप हो वह है सत्यस्वरूप। परका सम्बंध पाकर कोई रूप बनता है तो वह सत्यस्वरूप नहीं है, क्योंकि वह औपाधिक है और मिट जाने वाला है। जो ध्रुव हो, सहज हो वह मेरा स्वरूप है और इस ज्ञानमात्र स्वरूपकी दृष्टिमें आकुलताका नाम नहीं रहता। आकुलता हुआ करती है नियमतः किसी परपदार्थका आश्रय करनेमें। यहां यह ज्ञानी अपने आपमें अपने ज्ञानमात्र स्वरूपको निहार रहा है और उसमें दृढ़ता ला रहा है और ऐसा ही ज्ञान बनाये रहना बस यह ही हुआ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

वस्तुकी द्रव्यपर्यायात्मकताकी अनिवारिता—आत्माका वह सहज स्वरूप क्या है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जिसकी दृष्टिमें व्याकुलताका नाम नहीं रहता । वह स्वरूप एक है, अवक्तव्य है । देखिये सत्में से द्रव्यत्व और पर्याय ये दो निकाले नहीं जा सकते । प्रत्येक वस्तु है और परिणमती रहती है, ये दो बातें नहीं निवारित हो सकतीं । जो शाश्वत है वह तो है द्रव्य । द्रव्याधिकनयकी दृष्टिमें जाना गया और जो क्षण-क्षणमें रूप है, परिणमन होता होता है, मुद्रायें होती हैं वे हैं पर्याय । द्रव्य भी अवक्तव्य है और अखण्ड है और पर्याय भी अवक्तव्य व अपने कालमें अखंड है । जैसे द्रव्य शाश्वत, अखण्ड है तो पर्याय अपने समय में अखण्ड है । नवीन पर्याय हुई वह भी अखण्ड है, याने उन पर्यायोंमें यह अन्तर नहीं जाना जा सकता है उस कालमें कि यह क्या परिणाम रहा है और क्या यहां हो रहा है यह बात नहीं बतायी जा सकती । मगर यह बात बतायी जाती कि तीर्थ प्रवृत्तिमें बताना ही पड़ता है तो वह भेद दृष्टिसे कथन हुआ है और उसका आधार क्या ? कि पहले द्रव्यमें भेद किया तब पर्यायमें भेद बना । द्रव्यमें भेदसे निहारनेका नाम है गुण और जब गुण समझे गए तो उनके आधारसे पर्यायमें भी भेद किया गया है । वस्तुतः है और परिणमता है । वह एक ही परिणमन है आत्माका, और ऐसा अनोखा विलक्षण परिणमन है कि उसका निमित्त पाकर कर्मका आश्रव भी हो रहा, कर्मका बंध भी हो रहा, कर्मका सम्बर भी हो रहा, कर्मकी निर्जरा भी हो रही, चारों तत्त्वोंमें एक परिणमनका निमित्त पाकर हो रहे । तो वह कैसे एक अवक्तव्य विलक्षण परिणमन है जिसको समझाते समय यह कहना पड़ा कि उस परिणमनमें जितने अंशमें राग है उतने अंशमें आश्रव बंध है जितने अंशमें राग नहीं है उतने अंशमें सम्बर निर्जरा है । यह भेद करके बताना पड़ा, वस्तुतः जैसे द्रव्य अखण्ड है ऐसे ही वह पर्याय भी अपने समयमें अखण्ड है । बस उतनी बात सबकी सबमें चल रही है । इससे आगे कुछ नहीं है, इससे आगे जितना जो कुछ प्रतिपादन है वह व्यवहार है ।

व्यवहारकी प्रयोजकता—व्यवहार चूंकि वस्तुस्वरूपके अनुरूप प्रतिपादन है इस-लिए झूठ नहीं है । कहीं झूठके मार्गसे सत्यकी पहिचान नहीं होती, पर व्यवहार और परमार्थ क्या है इस निर्णयका आधार भेद और अभेद है । उस वस्तुको भेदसे पहिचाना यह व्यवहार हुआ और भेदसे पहिचाननेका व्यवहार प्रयोजनवान है पहली भूमिमें । अब पहिचान करके फिर एक उस परमार्थ अखण्डका ही स्वाद लेना चाहिए । तब एक प्रयोजनवान है केवल यह शुद्धनय । तो शुद्धनयसे पहिचाना गया जो आत्मा का अंतस्तत्त्व है वह वचनमें नहीं आ सकता फिर भी वचनमें लाये बिना **काम** भी नहीं

चल सकता। तीर्थप्रवृत्ति कैसे हो? लोगोंको स्वरूपका ज्ञान कैसे बने, इसका उपाय सिवाय भेद करके समझानेके अन्य कुछ नहीं है। भेद करके समझते गए पुरुष फिर भेदको छोड़कर अभेदका स्वाद ले, यह उसकी कला है, पर उसको बतानेका उपाय अन्य कुछ हो नहीं पाता। तब भेद दृष्टिसे निरखा तो पहले शक्तियोंका परिचय बना। इस आत्मामें दर्शनशक्ति, ज्ञानशक्ति और चारित्र शक्ति है और उनके ही प्रसंगमें आनन्द शक्तिका भी परिचय है।

आत्माके दर्शनगुण और ज्ञानगुणका दिग्दर्शन—दर्शनशक्तिके मायने आत्मामें निजमें निजी खुदकी झलकका स्वरूप। ज्ञानशक्तिके मायने ऐसी शक्ति जिसके प्रतापसे अन्य सब पदार्थोंकी यहां झलक चलती जाय। जैसे दर्पण है, यदि उसमें खुदकी झलक नहीं तो बाह्य पदार्थोंकी झलक नहीं हो सकती। तो वहां दो कलायें हैं, दर्पण खुदमें भी चमचमाहट रख रहा है और बाह्य पदार्थोंका भी प्रतिबिम्ब ले रहा है। प्रतिबिम्ब लेता हुआ दर्पण खुदकी चमचमाहटको नहीं छोड़ रहा है। भले ही उस प्रतिबिम्बके समय दर्पणकी स्वयंमें चमचमाहट तिरोहित है, यदि सारे दर्पणपर प्रतिबिम्ब आ गया तो लो चमचमाहट नहीं नजर आती है उस दर्पणकी खुदकी, लेकिन यदि न हो चमचमाहट तो प्रतिबिम्ब भी नहीं हो सकता। ऐसे ही यह आत्मा अपने ही स्वभावसे सत्को जानकर सत्तोंको जानने वाले स्वयंकी चमचमाहट झलक प्रकाश निरन्तर बनाये रहता है। जैसे भगवानमें दर्शन और ज्ञान दोनोंके परिणमन निरन्तर चलते हैं ऐसे ही छद्मस्थमें भी दर्शन और ज्ञान दोनोंके परिणमन निरन्तर चलते हैं। अन्तर केवल उपयोगका है, भगवान दोनोंको उपयोगमें एक साथ लेते हैं, छद्मस्थ उपयोगमें दर्शन और ज्ञान दोनोंको एक साथ नहीं ले पाते। जब दर्शनोपयोग है तब ज्ञानोपयोग नहीं, जब ज्ञानोपयोग है तब दर्शनोपयोग नहीं, मगर दर्शनगुण और ज्ञानगुण दोनों हैं सो उनके परिणमन निरन्तर ही चल रहे, कोई गुण परिणमन शून्य नहीं होता।

द्रव्य क्षेत्र काल भावसे आत्माका परिचय—अपने आत्माको किस प्रकार निरखा जावे। पदार्थोंके निरखनेके ४ उपाय होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। और भावके दो प्रकार करनेसे याने भेदरूप भाव और अभेदरूप भाव देखनेसे ये ५ प्रकार हो जाते हैं पदार्थके निरखनेके। जैसे कोई पौद्गलिक, ढेला पदार्थ लिया, उसको जानना है तो द्रव्यसे यह है जो कि पिण्डरूप है, क्षेत्रसे यह इतना घेरा लिए हुए है, कालसे इसका वर्तमान यह परिणमन है, भावसे इसमें इस प्रकारके गुण हैं। आत्माको देखिये—आत्मा

द्रव्यसे गुण पर्यायोंका पिण्ड है। अनन्त गुण, अनन्त पर्यायों और भूत भावी अनन्त पर्यायोंको लेकर, गुण पर्यायका पिण्ड आत्मद्रव्य है, यह द्रव्यसे देखनेमें समझमें आ रहा, क्षेत्रसे यह असंख्यात प्रदेशी है। यह वर्तमानमें शरीर प्रमाण है यह ध्यानमें आया। काल दृष्टिसे यह शान्त है, अशान्त है, कषायग्रस्त है, कषायविहीन है, इस तरहकी परिणतियां दृष्टिमें आती हैं और भावदृष्टिसे इसके गुण दृष्टिमें आते। ज्ञानदर्शन, चारित्र, आनन्द, शक्ति आदिक अनन्त गुण इसमें हैं। ये चार बातें बतायी गईं।

अभेद भाव स्वभावके ज्ञानमें आत्मानुभवका अवसर—अब यह देखिये कि परिचय तो हुआ आत्माका चारोंसे मगर आत्माका अनुभव किससे बनेगा। अनुभव किसे कहते? ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, यह है अनुभवकी मुद्रा। ज्ञानमें मात्र ज्ञानस्वरूप ही ज्ञेय हो रहा हो। और वह होता है केवल ज्ञानपरिणमन द्वारा, इन्द्रिय द्वारा नहीं, मन द्वारा नहीं। भले ही यह मन बहुत देर तक याने आत्माके बहुत निकट तक यह ले जाता है उपयोगको। मगर उपयोग द्वारा उसको अनुभवते समय मनका काम नहीं रहता। मात्र उपयोग और यह सहज परमात्मतत्त्व इन दोनोंका एकीकरण है। तो आत्मानुभवकी बात कह रहे हैं कि आत्माको अनन्त गुणात्मक देखा, अनन्त शक्तिवाला देख रहे। उस देखनेमें क्या आत्मानुभव बनता है? नहीं बनता। आत्माका परिचय मात्र हो रहा, परिचय होना, अनुभव होना, इन दोनोंमें अन्तर है। परिचय तो दूसरे के बुखारका भी हो जाता, इतनी डिग्री बुखार है, पर दूसरेके बुखारका अनुभव नहीं होता। परिचय तो अपने आपके इन गुणोंका भी किया जा रहा मगर जब यह परिचय हो रहा है तो वहां परत्व है, स्वत्व नहीं बना। स्वत्व बनता है अनुभूतिमें। स्व होकर भी पर चलता रहता है, अच्छा जब क्षेत्रकी दृष्टिसे आत्माका विचार करते हैं कि यह असंख्यात प्रदेशी है, शरीरप्रमाण है, तो क्या इस उपयोगमें आत्माका अनुभव बनता है? नहीं बनता। परिचयके लिए आवश्यक है सब समझना, पर अनुभूतिकी दशा इन परिचयोंमें नहीं चल रही, तब फिर काल दृष्टिसे अपने आत्माको देख रहे कि यह क्रोधमें है, मानमें है, मायामें है, लोभमें है, समतामें है। जिस किसी भी पर्याय में हैं उस पर्यायको निरख रहे हैं तो उस पर्यायके निरखनेके समय क्या आत्मानुभूति है? नहीं है, क्योंकि आत्मानुभवमें अद्वैत, एकत्व, अभेद, जिसे कहो ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, यह स्थिति बनती है, वह स्थिति भावमें, गुणभेदमें ही नहीं प्राप्त होती। तब ५वां प्रकार है अभेदभावजैसे भेदभावमें अनन्तगुण दृष्टिमें आये तो अभेद भावमें असंख्य अवक्तव्य

असाधारण चैतन्यस्वरूप दृष्टिमें आया । और इस उपायसे यह भव्य आत्मानुभवमें सफल हो जाता है ।

ज्ञानमात्र परभाव शून्य भावनामें शुद्ध आत्माका दर्शन—अपने आपको निरखना है ज्ञानमात्र । ज्ञानमात्र देखा उसीका ही अर्थ है परभावशून्य, किन्तु उसका और समर्थन करनेके लिए व्यतिरेक द्वारा बताते हैं कि यह मैं सहजस्वरूप परभावसे निराला हूं । परभाव, परका निमित्त पाकर होने वाले भाव । यद्यपि रागद्वेषादिक परके भाव नहीं हैं, ये जीवके भाव हैं मगर परका निमित्त पाकर होने वाले भाव परभाव कहलाते हैं क्योंकि उन परभावोंका अन्वय व्यतिरेक कर्मोदयके साथ है, जीवके साथ नहीं है । यह भी बात ध्यानमें लाने योग्य है कि आत्मामें जो रागद्वेषादिक भाव जगते हैं, कल्पनायें बनती हैं उनका अन्वय व्यतिरेक जीवके साथ नहीं, किन्तु कर्मविपाकके साथ है । अन्वयव्यतिरेकका मतलब ? कर्मविपाकके होने पर ही होना, कर्मविपाकके न होनेपर न होना, यह सम्बंध विकारका निमित्तके साथ है, पर विकार निमित्तका नहीं है, वह विकार निमित्तकी परिणति नहीं है, किन्तु वह है इस उपादानकी परिणति । जिसे यों कहो कि निमित्तने कुछ किया नहीं और निमित्त सन्निधान बिना होता नहीं । इसका मतलब क्या है ? जैसे हम धूपमें जा रहे हैं और सड़कके किनारे एक पेड़ खड़ा है उसके नीचेसे भी हम गुजरे और उस समय हमारे शरीरमें छाया पड़ी तो बताओ उस छाया को क्या पेड़ने किया ? पेड़ तो पेड़के प्रदेशोंमें है, पेड़ जो कुछ कर पायगा सो अपने ही प्रदेशोंमें कर पायगा । जो भी अदले बदले, कुछ भी बात हो पेड़की वह पेड़में होती, पेड़से बाहर कुछ न हो पायगा । तो वह छाया पेड़ने नहीं की । तो फिर किसने किया ? उपादान दृष्टिसे उत्तर हुआ कि चूंकि यही शरीर छायारूप परिणम गया तो वह छाया परिणति शरीरकी है । लेकिन वृक्षके सान्निध्य बिना वह छाया परिणति नहीं बनी तब वहां यह कहना चाहिए कि निमित्त प्राप्योपादानं स्वप्रभाववत्, निमित्तको पाकर उपादान अपने प्रभाव वाला हो जाता है, वह प्रभाव अन्यका नहीं है । भाव प्रभावमें कुछ फर्क नहीं, प्रकृष्ट भावको प्रभाव कहते हैं, पर उपादानने यह प्रभाव निमित्त सान्निध्य में प्रकट किया है, इस कारण वह नैमित्तिक है, इस कारण वे विकार नैमित्तिक हैं । यद्यपि जीवने ही परिणमन किया, पर कर्मविपाकके अनुरूप अपनेमें वह प्रभाव पैदा किया इस कारण वह नैमित्तिक है । उससे मैं सूना हूं शुद्ध आत्मा ।

एकत्वविभक्त आत्माका शुद्धत्व—शुद्ध आत्माका अर्थ यह नहीं कि रागद्वेषरहित

आत्मा वह भी अर्थ है प्रकरणवश । जहां निज शुद्ध आत्माकी चर्चा चल रही हो वहां रागद्वेषरहित आत्मा यह अर्थ न करना चाहिए क्योंकि वर्तमानपरिणमन रागद्वेष रहित हैं नहीं, किन्तु क्या करना कि पर और परभावोंसे निराला और अपनी ही शक्तियोंमें तन्मय, इसे कहते हैं शुद्ध । जैसे शुद्ध दूध मायने अन्य पदार्थसे निराला और अपनी सब शक्तियोंमें सम्पूर्ण, उसे कहते हैं शुद्ध तत्त्व, ऐसे ही निज शुद्ध आत्मा अपने सत्त्वके कारण जो अपनेमें जौहर है, जो अपनेमें चमत्कृति है, अपना स्वरूप है उस स्वरूपसे सम्पूर्ण है, पर अन्य पदार्थोंसे अत्यन्त जुदा है, अन्य पदार्थोंसे अत्यन्त जुदा और अपने आपके स्वभाव में तन्मय ऐसे आत्मतत्त्वको निरखनेका नाम है शुद्ध आत्माका ध्यान करना । यह ध्यान ही धर्मपालन है, धर्मपालनमें यह ही किया जाता है और जिसके जितनी इसकी दृढ़ता है उसके उतना ही धर्मपालन चल रहा ।

व्यवहारधर्मपालनसे अपनेको सुरक्षितकर परमार्थधर्मपालनमें निःशंक प्रगतिकी संभवता— धर्म कहीं बाह्य पदार्थोंसे नहीं आ रहा, शरीरकी क्रियासे नहीं आ रहा । धर्म तो आत्मा में अन्तः प्रकाशमान स्वरूपके आलम्बनसे आ रहा है, पर इस स्वरूपावलम्बनके लिए चलने वाले पुरुषको पूर्व संस्कारवश अनेक विघ्न आ रहे, विघ्न क्या ? परपदार्थोंके उपयोग । उन विघ्नोंको टालनेके लिए, उन विघ्नोंसे तत्काल मुक्त होनेके लिए व्यवहार धर्मका पालन है । और व्यवहारधर्मके पालनमें अपने आपको सुरक्षित रखते हुए जितने अंशसे निज सहज स्वभावकी आराधना चल रही है उतने अंशमें धर्मपालन हो रहा है, सो वहां विशेष अन्तर नहीं, गमन नहीं, किन्तु फेर मात्र है । यह उपयोग उस ज्ञान में रहते हुए भी ज्ञानकी ओर अभिमुख न था । अब यह उपयोग जहां बस रहा है वहां अभिमुख हो गया, इतना दृष्टिका फेर है । कोई बड़ा व्यायाम नहीं है, बड़ा परिश्रम नहीं है । कहीं आने जाने उठाने धरनेकी बात नहीं है, किन्तु उपयोग जहां था वहां का परिचय करने लगा । अज्ञानदशामें इसकी स्थिति बैटरीकी लाइटकी तरह थी । जहां से प्रकाश निकल रहा वहां का तो प्रकाश नहीं चलता, दूर फिक रहा । तो यह उपयोग दूर प्रकाश पा रहा, पर जिस प्रकाशमें यह पड़ा है उस प्रकाशको नहीं पा रहा है । अब यह स्वप्रतिष्ठ प्रकाशको पा रहा है बस यह है एक फेर और सही दृष्टि का आना । तो अपने आपको इस ज्ञानीने ज्ञानमात्र परभावशून्य निरखा । ऐसे ही सब कुछ निरन्तर बने रहनेका नाम चारित्र्य है । इस चारित्र्यमें भी बाधाएँ आती हैं उन बाधाओंको तत्काल दूर करनेके लिए व्यवहार चारित्र्यका पालन होता है और व्यवहार-

चारित्रके पालन में अपनेको सुरक्षित बनाकर योग्य पात्र बनाकर फिर वह अन्तरङ्ग चारित्रमें रमता है। ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो का प्रयोग जितने अंशमें यह करता है उतने अंशमें धर्मपालन है। अपना कल्याण कितना सुगम है, कितना स्वाधीन है कि जिसके लिए बाहरमें कुछ आधीनता या श्रम नहीं है। ऐसे अंतस्तत्त्वके जाने बिना इस जीवने अनेक परवस्तुओंमें लगाव लगाकर भटक-भटककर जन्म मरण करते हुए अनन्तकाल खोया। अब यदि यह खुदका अन्तःस्वरूप परिचयमें आये, अनुभवमें आये तो ये जन्ममरणके संकट सदाके लिए छूट जायेंगे।

ज जाणइ तं णाणं ज पिच्छइ त च दंतणं जेय ।

तं चारित्तं मणियं परिहारो पुण्यपादाणं ॥३७॥

सम्यग्ज्ञानका दिग्दर्शन—रत्नत्रयका लक्षण इस गाथामें बताया है। रत्नत्रयमें तीन बातें हैं—(१) ज्ञान (२) दर्शन और (३) चारित्र। जो जानता है वह ज्ञान। जो देखता है वह दर्शन है और जो पुण्य पापका परिहार है वह चारित्र है, आत्मा है और उसका परिणमन चल रहा है। जैसे आत्मा एक अखण्ड वस्तु है ऐसे ही उसका जो भी परिणमन है वह भी एक अखण्ड है, दूसरा परिणमन होगा वह भी अखण्ड परिणमन होगा। परिणमनका अर्थ है उसका कार्य होना, उसकी पर्याय बनना। किस रूप बन रहा है? तो जिस रूप बन रहा है यह आत्मा, जो बर्त रहा है यह आत्मा वह वर्तन एक प्रकारका है, अवक्तव्य है, पर उसको समझानेके लिए भेद व्यवहारसे बताया जा रहा है कि वह भी देखता है, जानता है और परसे अलग रहता हुआ रमता रहता है। जो पदार्थ जैसा है उसको उस प्रकार जानना सम्यग्ज्ञान है। वस्तु सर्व स्वतंत्र हैं, सत् हैं, अपना-अपना अस्तित्व लिए हुए हैं और सभी वस्तुवें अपने आपमें अपना परिणमन करती चली जा रही हैं। भले ही जो परिणमन स्वभावके प्रतिकूल परिणमन है वह निमित्त पाकर हो रहा और जो स्वभावके अनुकूल परिणमन है वह स्वयं हो रहा, पर हो रहा है जीवमें जीवके ही परिणमनसे। तो ऐसे प्रत्येक पदार्थको निहारना यह सब सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शनका दिग्दर्शन—सम्यग्दर्शन-दर्शनका दर्शन होना सम्यग्दर्शन है। आत्मा दर्शन गुणके परिणाममें कैसा बर्त रहा है, सो बर्तता हुआ भी यह नहीं समझ पाता कि मैं दर्शनमें अपनेको ग्रहण कर रहा हूं। प्रत्येक जीव चाहे मोही हो, अज्ञानी हो, मिथ्या-दृष्टि हो, वे सब अपनेको ग्रहण किया करते हैं, यदि अपनेको न देखे तो ज्ञान नहीं बन

सकता, मगर समझ नहीं पाते कि मैंने अपनेको देखा। आत्मामें जो ज्ञान और दर्शन दो गुण हैं सो ज्ञान द्वारा तो स्व पर अर्थको जानता रहता है और दर्शन गुण द्वारा क्या करता है सो व्यवहारसे समझानेके लिए यह कहा जाता कि समस्त पदार्थोंको देखता है, पर परमार्थतः वह अपनेको देखता है किन्तु जिसको देखा उसकी समझ बने कि मैंने अपनेको देखा तो हुआ सम्यग्दर्शन और अपनेको देखकर भी अपनेको देखना न समझ पाया, न ग्रहण कर पाया तो हुआ मिथ्यादर्शन।

दर्शनके विषयका दर्शन न कर पानेके कारणका दृष्टान्तपूर्वक दिग्दर्शन — एक दृष्टान्त लो कोई मनुष्य धनिक बननेके इरादेसे यह सुनकर समुद्रके तटपर स्थित पहाड़पर पहुंचा कि उसमें पारसपत्थर भी है, यदि एक पारसपत्थर हाथ लग जाय तो फिर वह लोहे से मनमाना स्वर्ण बनाकर धनिक बन सकता है, अब उस पर्वत पर पत्थर तो थे बहुत और पारस पत्थर कोई एक दो ही होंगे, तो कैसे पहिचान की जाय कि यह पारस है, तो उसने इस परिचयके लिए समुद्रके किनारे एक लोहेका डंडा गाड़ा और पर्वतके सारे पत्थर इकट्ठे किये, और क्रम क्रमसे एक-एक पत्थर उठाना, लोहे पर मारना और देखना कि लोहा सोना बना या नहीं और फिर उसे समुद्रमें फेंकना, यही प्रक्रिया उसकी लगातार चलती रही, पत्थर उठाना, मारना और फेंकना। अब समझलो, जहां हजारोंकी संख्यामें पत्थर थे वहां कितना श्रम करनेकी आवश्यकता थी। उस प्रक्रियामें उसकी तेज धुन बन गई उठाना, मारना और फेंकना। एक बार ऐसी भी स्थिति आयी कि पारस पत्थर भी हाथ लगा मगर उस तेज धुनके कारण उसे भी उठाया, मारा और फेंका। बादमें देखा कि लोहा तो सोना बन गया, पर पारस पत्थर समुद्रमें फेंक दिया। अब वह माथा धुनता है, बड़ा गजब हो गया, पारस पत्थर हाथ लगा फिर भी व्यर्थ खो दिया। पर माथा धुननेसे होता क्या अब वह पुनः वापिस नहीं आ सकता याने ग्रहण करके भी फिर ग्रहण नहीं कर पाता, ठीक इसी प्रकार यह जीव इन बाह्य विषयोंके जाननेकी धुनमें समझता तो इसी तरह है कि मैंने अपनेको छुवा और बाह्य पदार्थोंको जाना, छुवा, हर एक छदमस्थ जीवमें जाननेकी ऐसी कला है। जैसे कोई पुरुष या बालक हाई जम्पका खेल खेलता है, जिसे ऊंची कूद कहते हैं, दो खम्भोंमें एक डोरी कोई तीन साढ़े तीन फिटकी ऊंचाई पर बांध देते हैं और उस पर छलांग लगाते हैं, तो जो बालक जितना अधिक जमीनपर गड़कर छलांग लगाता है, वह उतनी ही अधिक ऊंची कूद कूद जाता है। तो जैसे ऊंची कूदके लिए जमीनपर

गड़ना फिर उठना आवश्यक है ऐसे ही हम आपके लिए बाहरी पदार्थोंको जाननेके लिए अपने आपको छूना और फिर पदार्थोंको जानना आवश्यक हैं। जैसे वह बालक जमीन पर क्यों गड़ता है ? एक कूदनेकी शक्ति पानेके लिए, ऐसे ही यह आत्मा अपने आपको क्यों छूता है ? बाहरी पदार्थोंको जाननेकी शक्ति पानेके लिए। तो हम आपका जो कुछ भी ज्ञान चल रहा है हजारों पदार्थ जाननेका सो प्रत्येक जाननेमें ऐसी स्थिति होती है कि जीव अपनेमें आये, जाने, अपनेमें आये फिर जाने ऐसा ही प्रवर्तन चलता रहता है दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग, मगर मोही जीव बाह्य विषयोंकी धुनमें हैं, सो अपने पास आकर यह ग्रहण नहीं कर पाता कि मैं अपने पास आया और अपने स्वरूप को मैंने छुवा।

विपरीत अभिप्रायके निरसनमें सम्यग्दर्शन—जो इस दर्शनके विषयको ग्रहण कर लेता है उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन, इसीकी बाहरी मुद्रामें श्रद्धान, प्रत्यय, रुचि आदिक अनेक प्रकारसे है, मगर सम्यग्दर्शनका विषय क्या है वास्तवमें तो वह विषय इन शब्दों से सीधा नहीं जाना जाता। शुद्ध आत्माकी रुचि करना सम्यग्दर्शन है। पर यह तो बतलाओ कि रुचि करना यह चारित्रकी परिणति है या सम्यक्त्वकी परिणति है ? रुचि, प्रीति, अनुराग, भला लगना यह चारित्रकी परिणति है, मगर यह सम्यक्त्वका फल है कि शुद्ध आत्माकी रुचि बनती है इस कारण उन शब्दोंमें कह रहे हैं। शुद्ध आत्माका प्रत्यय होना, प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है। अब भला बतलाओ प्रत्यय और प्रतीति क्या सम्यक्त्वका विषय है या ज्ञानका विषय है ? ज्ञानका विषय है पर सम्यक्त्व जिसे हुआ है उसको शुद्ध आत्माकी प्रतीति रहती है, यह उसका परिणाम है। सम्यक्त्वका क्या विषय है ? दर्शनके विषयका दर्शन करना सम्यग्दर्शन है। अथवा कहो कि जैसे स्वच्छ भावके होनेपर अपना सारा प्रवर्तन ही बदल जाता है, स्वच्छ होता है, सन्मार्गपर वृत्ति बनती है वह है सम्यग्दर्शन। मकानमें कूड़ा बहुत पड़ा है, यह तो सीधा सबकी समझमें आ जायगा और मकान स्वच्छ है इसे आप कैसे सीधा समझेंगे ? लोग कह तो देते कि यह बड़ा स्वच्छ है, पर इस स्वच्छताको उठाकर तो बताओ कि कैसी है वह स्वच्छता ? कूड़ेको तो हाथसे उठाकर दिखा देंगे कि यह है कूड़ा मगर उस कूड़ेके अभावको कैसे बतायें ? तो ऐसे ही मिथ्यात्वके अभिप्रायोंको तो हम बता सकेंगे देहको अपना मानना, अपनेको कषायोंरूप समझना, गृहीत मिथ्यात्व रूप जानना, पर सम्यक्त्वको हम किस तरह समझायें ? अरे जिसके होनेपर ये मिथ्याभाव सब दूर

हो गए उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन । और इसी कारण पुरुषार्थसिद्धिपायमें सम्यग्दर्शनका संकेत किया है विपरीत अभिप्रायका निकल जाना । जहां विपरीत अभिप्राय निकल गया वह है सम्यग्दर्शन ।

विपरीत अभिप्रायकी पैनी पहुंचपर आश्चर्य—वीपरीत अभिप्रायोंकी कहां तक वार्ता कहां जाय ? मुनि व्रत पाल कर भी और बड़े कल्याणभावसे उसको निभाकर भी और यहां तक निभाकर कि कोई शत्रु कोल्हूमें भी पेले तो भी उस शत्रुपर बदला लेनेका भाव नहीं, उस पर रोष क्रोधका भाव नहीं । हां यह विचार और चल रहा कि मैं मुनि हूं, मुझे क्रोध न करना चाहिए, शत्रु मित्र मेरे लिए दोनों बराबर हैं । और ऐसी समतासे रहूंगा तो मोक्ष पाऊंगा, ऐसा जानकर रहे, तिसपर भी विपरीत अभिप्राय रह सकता है, व्यामोह रह सकता है । वह ऐसा कौनसा भीतरी दोष है ? मोटे रूपमें यह समझिये कि उसके देहदृष्टि है और इस नग्न रूपको समझ रहा कि मैं मुनि हूं और मुनिके कर्तव्योंका अभ्यास भी किया था कि मुनिकी शोभा, मुनिकी सच्चाई इसमें है कि किसीपर क्रोध न करना । रागद्वेष न करना, सो वह कर्तव्य भी कर रहा मगर यह प्रेरणा मिल रही है इस पर्यायमें मुनित्वके अभिप्रायसे । तो सहज स्वभाव में स्वत्त्वका अनुभव नहीं है, यहां तक एक-एक भीतरी दोष रह सकता है, तो जहां सहज चैतन्यस्वभावमें यह मैं हूं यह बुद्धि बनी, यह आशय बना तो उसे ही सम्यक्त्व कहो, और जिसका यह आशय बना उसके लिए देह अब आत्मा न रहा और इस नाते से कोई अपमान कर रहा उसका विषाद नहीं, कोई सम्मान कर रहा उसका हर्ष नहीं । यह श्रमण तो भावश्रमण है । पर ऊपरके ऐसे ही काम करके भी यह मैं मुनि हूं, मुनि को ऐसा न करना चाहिए, इस नाते से वृत्ति चल रही है सो व्यामोह हो गया, जैसी बात मुनि की है ऐसी ही श्रावककी बात है । सम्यग्दृष्टि श्रावक अपने आपमें मैं श्रावक हूं, ऐसा श्रद्धान नहीं रखता । श्रावक होकर भी मैं श्रावक हूं, यह प्रतीति नहीं है, मैं चैतन्यमात्र हूं यह उसकी प्रतीतिमें है ऐसा यह श्रावक भी मैं ऐसा पुजारी हूं, मैं ऐसा भक्त हूं, मैं धर्मात्मा हूं, मैं इतने काम सम्हालता हूं, ऐसा एक देहको आलम्बन लेकर और धर्मके नामपर कुछ भी प्रतीति करता रहे तो उसके भी व्यामोह है ।

चारित्रकी पुण्यपापपरिहाररूपता—चारित्र पुण्यपापका परिहार है । यद्यपि ज्ञानी के भी प्रमाददशामें कुछ व्रतादि प्रवर्तन चलते हैं परिस्थितिमें ऐसा ही करना होता, यह बात तो चलेगी पर मैं यह हूं ऐसी श्रद्धामें मोक्षमार्ग न चलेगा । जो जरा-जरा सी

घटनामें शोक होता, क्रोध होता, तड़क भड़क हो जाती ये बातें क्यों हुआ करती हैं कि उसको देहमें आस्था है, यह मैं हूं, सो लोग देहको देख रहे हैं, मैं भी दूसरी जगह देहको ही देख रहा हूं, सो देह देहका ही नाता चल रहा है तो वहां तो कल-कल होगा। कल ही नाम देहका है, एक कल, दो कल, अनेक कल, उनके बीचमें होने वाला प्रवर्तन, यह सब कल कल है और जहां आत्माके सहजस्वरूपमें यह मैं हूं, ऐसा अपनी बुद्धिमें उतारेगा और ऐसा ही ज्ञान बनाये रहनेमें अपना हित समझेगा और ऐसा ही पौरुष करेगा उसके लिए बाहरी बातोंमें हर्ष विषाद न चलेगा। चारित्र सम्यक्त्वपूर्वक होता है तो सम्यक्त्व वह गुण है कि जिससे ऐसी मौलिक स्वच्छता प्रकट होती है कि अब जो भी वृत्ति बनेगी तो उसका मोक्षमार्गमें विरोध न बनेगा, बल्कि सहयोग होगा। चारित्र है पुण्य पाप भावका परिहार रमनेका नाम चारित्र है। जो प्राणी विषयकषायों के उपयोगमें रम रहा है उसके मिथ्याचारित्र है और जो पुरुष अपने इस सहज स्वभाव के उपयोगमें रम रहा है उसके है सम्यक्चारित्र। तो ज्ञान श्रद्धान और चारित्र ये तीन रत्नत्रय कहलाते हैं।

तत्त्वरुचिं सम्मत्तं तच्चगगहणं च हवइ सण्णाणं ।

चारित्तं परिहारो पर्यपिणं जिणवरिदेहि ॥३८॥

तत्त्वरुचिकी सम्यग्दर्शनरूपता—अब इस गाथामें दूसरी प्रकारसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका लक्षण कहा गया है, तत्त्वरुचि होना सम्यग्दर्शन है। सहजात्मस्वरूपका लक्ष्यकरना यही हित है, यही उपादेय है, यही मेरा स्वरूप है, यही रहना चाहिए, यह ही वास्तविकता है, ऐसी रुचि पूर्वक उस ओर उपयोग बनाये तो जो उसकी रुचि है उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। जैसे कहते हैं कि “सर्प डसा तब जानिये, रुचिसे नीम चबाय। मोह डसा तब जानिये विषयकषाय सुहाय, अथवा कहो जिनवाणी न सुहाय। तो विषयकषाय उसको सुहाते हैं जो मोहसे ग्रस्त है। उन विषयकषायोंमें ही उसकी रुचि रहती, उन विषयकषायोंके अर्थ, विषय साधनोंके अर्थ अपना परिश्रम किया करता है उसे तत्त्वरुचि नहीं सुहाती। और जिसको तत्त्वकी रुचि बन गई उसे फिर अन्य बात नहीं सुहाती। परिस्थिति है, कुछ करना पड़ता है मगर सुहाता नहीं है। जैसे कोई रोगी पुरुष दवा खाता है पर उसको उस दवाके प्रति ऐसी रुचि नहीं है कि मैं इसे खाता रहूं। बल्कि वह दवा इसलिए खाता है कि हमारा दवा खाना छूट जाय, तो ऐसे ही ज्ञानी जीव जिन परिस्थितियोंसे गुजरता है उन परिस्थितियोंमें उसकी

रुचि नहीं है, पर ये परिस्थितियां हमारी टल जायें इसके लिए उन परिस्थितियोंसे गुजरकर आगे चलता है। तत्त्व क्या है? शुद्ध आत्मस्वरूप मैं सत् हूं तो मात्र सत्त्व के नाते मेरेमें जो चित्स्वरूप स्वयं जो स्वरूप है, जिसकी शुद्ध ज्ञप्ति तरंगें चलती हैं, केवल सहज शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप, जो है भूतार्थ अर्थात् स्वयं सहज होने वाला अर्थ बस यह ही मेरी परिणति रहे, यही मेरा रहे, अन्य कुछ है ही नहीं, तो अन्यका लगाव, अन्यका लपेट उसको रुचिकर नहीं होता। जैसे कैंदीको सिपाहीके भयसे चक्की पीसनी पड़ती है मगर उसे चक्की पीसनेकी रुचि नहीं है, ऐसी भी परिस्थितियां होती हैं कि उस शुद्ध अंतस्तत्त्वकी रुचि है और गुजर रहे हैं अन्य किसी प्रकार।

तत्त्वग्रहणकी सम्यग्ज्ञानरूपता—तत्त्वका ग्रहण सम्यग्ज्ञान है। जब कभी कोई प्रश्न सामने आता है कि बताओ ज्ञानीके कर्मबंध अधिक होता या अज्ञानीके? तो प्रायः करके लोग ऐसा बोल दिया करते हैं कि जो जान रहा और जानकर भी गलती कर रहा उसके ज्यादा पाप लगते और जो जान ही नहीं रहा, जिसको कुछ समझ ही नहीं वह यदि गलती करे तो उसको कम पाप लगता, मगर ऐसी बात नहीं है। वास्तविकता यह है कि यदि वह वास्तवमें जान रहा है और परिस्थितिबश किसी अविरत भावमें प्रवृत्ति भी करे तो भी कर्मबंध कम है और जो नहीं जान रहा तो न जाननेके कारण ही कर्मबन्ध चल रहा, अन्य द्रव्योंकी तो बात ही क्या करें। लोग यह परिस्थिति क्यों बताते हैं कि जो जान रहा है उसके कर्म अधिक बंधेंगे क्योंकि वह जानकर कर रहा और जो नहीं जान रहा उसके क्यों बंधेगा पाप? तो यह परिस्थिति रुढ़ि इस कारण हुई है कि एक साधारणतया बोल देनेको या थोड़ा बहुत समझ लेनेको लोगोंने ज्ञान कह रखा है, पर ज्ञान नाम इसका नहीं है। ज्ञान नाम उसका है कि जैसे जान लिया कि यह सांप है, तो अब कोई सांपको छुवेगा नहीं, उसपर कोई पैर न धरेगा। भाई जानबूझकर अगर बहुत सी बातें करली जाती हैं तो फिर जानबूझकर सांपपर पैर क्यों नहीं रख देते? तो जैसे जानबूझकर सांपपर पैर कोई नहीं रखता इसी तरह वास्तवमें जो जान लेवे अपना स्वरूप और अविकार स्वरूप तो वह विकारमें नहीं लग सकता। एक तत्त्वरुचि पूर्वक तत्त्वके ग्रहण करनेका नाम सम्यग्ज्ञान है।

विकारपरिहारकी सम्यक्चारित्ररूपता—विकारभावका परिहार करना यह सम्यक्-चारित्र है। सारी कला अपने आपके भीतर स्वभाव और विकारके निर्णयकी है। इसीको आत्मा और स्वभाव इन शब्दोंसे कहा गया है, मैं स्वभाव रूप हूं, विकाररूप

नहीं हूं। मैं जैसा सहज हूं वैसा ही रहूंगा ऐसा जिसका पूर्ण निर्णय है भीतरी स्वभाव में उसको विकार नहीं दिखते। स्वभावदृष्टिमें उसको स्वभावका ही ग्रहण है उपयोग में, भले हो उस समय भी आश्रव बंध चल रहा है इस सराग अवस्था तक, इस अवस्था तक पर उपयोगमें नहीं है उसका राग। जैसे कोई पुरुष किसी कायस जल्दी घर से बाहर जाय और दरवाजा छोटा होनेसे उसके सिरमें लग जाय तो भी जिस काम की धुनमें गया है उसके कारण चोटका पता नहीं रहता ऐसे ही चोट लगने पर भी इस ज्ञानीको चोटका पता नहीं किन्तु उस तत्त्वचिमें ही इसका उपयोग लगता है।

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।

दंसणविहीणपुरिसो न लहेइ त इच्छियं लाहं ॥३६॥

सम्यक्त्वकी प्राप्तिके उपायमें व्यवहारसम्यक्त्व—जी जीव सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हैं वे वास्तविक शुद्ध हैं और शुद्ध होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं, किन्तु जो सम्यक्त्वसे विहीन हैं ऐसे पुरुष निर्वाणको प्राप्त नहीं हो सकते। जैसे मकानकी जड़ नींव है। यदि नींव मजबूत है तो मकान बनवाते जाइये उसपर मंजिलपर मंजिल चढ़वाते जाइये और अगर नींव नहीं मजबूत है, ऊपर ही उठा दिया है तो वह मकान नीचे धस जायगा, टूट फूटकर गिर जायगा, इसी प्रकार यदि सम्यग्दर्शन है तो ज्ञान सही रहेगा, चारित्र भी ढंगसे बनेगा, निर्वाण भी पायगा, और सम्यग्दर्शन नहीं है तो भले ही अपनी कल्पनाका संयम बना लेवे कोई, मगर वह मोक्षमार्गमें चल नहीं सकता, मोक्षमार्ग नहीं मिल सकता। सम्यग्दर्शन क्या है? सम्यग्दर्शन तो आत्माका ऐसा स्वच्छ भाव है कि जिसके होनेपर विपरीत अभिप्राय नहीं उठा करते और आत्माका जो वास्तविक स्वरूप है उस स्वरूपका इसे अनुभव हो जाता है, पर इस सम्यक्त्वको पानेके लिए क्या उद्यम होना चाहिए? तो जो उद्यम किए जाते उनका नाम है व्यवहार सम्यक्त्व। व्यवहार सम्यक्त्व तीन जगह होते हैं, सम्यग्दर्शनसे पहले व्यवहार सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शनके रहते हुए व्यवहार सम्यक्त्व और किसीका सम्यग्दर्शन छूट जाय तो भी उस समयके निकट व्यवहार सम्यक्त्व। सम्यग्दर्शनसे पहलेका व्यवहार सम्यक्त्व क्या है? जैसे देव, शास्त्र, गुरुका एक साधारणतया उस रूपमें श्रद्धान, ७ तत्त्वोंमें श्रद्धान और जो जो भी चेष्टायें की जाती हैं मंद कषाय, १२ अनुप्रेक्षावोंका मनन, भीतरी आत्माकी खोज, जो भी पौरुष चलता है वह व्यवहारसम्यक्त्व है। उसका आधार क्या है कि जैसे सम्यग्दृष्टिजन बाहरमें जो कुछ करते हैं वे जो अभ्यास किए जा रहे हैं वह सब कल्या-

पार्थियोंको विश्वस्त हो जाता है। व्यवहारसम्यक्त्वमें किये गये इस अभ्यासके प्रसाद से अनन्तानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्व प्रकृतिमें अब क्षीणता होने लगती है। और जिस कालमें अनन्तानुबन्धी और दर्शन मोहका उपशम हो जाय वहां सम्यक्त्व होता है। तो जो सम्यग्दृष्टि हुए हैं वे पुरुष भी इन्हीं उपायोंसे बढ़-बढ़कर हुए हैं। अब सम्यक्त्व हुआ या न हुआ मानलो कि सम्यक्त्व हुआ और फिर दूसरेको यों कहना कि यह जो व्यवहारकी बात है मंदिर जाना, षट् आवश्यक करना आदि ये धर्म नहीं है, ये हेय हैं, पर जिस मार्गसे गुजर करके यदि खुद अच्छे ऊँचे स्थानपर पहुंचे हों तो वह मार्ग दूसरोंके लिए उस पदवीमें सर्वथा हेय कहना यह तो एक तीर्थको बिगाड़ना है। तथा जिसको सहजात्मपरमपदकी ज्ञांकी नहीं उसको तो व्यवहारधर्म हेय कहनेका क्या अधिकार है इसलिए यह समझना चाहिए कि जो कुछ पौरुष किया जा रहा है मंदिर आना, स्वाध्याय करना, गुरुसेवा करना, तपश्चरण करना, व्रत करना, तत्त्वज्ञानमें बढ़ना, अध्ययन करना आदिक ये सब उपाय हैं एक आगे बढ़नेके और इन उपायोंकी ही कृपासे उन सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंमें हीनता आती है। वह जब सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंका उपशम हो जाय तो यहां उपशम सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्वसे शुद्ध पुरुषकी निर्वाण प्राप्तता व सम्यक्त्वहीन पुरुषका ससारभ्रमण— जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है, जिसने अपने आत्माके सही स्वरूपका परिचय पाया है उसको जगतका सारा समागम अपने लिए बेकार लगने लगता है। इन बाह्य पदार्थोंसे मेरे आत्माको क्या लाभ होता है? जो पदार्थ मिलते हैं, बिछुड़ते हैं उनमें प्रीति करनेसे क्या लाभ है? जो मुझसे अत्यन्त जुड़े हैं उनसे प्यार बनानेमें आत्मा क्या लाभ पायगा? देखिये—मोह एक बड़ा अंधकार है। जो मोह अंधकारमें पड़ गए उन्हें कुछ प्रकाश नहीं, कुछ मालूम नहीं अपनी बात। मैं क्या हूं, कहां से आया, कैसा हूं, स्वरूप क्या है, क्या करना चाहिए, मुझे अपना कैसा भविष्य बनाना चाहिए, इसका कोई सही पता नहीं है। वे तो शरीरके नातेसे उत्तर देते हैं। किसीसे पूछो कि भाई तुम कहां से आये तो वह किसी गांव या नगरका नाम लेकर बता देगा कि अमुक जगहसे आये। उसके चित्तमें यह बात नहीं आती कि मैं किसी परभवसे आया, या अनादिसे मैं भ्रमता आया। अब किसीसे पूछो कि भाई तुम कहां जावोगे? तो वह किसी गांव या नगर का नाम लेकर बता देगा कि अमुक जगह जायेंगे। परन्तु उसके चित्तमें यह बात नहीं आती कि हमको यह भव छोड़ना पड़ेगा और किसी अन्य भवमें जाना पड़ेगा, क्योंकि

मोह अंधकार है, वह देहको ही सर्वस्व मान रहा, उसको तो अपने मरणकी भी कल्पना नहीं होती, मरणसे डरता है, पर कल्पना नहीं होती कि मैं मर ही जाऊंगा। औरों के बारेमें खूब चर्चा कर लेते कि वह जीव बेचारा अकेला था, चला गया, अब उसका क्या है यहां। तो दूसरोंके बारेमें तो इस तरहसे देखते हैं, पर अपने आपके बारेमें इस तरहसे नहीं देखते कि मैं चला जाऊंगा। मेरे लिए यहां का समागम क्या लाभ देगा? मुझ आत्माको यहां का समागम न रहेगा और अब भी जब तक इन बाह्य पदार्थोंका समागम है तब तक आत्मा उनसे क्या लाभ पा लेगा? उसे तो अशान्ति ही मिलेगी, शान्ति न मिलेगी। शान्ति तो तब मिलेगी कि जो अपना शान्तिका धाम है ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, उसमें दृष्टि जमेगी तो शान्ति मिलेगी अन्यथा शान्ति नहीं मिल सकती। यह बहुत बड़ी समस्या है। समस्त समागमोंका परिहार करें, मोह तजें तो आत्माका वैभव मिलेगा और यह मोह तजें तो आत्माका वैभव मिलेगा, और यदि बहुत-बहुत सम्बोधन किए जाने पर भी भीतरका मोह न हटा तो उसके फलमें चतुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना होगा।

कल्पित सुखसे उपेक्षाकर सहजानन्दमय ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी रचि होनेका फल शाश्वत आनन्द—अब यह बतलावो कि केवल एक मनुष्यभवका यह कल्पित सुखसमागम पसंद है या अनन्तकालके लिए हम शान्तिमय रह सकें यह पसंद है? यह अपने आपसे पूछो तो सही। यदि इस भवका जो सुख समागम है उतना ही पसंद है तो उसके फलमें तो आगे अनन्तकाल संकट ही संकट सहना पड़ेगा। विवेकीजन तो इस बातको कभी न पसंद करेंगे कि वर्तमानमें तो थोड़ा सा कल्पितमौज मान लिया और आगे अमन्तकाल दुःख भोगा। भले ही थोड़े समय कष्टमें रहलें पर यहां ऐसा कोई उपाय बनालें कि जिससे आगे अनन्तकाल तक शान्ति और आनन्दमें रह सकें। यह बात विवेकीजनोंको इष्ट है। करते भी लोग ऐसा ही धंधा, जो लोग बड़े-बड़े मिल खोलते अथवा कारखाने खोलते तो उनके प्रति पहलेसे ही वे यह समझ रखते हैं कि करीब इतने वर्ष तो इसके प्रति इतना श्रम, इतना इतना खर्च तो करना ही पड़ेगा और उसके बाद कुछ वर्ष विशेष लाभ भी न दिखेगा मगर आगे चलकर आजीविका चलानेका बड़ा अच्छा साधन बन जायगा, यह समझ पहलेसे होनेके कारण वह तत्कालके कष्टको हंस हंसकर सह लेता है। तो जैसे एक इस भवके सुखके लिए यहां सोच लिया जाता है ऐसे ही आगे के अनन्तकालके लिए क्यों नहीं सोच लिया जाता? मानलो यहां के १००-५० वर्ष

की जिन्दगीके लिए कुछ सुख सुविधा बना भी लिया तो क्या खास बात हो गई ? अतन्तकालके सामने यह १००-५० वर्षका समय कुछ भी तो गिनती नहीं रखते । स्वयंभूरमण समुद्रके आगे एक बूंद बराबर भी गिनती नहीं रखता । यदि हम कोई बाहरी पदार्थोंकी इच्छा न करें, तृष्णा न करें, संतोष वृत्तिसे अपना जीवन बितायें और अपने जीवनका ध्येय अपने आपके कल्याणका बनायें, आत्मध्यान, संत समागम, तत्त्वमनन इनमें ही अपना समय बीते तो इसके फलमें आगे अनन्तकाल तक आनन्द ही आनन्दमें रहेंगे । जिन महापुरुषोंने त्याग किया, तपश्चरण किया, अपने चैतन्य-स्वरूपमें तपे उन महापुरुषोंने निर्वाण पाया तो अब अनन्तकाल तकके लिए निष्कम्प निश्चल अनन्त आनन्दमय परिणम रहे हैं और जिन बड़े-बड़े लोगोंने भी राजा महाराजावोंने अपने भवको भोगविषयोंमें ही गमाया, संसारके सुखोंमें ही गमाया तो वे संसारमें रलते रहे ।

सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वके उपयोगमें शान्तिका अनुभव—अच्छा और विशेष नहीं तो यहां ही यह निर्णय करलो कि मैं अपना ज्ञान किस पदार्थमें जोड़ूं कि मुझको शान्ति मिले ? इसकी ही परीक्षा करलो । बाह्य पदार्थोंमें परिग्रहमें, कुटुम्बमें यदि उपयोग जोड़ूं और जोड़ता ही रहूं तो उसके फलमें क्या बीती अब तक ? इसे तो खुद समझ सकते हैं । कभी शान्ति मिली क्या ? कल्पनासे भले ही कुछसे कुछ सोचते रहें, मगर इससे यह उपयोग अपने ठिकानेमें जम नहीं सकता । और इस उपयोगको किसी बाह्य पदार्थमें न जोड़ें, अपने आपके स्वरूपमें जोड़ें, मैं आत्मा हूं, अमूर्त हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानका परिणमन यह ही मेरा व्यवसाय है । और उस ज्ञानके परिणमनमें जो आनन्द लाभ है वही मेरा उपभोग है । मेरी दुनिया उतनी ही है जितना कि मेरा स्वरूप है । मेरे स्वरूपसे बाहर मेरा परमाणुमात्र भी नहीं है, सब कुछ यह मैं हूं और पूरा हूं । मेरा अस्तित्व अधूरा तो नहीं है, जो हूं सो पूरा हूं, अपने स्वभावमात्र हूं, मेरा मैं ही हूं, मेरा अन्य कहीं भी कुछ नहीं है इसलिए मैं अपने उपयोगको अपनेमें ही रमाकर सन्तुष्ट रहूंगा, ऐसा कोई यदि प्रयत्न करता है तो वह शान्तिका अनुभव करता है । मतलब यह है कि बाह्य पदार्थोंमें दौड़ लगाना, तृष्णा बढ़ाना यह अशान्तिका ही कारण है, हां पुण्ययोगसे जितना जो कुछ उदयमें है, मिलता है वह आपके थोड़े पौरुष से मिल जाता है । क्या वजह है कि एक लकड़हारा, घसियारा दिनभर बहुत-बहुत श्रम करके भी अपने पेट भरने लायक भी नहीं कमा पाता और कितने ही लोग आराम

में रहकर धर्म ध्यानमें समय बिताकर गुरुसत्संग, भगवत्भक्ति, परोपकारकी भावना, ऐसे शुभ वातावरणमें रहकर साधारणसे प्रयाससे ही हजारों लाखोंकी आय बना लेते हैं। तो इसका कारण क्या है कि जैसा पूर्वमें सुकृत किया, जैसी जिसकी पूर्व पुण्यनिधि है उसके अनुसार सब कुछ होता है। पुण्य पापके अतिरिक्त कोई बात नहीं हो पाती संसारमें तो फिर हम बाह्य पदार्थोंमें उपयोग रमाकर, तृष्णा बनाकर क्यों यह दुर्लभ मानव जीवन व्यर्थ खोयें ? अपने आपपर कुछ दया होनी चाहिए।

इन्द्रिय और मनके विषयोंकी रुचिमें आत्मबन्धवका विघात—विपरीत अभिप्राय दूर हों उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है वह पुरुष शुद्ध है, साफ है, मोक्षमार्ग गमन करने वाला है, वह निर्वाणको प्राप्त हो लेगा। निर्वाणके मायने क्या ? मोक्षके मायने यह है कि आत्मा जितना है, अपने आप जैसा है, जो है वही मात्र रहे, दूसरा कोई लाग लपेट न रहे, देह सम्पर्क न रहे, कर्मसम्बन्ध न रहे, विकार विभाव तरंग न रहें, स्वयं अकेला रहकर जैसा रह सकता है वैसा रह जाय उसे कहते हैं सिद्ध भगवान। अब ऐसी स्थिति तो अपने आत्माके लिए सहज है। एक उद्वण्डता छोड़ने भरकी जरूरत है। उद्वण्डता क्या कि अन्य पदार्थोंमें अपना योग जुटाना, उपयोग जोड़ना, लगाव लखना और उससे अपना महत्त्व मानना यह बहुत बड़ा पाप है। लोकमें यशकी इच्छा करना। कीर्तिकी भावना अभिलाषा रखना यह इतना बड़ा अंधकार है कि जिसमें रहकर यह जीव कभी भी शान्ति नहीं पा सकता। मानो कुछ लोगोंने अच्छा कह दिया, थोड़े बहुत लोग परिचयमें आ गए और यह उनकी ओर आशक्त हो गया, आकर्षित हो गया तो यह अपने आत्माकी ओर कैसे मुड़ेगा ? बड़ा गोरखधंधा है। यश में महत्त्व मानता है यह जीव, और उसका जाल ऐसा कठिन है कि वह कभी परमात्म-स्वरूपके स्मरणके भी काबिल नहीं रहता। अब उसके लिए तो जनसमूह भगवान बन गया, ये लोग मेरी तारीफ कर दें, ये मेरी महिमा गा दें, मेरी प्रतिष्ठा बढ़ा दें, तो मैं महान हूं, अपनी महत्ताको भूल गया। हे आत्मन् ! तू अपने आप महान है, तू अपने स्वरूपसे ही महान है। कैसा तेरा ज्ञानस्वभाव कि जो जाने बिना रहे ही नहीं, और कितना जाना ? जगतमें जितने सत् हैं उन सबको जाना, यह कला तेरेमें अपूर्व है। अद्भुत विलक्षण पदार्थ है यह आत्मा और तेरेमें स्वभावमें स्वयं सहज आनन्द पड़ा हुआ है।

कर्मजालमें अपनेको न उलझा कर विविक्त एकत्वगत आत्मस्वरूपमें उपयुक्त होनेका अनुरोध—

मोक्षपाहुड़ प्रवचन

भैया, आकुलता कहां है ? आकुलता है परके लगावमें, परके सम्पर्कमें । तो तू परिश्रम भी करे, पर पदार्थोंमें उपयोग लगानेका और उसके फलमें कष्ट भी पाये, ऐसा करने की क्या जरूरत ? और जो सहज अपने आपकी ओर आये, अपनेमें परिश्रम करे, यह बहुत सुगम बात है, इसमें परिश्रम भी कुछ नहीं, सहज बात है उसे करता नहीं जितने भी कष्ट हैं वे सब बनाकर, परिश्रमकर कष्ट होते हैं, स्वयं अपने आप तो इस आत्मा में कोई कष्ट नहीं है । तो ऐसा अद्भुत सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्माको निरखें तो उसे कहते हैं सम्यग्दृष्टि । जो जीव सम्यक्त्वसे सहित है वह शुद्ध है । सभी मनुष्यों में भावनायें उठती हैं, प्रोग्रामके भाव जगते हैं, मुझे जीवनमें क्या करना चाहिए, यह करूंगा यह करूंगा, ये अनेक बातें चित्तमें आती हैं, पर यह जानें कि जगतमें जो कुछ मिलता है, बिछुड़ता है, कैसी ही कुछ बात है, यहां कर्मप्रधानता है । जैसा उदय है उसके अनुसार बात बनती है किन्तु अपने आपमें शान्ति पाना, अपनेको पवित्र बनाना, सही करना, निर्लेप होना, आनन्दका अनुभव बनाना यह अपने पुरुषार्थ द्वारा साध्य है । दृष्टि मोड़ा, अपनेको निरखा, यहां ही रम गया उसको शान्ति ही शान्ति है, यह कला है सम्यग्दर्शनकी । सम्यक्त्वकी पूजा भी करते हैं रत्नत्रयकी पूजामें । सम्यक्त्व की जाप भी देते हैं । जापमें आखिरी तीन दाने ऊपरके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रके हैं, ऐसा मानकर नमस्कार करते हैं । तो जिस सम्यग्दर्शनकी माला जपते, पूजा करते, कीर्ति गाते वह अपनेमें आये तो उसका कितना बड़ा प्रताप है ? सम्यक्त्व की दशा पानी हो तो ऐसा पौरुष बनानेका अभ्यास करना, रुचि करना, जितनी देर बने उतनी देर करना ।

सारहीन तत्त्वोंकी उपेक्षाकर समयसारमें रुचि करनेका अनुरोध—भैया, ऐसा ध्यान बनाना कि जहां जहां हम चित्त दिया करते हैं वे वे सब पदार्थ मेरेको क्या लाभ देते हैं ? और मेरे साथ कब तक रहेंगे और मेरा उनसे सम्बंध क्या है ? ऐसी बातें विचारने से यह बात ध्यानमें आयगी कि मेरे आत्माके लिए तो बाहरी प्रत्येक पदार्थ यहां तक कि इसमें लगा हुआ यह देह भी, सभी पदार्थ मेरे लिए बेकार हैं । ये सब मेरा कुछ काम नहीं कर सकते, मेरा उद्धार नहीं कर सकते । ये मेरे लिए सारहीन हैं, जब मेरे लिए सभी सारहीन हैं तो मैं उनमें क्यों उपयोगको गड़ाये रहूं और ऐसा ही ख्याल ध्यान निरन्तर बनाये रहूं । वैभवको देखकर फूला फूला फिरना, इतराना, अपने बाल-बच्चोंको निरखकर अपनेको महान समझना, जगतमें यश कीर्ति देखकर अपने आपमें

हर्ष मानना यह सब बड़ा अंधेरा है। ये जगतके सारे बाहरी समागम, इनमें लगाव बनाना नियमसे ससारका कारण है। तब क्या करना? गुजारेके लिए रहना पड़ता है सबके बीच प्रीतिसे बोलना भी पड़ता है तो वह सब ठीक है, करना पड़ता है गृहस्थी में मगर भीतरसे यह अज्ञान न रहे कि ये ही मेरे सब कुछ हैं। यदि उनको ही अपना सर्वस्व समझ लिया तो उसके फलमें अशान्ति ही मिलेगी, वहां शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। यदि ज्ञानबल है और त्याग सकते हैं और त्यागकर आत्माके ध्यानमें बढ़ सकते हैं तो यह तो और भी ऊंची बात है, किन्तु जब ऐसा नहीं बन पा रहा और यहां ही रहना पड़ रहा तो अपने भीतर ऐसा ज्ञान प्रकाश तो बनाये रहें कि जिनके बीच हम रह रहे हैं ये मेरे नहीं हैं। अगर हों कुछ तो आप मानो। सही बात मानने की बात कही जा रही है। अगर कुछ भी आपके लिए ये समागम नहीं बन पाते हैं तो ऐसा माननेमें फिर कष्ट क्यों माना जाता है? क्यों नहीं ऐसा माना जा रहा कि मेरा परमाणुमात्र भी नहीं हैं? मैं आत्मा एक हूं, अकेला हूं, सबसे निराला हूं और अपने चिच्छमत्कारमात्र हूं, स्वयंकी ज्ञानदर्शनवृत्तिरूप हूं, और अपने स्वरूपके कारण परिपूर्ण हूं, आनन्दमय हूं। मेरेको बाहरी पदार्थ एक भी साथ न हों तो भी मेरा कुछ बिगाड़ नहीं, बल्कि पवित्रता बढ़ती है। सो इतना तो गृहस्थीमें रहकर करना ही चाहिए कि जो कुछ मिला है उसका सही ज्ञान रखें कि ये मेरे कुछ नहीं हैं, इनके सम्पर्कसे मुझे कुछ लाभ नहीं, बल्कि कलंक है, हां गुजारेके लिए रह रहे हैं, पर मेरे आत्माका तो मेरा आत्मा ही सर्वस्व है, दूसरा कुछ नहीं। जिन्होंने अब तक कुछ लाभ पाया है, निर्वाण पाया है उन्होंने अपने आत्माका आश्रय लेकर पाया है, परपदार्थका आश्रय लेकर नहीं पाया है। तो ऐसा अपनेको समस्त परद्रव्योंसे निराला अपने दर्शन ज्ञानस्वरूप परिपूर्ण अपनेको निरखा, यह पौरुष बने, यह अभ्यास चलता रहे तो इस दुर्लभ मानव जीवनकी सफलता है अन्यथा तो जैसे अनेक भव पाये, जन्मे मरे संकट पाये, उसी सिलसिलेमें यह भी भव बीत जायगा और आगे भी न चेत पायेंगे, तो यह भव एक चेतनेका है, यहां विवेक करना है, मोह और रागकी हठको तोड़ना है और अपने स्वरूपकी ओर आना है।

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु।

तं सम्मत्त मणियं समणाणं सावयाणं पि ॥४०॥

आत्मानुभवकी जन्ममरणविनाशकता—प्रकरण यह चल रहा है कि आत्माके सहज

शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें अपने आपकी प्रतीति करना, इस ही को जानना और यही जानते रहना अर्थात् रागद्वेष न आने देना यह रत्नत्रय है। और इस रत्नत्रय धर्मके प्रतापसे भव्य आत्मा निर्वाणको प्राप्त होते हैं। सो यह सारभूत उपदेश जन्ममरणको हरने वाला है हम आपपर सबसे बड़ी भारी विपत्ति जन्म और मरणकी है। अब मरेंगे, उसके बाद जन्मेंगे, फिर मरेंगे, फिर जन्मेंगे। यह जन्म मरणका तांता तो लग रहा है यह सबसे बड़ी कठिन समस्या है। सो इस समस्याका हल करनेकी बात जो मनमें है नहीं और पञ्चेन्द्रियके विषयोमें रत होनेकी धुन हो गई। मोह रागद्वेषमें रत होनेकी धुन हो गई, सो विवेकी पुरुष वह है जो ऐसा दुर्लभ मनुष्यजीवनका अवसर पाकर व्यर्थ न खोये। जो श्रावकजन हैं वे रह रहे हैं कुटुम्बमें, घरमें, समाजमें और सर्व प्रकारके आरम्भके कार्य भी करने पड़ रहे हैं, पर सत्य बात जानते रहें तब तो कल्याण है और सत्य बात ओझल हो जाय, केवल यहां के रागद्वेषोंमें ही रमते रहे तो इसमें आत्माका अकल्याण है। बड़ा होनेका यही फायदा उठाइये। आज श्रेष्ठ मनुष्यभव पाया, श्रेष्ठ कुल पाया, जैन धर्मका समागम पाया, जिनवाणीका उपदेश बांचने सुननेको मिलता है, ऐसा उत्तम अवसर पाया तो इसका लाभ यह है कि एक बार अपना प्रकाश तो पा लें कि वास्तवमें हूं क्या ?

नेत्र मित्र जानेपर स्पष्ट अकिञ्चनताका एक दिग्दर्शन—राजा भोजके समयकी एक घटना है कि वह एक रात अपने महलमें पड़े-पड़े एक कविता बना रहे थे और उसी रात एक विद्वान कवि जिसे बहुत दिनोंसे पुरस्कार न मिलनेके कारण परिस्थितिने चोरी करनेके लिए मजबूर कर दिया था वह राजाके महलमें ही चोरी करने आया। अचानक कोई ऐसी आहट हुई कि वह चोर उस राजाके पलंगके नीचे छिप गया। राजा उस समय कविता बना रहा था। कविता इस प्रकार थी—चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः, सद्बान्धवाः प्रणतिगर्मगिरश्च भृत्याः। गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः। ये तीन चरण कविताके बन गए थे, चौथा चरण बनानेके लिये इन्हींको वह राजा बार-बार दोहरा रहा था, चौथा चरण उससे बन नहीं रहा था। वह चोर नीचेसे सुन रहा था, अब उससे न रहा गया सो पलंगके कुछ बाहर निकलकर वह चौथा चरण बोल उठा। चौथा चरण यह था—सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति। इस चौथे चरणको उस चोर द्वारा सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ, मानो एक बहुत बड़ी निधि पा गया हो, पर वह इस आश्चर्यमें डूब गया कि आखिर वह कौन है। यहाँ

पहले राजाके बनाये हुए तीनों चरणोंका अर्थ सुनो । राजा अपने वैभवका वर्णन करते हुए कह रहा था कि मेरे पास मेरे मनका हरण करने वाली ऐसी-ऐसी कलावती, रूपवती स्त्रियां हैं, मेरे ऐसे-ऐसे मनके अनुकूल चलने वाले मित्र हैं, मेरे ऐसे-ऐसे आज्ञाकारी विनयवान सेवक हैं, मेरे पशुशालाओंमें हस्ती गर्जना कर रहे हैं, घोड़े हींस रहे हैं । इत्यादि इस प्रकारसे वह राजा अपने वैभवका वर्णन कर रहा था तो उस विद्वान चोरने नीचेसे जो चौथा चरण बोला था, उसका अर्थ है कि दोनों नेत्र मिच जानेपर फिर यह कुछ नहीं है । तो राजाने जब चोरके द्वारा वह चौथा चरण सुना तो उसके ज्ञानके नेत्र खुल गए और उस चोरको गले लगाया और बोल उठा—भाई तुम कौन हो ? अपना परिचय दो, तुमने तो आज हमारे ज्ञाननेत्र खोल दिए । मैं तो अभी तक अज्ञानके अंधेरेमें भटकता हुआ बड़ा दुःखी रहा करता था, पर तुमने मुझे एक बहुत बड़ी चेतावनी दे दी । तुम मेरे बड़े मित्र हो । अब जरा अपना परिचय बताओ । तो वह चोर बोला—महाराज मैं चोर हूं । ...अरे तुम चोर कैसे ? तुम तो एक अच्छे विद्वान पुरुष हो । मुझे समझावो कि तुम कैसे अपनेको चोर बता रहे ? तो उस चोरने अपनी सारी कहानी सुनायी । आखिर राजाने उसे भारी पुरस्कार देकर विदा किया । तो यहां यह समझो कि जो कुछ मिला है ठीक है, उसकी व्यवस्था करें और उसके ज्ञातादृष्टा रहें, पर सच्चा ज्ञानप्रकाश चित्तमें रक्खें कि मेरा परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है । सत्य सत्य परिचय पाना यह जन्म-मरणका रोग नष्ट कर देता है । समाधितंत्रमें बताया है कि जन्म-मरण पानेकी तरकीब तो यह है कि इस शरीरको मानते जावो कि यह ही मैं हूं बस ये शरीर मिलते जायेंगे, और जन्म-मरणसे छुटकारा पाने की तरकीब यह है कि अपनेको देहसे निराला ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व अनुभव करो, इसी प्रक्रियामें चलते-चलते जन्म-मरणकी परम्परा छूट जायगी । आखिर भगवान ही तो है यह आत्मा, यदि वह देह चाहता है तो खूब देह मिलते रहेंगे और यदि अपने आत्मस्वरूपको चाहता है तो इसको आत्मस्वरूप मिल जायेगा । सो यथार्थ परिचयके द्वारा सर्व पदार्थोंसे विरक्त होकर अपने स्वरूपके अभिमुख होना, आश्रय लेना यह जन्म जरा मरणको हरने वाला उपाय है ।

सम्यक्त्वकी कल्याणधारता—भैया, धर्मका आधार सम्यक्त्व है, यदि सही मार्ग न दिखे तो कोई उस मार्गपर गमन कैसे करे ? सम्यग्दर्शनमें शान्तिका मार्ग दिख जाता है, फिर आगे व्रतादिकका पालन करते हुए आत्मध्यानमें बढ़ते हुए फिर यह मोक्षमार्ग

में गमन भी करता है । सो यह सम्यक्त्व मुनियोंके होता, श्रावकके भी होता और यहां ही क्या, चारों गतियोंके जीवोंमें सम्यक्त्व हो सकता । सम्यग्दृष्टि नारकी भी होते । अब यहां के पुण्यवान राजा आदिक जो पञ्चेन्द्रिवके विषयोंमें आसक्त हैं और एक नरकका नारकी जो कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है इन दोनोंका भीतरी अन्तर तौलिये—एक पवित्र है और एक मलिन बन रहा, उसका फल भविष्यमें मिलेगा । तिर्यञ्चोंमें भी सम्यग्दृष्टि होते हैं, कोई पशु कोई पक्षी सम्यक्त्व पा लेते हैं । उनकी भी दृष्टि आत्म-संतोषकी रहती है और बाहरी समागमोंसे विरक्त रहते हैं । देवोंमें भी सम्यग्दृष्टि देव होते हैं, वे भी पाये हुए समागमोंमें मौज नहीं मानते । मनुष्योंमें भी सम्यग्दृष्टि मनुष्य होते हैं और वे संयम भी धारण कर सकते हैं, बाकी तीन गतियोंके जीव संयमी नहीं बन सकते, मनुष्य ही संयमी हो सकते हैं, तो ऐसा ऊंचा मनुष्यभव है । सो ऐसा अपने स्वभावका आदर करना चाहिए और आत्मामें संतोष सहज होवे, ऐसा पौरुष करना चाहिए ।

जीवाजीवविहत्ती जोइ जाणेइ जिणवरमएणं ।

तं सण्णाणं भणियं अबियत्थं सव्वदरिसीहि ॥४१॥

जीव और अजीवका विभाग—इस गाथामें ज्ञानका स्वरूप कहा है, जिनेन्द्र देवके बताये हुए सिद्धान्तकी विधिसे जानकर यह समझ लेना कि जीव पृथक् हैं और अजीव पृथक् हैं, जो जीव नहीं सो अजीव । और ज्ञानीकी दृष्टिमें जीव आया है अनादि अनन्त, चैतन्य स्वरूपमात्र । जो सदा रहे, जो बदले नहीं ऐसा जो स्वरूप है उस रूप अपनेको निरखना है । तब उसकी दृष्टिमें बाहरी जितने समागम हैं वे तो अजीव हैं ही, शरीर अजीव, कर्म अजीव और कर्मका उदयका निमित्त पाकर जो अन्तः रागादिक विकार परिणमन होते हैं, जीवकी विकृति बनती है वह विकार भी अजीव, चैतन्यस्वरूप मात्र जीव । तो उसके मायने ये ज्ञान भी अजीव, जो अधूरे ज्ञान चलते हैं वे भी जीव नहीं । जब यह अपने अनादि अनन्त चैतन्यस्वरूपको तक रहा है, यह जीव है तब इस आत्म-स्वभावको ही जीव निरख रहा है । और इस निरखके सामने मति श्रुत आदिक अधूरे जो ज्ञान हैं वे भी जीव नहीं । अजीवके दो अर्थ होते हैं—एक जीव और एक जीव नहीं । उसकी दृष्टिमें यह आत्मस्वभाव है सो तो स्व है और शेष जो तत्त्व हैं वे उसकी निगाहमें पर हैं, क्योंकि स्वका आश्रय बना और इतना ही नहीं, मिथ्यात्व आदिक जो गुणस्थान कहे वे भी इसके आश्रयसे अजीव हैं । यह मात्र उस चैतन्यस्वरूपको जीव

निरख रहा है, यह भी प्रयोगकी स्थितिका वर्णन चल रहा है। वैसे व्यवहारसे तो सभी जीव हैं, पशु जीव, पक्षी जीव, कीड़ा-मकोड़ा जीव क्योंकि यदि जीव न कहा जाय तो जो चाहे उनकी हिंसा भी कर लेना काठ पत्थरकी तरह है, मगर परमार्थ जीव क्या है, और किसके आश्रयसे पावे ? अपने ही आश्रयसे यह समाधिष्ठ बनता है, तो जीव और अजीवकी विभक्ति करना, विभाग करना इस बातको योगी जानता है। जीवका स्वरूप है अविनाशी, जो चित्स्वरूप अनादि अनन्त है, वह मैं जीव हूं। इस लक्षणके मुताबिक परख करते जाइये, जो बात मिटती हो वह मैं नहीं, जो स्वरूप अमिट है वह मैं हूं। इस परमार्थ जीव स्वरूपके निर्णयके प्रसंगमें केवल यह चैतन्यस्वरूप ही इसका जीव है और इसके अतिरिक्त जितने भी तत्त्व हैं वे जीव नहीं हैं, स्व नहीं हैं। जिस दृष्टिसे निरखना उसी दृष्टिसे निरखनेपर तत्त्वज्ञान होता है।

लक्ष्यभूत अन्तस्तत्त्वमें स्वत्वका अनुभव—जीव और अजीवके भेदकी बात कह रहे, समयसारमें इसका स्पष्ट विवेचन है, जीवके ये कुछ नहीं हैं। गुणस्थान आदिक भी जीव नहीं, सयोगकेवली अयोग केवली, जिन्हें हम भगवान कहते हैं वे भी इस योगी ध्यानीके लक्ष्यमें जीव नहीं, वह भी जीवका एक परिणमन है। तो जो परमार्थ जीव है उसके आश्रयसे ही विशुद्धि बनती है, कर्म दूर होते हैं, तो सर्वज्ञ देवने इस प्रकार सम्यग्ज्ञानका वर्णन किया, बढ़ना है अपनेको मोक्षमार्गमें। तो मोक्षमार्गमें चलनेका, बढ़नेका एक ही आलम्बन है, एक ही उपाय है कि अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूप का आलम्बन लेना, उसकी दृष्टि वही है। जैसे एक कथा है महाभारतकी कि जब द्रोणाचार्य कौरव और पाण्डवोंको धनुर्विद्या सिखा चुके तो एक दिन उनकी परीक्षा लेनेके लिए कहा। तो लिखा तो यों है कि पेड़ पर किसी कागज या लकड़ी बैंगरहकी नकली चिड़िया टंगवा दी और सभी राजकुमारोंसे उस चिड़ियाकी आंखमें तीर मारने को कहा। सभी राजकुमार परीक्षा देनेके लिए तैयार हुए। वहां द्रोणाचार्य प्रत्येक राजकुमारसे बारी-बारीसे तीरका निशाना लगाते समय पूछते जा रहे थे कि तुम्हें इस समय क्या दिखता है। तो वहां प्रायः करके सभीने यही उत्तर दिया कि हमें तो आप दिखते, सभी राजकुमार दिखते, वृक्ष दिखता, चिड़िया दिखती, जंगल दिखता, मैदान दिखता। सभीके इसी तरहके उत्तर सुनते गए गुरु द्रोणाचार्य और सभीको अनुत्तीर्ण घोषित करते गए। अन्तमें जब अर्जुनकी बारी आयी तो गुरुद्रोणने पूछा बताओ तुम्हें इस समय क्या दिखता है ? तो वहां अर्जुनका यही उत्तर था कि बस मुझे तीर

की नोक और चिड़ियाकी आंख दिखती है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं । तो ऐसे ही जब समाधि ध्यान योगके प्रसंगमें यह ज्ञानी निरखता है तो एकमात्र अनादि अनन्त अहेतुक यह चैतन्यस्वभाव ही दृष्ट होता है ।

ज्ञानोकी पुण्यसे भी उपेक्षा—आप रोज पूजा करते उस प्रस्तावनामें एक छंद बोलते हैं—अहंत् पुराण पुरुषोत्तम पावनानि वस्तूनि नूनमखिलान्ययमेक एव । अस्मिन् ज्वद्विमलकेवलबोधवह्मो, पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि । हे अरहंत, हे पुराण, हे पुरुषोत्तम यहां जो इतनी पवित्र चीजें रखी हैं सो ये सारीकी सारी एक ही चीज हैं याने जब वहां केवल एक ही दृष्टिमें है, वह क्या दृष्टिमें ? यह जाज्वल्यमान केवल ज्ञानज्योतिरूप अग्नि । सो यह मैं जाज्वल्यमान केवल ज्ञानप्रकाशरूप अग्निमें एकमन होकर समग्र पुण्यको मैं स्वाहा करता हूं । पुण्य मायने पवित्र वस्तु, अब अर्थ लगाते जाइये—जो थाल सजा रखा है, पवित्र चीज रखी है सो वर्तमान प्रसंग तो यह ही बताता है कि मैं इसको स्वाहा करता हूं, स्वाहाका सीधा अर्थ है त्यागता हूं, अब स्वाहा करनेका स्पष्ट अर्थ देखिये—मानो कोई भगवानकी ओर से कह रहा कि वाह रे भक्त, तुम अच्छा बहका लेते हो प्रभुको । यह कोई दो ढाई रुपयेका सामान एक थालमें सजाकर कह रहे हो, एक बड़ी शान बगरा रहे हो कि मैं समग्र पुण्यको एकमन होकर स्वाहा करता हूं, तो पूजककी ओरसे उत्तर होता है कि महाराज, इतना ही नहीं, जितना पुण्य धन वैभव मुझको मिला है मैं उस सबको स्वाहा करता हूं । याने आपकी भक्तिमें वह सब भी अर्पण करता हूं, तो फिर मानो कोई कहने लगा प्रभुकी ओरसे कि यहां भी तुम बहका रहे, जान तो रहे ही हो कि यह धन वैभव तो सब छूट जाने वाला है, साथ तो कुछ जाना नहीं है, विनाशीक है सो इसको अर्पण करके भले बन जायेंगे, भक्त कहता है कि महाराज इतनी भी बात नहीं, जिस पुण्यकर्मके उदयसे यह वैभव मिलता है उस पुण्यका भी मैं स्वाहा करता हूं । याने पाप तो इष्ट है ही नहीं, पर मुझे यह पुण्य कर्म भी इष्ट नहीं, मैं तो कर्मोंसे रहित होकर एक शुद्ध सिद्ध दशा पाऊं, यह चाहता हूं । फिर मानो प्रभुकी ओरसे कोई कहने लगा कि ये जड़ कर्म पौद्गलिक हैं, पाप पुण्य कर्म ये सब तेरेसे भिन्न हैं, ये कोई चीजें तेरेमें नहीं हैं, सो पर की बात कहकर तू शान बगरा रहा है । तो वह भक्त कहता है कि इतना ही नहीं, जिस भावपुण्यके निमित्तसे यह द्रव्यपुण्य आता है उस भावपुण्यको भी मैं स्वाहा करता हूं । याने मुझे शुभ भाव भी न चाहिए, मुझे तो शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप परिणमन

ही चाहिए। तो जिसका स्वाहा किया वे सब चीजे हैं क्या? परमार्थ दृष्टिसे एक वह ज्ञानज्योतिमात्र शुद्ध चैतन्य वह मेरी निगाहमें जीव है और बाकी सब ये कोई चीजें जीव नहीं हैं। एक लक्ष्य है।

सर्वश्रेयोंका आधार सहजात्मस्वरूपका परिचय—देखिये यदि आत्माके स्वरूपका लक्ष्य परिचय पाया तो आपका यह व्यवहारधर्म, आपके धर्मपालनका सहयोगी बन जायगा और एक अपने आत्मस्वरूपका परिचय नहीं है तो व्यवहारधर्म करते हुए भी उसमें जाना क्या गया? कल्पनायें उसका आधार हैं। तो वहां धर्मपालन नहीं होता। व्यर्थ तो यों न कहेंगे कि कुछ भेद कषाय हुई, पुण्यबंध हुआ, तो सद्गति मिलेगी, आगे चेत जायेंगे तो कल्याण हो जायगा। इसके बजाय यदि पापभाव करते, विषयकषायों में रमते और कीड़ा-मकोड़ा जैसी खोटी गतियोंमें जन्म लेना पड़ता तो कुछ आगेको कोई अच्छा होनेकी सम्भावना भी नहीं है, इस कारण पुण्य और पापके कार्योंकी अपेक्षा तो यह बहुत अच्छा है कि नहीं भी ज्ञान है तो भी मंदिरमें आये, कुछ बात सुना, कुछ समारोहोंका आनन्द लिया, तीर्थयात्राका आनन्द लिया, रथोत्सव आदिकमें भी खूब आनन्द लिया, अच्छा है, मगर जन्ममरणमय इस संसारसे छुटकारा पानेके लिए तो उसकी दृष्टिमें एक यह निर्णय है कि अनादि अनन्त अहेतुक शुद्ध चैतन्यमात्र अंत-स्तत्त्वके आलम्बनसे ही मोक्ष मिलेगा। तो यह जीव और अजीवके विभागको योगी मथार्थ जानता है। जिसके बलसे वह परमार्थ सहज स्वरूप तक पहुंचता है, तो ऐसा जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने यथार्थतया निर्णय किया।

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।

त चारित्तं भणियं अवियप्यं कम्मरहिण ॥४२॥

योगीके पुण्यपापका परिहार—यह मैं आत्मा अमूर्त ज्ञानस्वरूप हूं इस मुझमें अपने आप अपने ही कारण स्वभावतः ज्ञानकी ही विशुद्ध तरंग निरन्तर चलती रहती है। यह मेरा सहज व्यवसाय है और इस ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वके सिवाय अन्य जितने भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप तत्त्व हैं वे सब मुझसे जुड़े हैं। मैं जैसा हूं अपने आप मेरेमें जैसा सहज परिणमन होता वही मैं हूं। मुझे अन्य परिणमन न चाहिए। भले ही पुण्य के फलमें संसारके वैभव मिलते हैं, बड़े-बड़े राजपाट ऐश्वर्य मिलते हैं, लेकिन वह सब अपवित्रता है, विकार है, वह भी मुझे न चाहिए। मुझे तो वही इष्ट है जो मेरेमें अपने आप निरपेक्षतया चलता रहे, ऐसा निर्णय करने वाले योगी पुण्य पाप दोनों भावों

का परिहार करते हैं। देखिये ऐसे निर्मल भावोंके होनेपर जब तक संसारमें रहना होगा तब तक वह बड़े पुण्य वैभवके साथ रहेगा और उससे भी विरक्त रहेगा और निकट कालमें ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर बाह्य आभ्यन्तर रूपसे होकर शुक्ल ध्यानके प्रतापसे निर्वाण पायेगा। तो एक ही निर्णय रखना है सब बातके लिए। लोकमें सबसे ऊँचा सुख मिले उसका भी यह ही साधन है और मोक्ष मार्ग और मोक्ष मिले उसका भी यह ही साधन है। क्योंकि अपना जो सहज चैतन्यस्वरूप है उस रूप अपने आपको मानना कि मैं यह हूँ, मैं अन्य कुछ नहीं हूँ। देखिये धर्मपालन अपने आपकी दृष्टिसे होता है। बाहरी चीजोंके मिलनेसे या क्रियाओंसे धर्म नहीं होता। बाहरी चीजें और क्रियायें ये सुलझे हुए ज्ञानी व्यक्तिको अपने ध्येयमें एक सहयोग देती हैं किसी रूपसे, पर धर्मपालन होगा तो एक अपने इस चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हूँ, ऐसा अनुभवनेसे होगा। जिसको इस अंत-स्तत्त्वका परिचय मिला है उस जीवको जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक बड़े ठाठबाट इन्द्र पद चक्रवर्तीपद, तीर्थंकर पद आदि ऊँचे-ऊँचे वैभव प्राप्त होते हैं, मगर वह ज्ञानी ऐसे महान वैभवोंसे भी विरक्त रहता है। तब ही उसका मोक्षमार्ग चल रहा और वह इस यही स्वभावके आलम्बनके प्रसादसे मुनिव्रतसे गुजर कर निर्वाणको प्राप्त करता है। तो एक ही दृष्टि रखें।

अन्तस्तत्त्वके आश्रयका सर्व महान चमत्कार—एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय। यदि अपने आपके आत्मस्वरूपकी साधना बनाली, धीर होकर अपने आपके अभिमुख होकर यदि एक अपने आपकी साधना बनाली तो समझो कि मैंने सबकुछ पाया। और बाहरी चीजोंपर ही दृष्टि रही या कुछ थोड़े ऊपरी व्यवहार धर्मपर ही दृष्टि रही और उसमें ही पूरा संतोष मानकर चलें तो कुछ न बन पायेंगे। जो बात योगी करते हैं वही बात श्रावकोंको करना चाहिए। अन्तर सिर्फ चारित्र्यमें बढ़नेका रहता है। भीतरी बात एक समान ही होनी चाहिए। वह भीतरी बात क्या है? आत्मस्वभावका आश्रय और आत्मस्वभाव रूप ही अपने आपको अनुभवनेकी धुन, यह बात योगियोंके होती है, यह ही बात श्रावकोंके होना चाहिए। जिस श्रावकके आत्मस्वभावकी धुन बनी है वह अपनी परिस्थितिके कारण उसका प्रयोग नहीं कर पाता, लेकिन उसकी प्रतीतिके बलपर ही अनेक कर्म कट जाते हैं। जैसे किसीने कोई बड़ी अनोखी मीठी चीज खाया और वह खानेका लोभी है तो खाकर उसे उसका ध्यान रहता है, उसकी कथा गाता है और उसका ख्याल करके एक अपनी शान

बनाता है। तो ज्ञानी पुरुष जिसने कि आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया है और उस अनुभवमें सहज आनन्द पाया है वह उतने में अनुभवे हुए आनन्दका ध्यान करके निरन्तर भीतरमें निराकुल रहता है। तो श्रावकजनोंको भीतर की काम यही एक मात्र करना योग्य है कि अपने आपके उस शाश्वत् चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हूं ऐसा ध्यान बनायें, अमुक चंद, अमुक लाल, अमुक प्रसाद, अमुक गांव वाला, अमुक वैभव वाला, ऐसे कुटुम्ब वाला, अमुकका पिता, अमुकका पौत्र, ऐसा अनुभव मुझे न चाहिए। ये सब व्यवहारकी बातें हैं। अपने आपको अनुभवना चाहिए कि मैं सबसे निराला चैतन्य-स्वरूपमात्र हूं और ऐसे अनुभवमें, ऐसे ध्यानमें जब एक सहज आनन्दका अनुभव होता है तब वह कह उठता है, निर्णय करता है कि मुझको तो बस यह ही स्थिति चाहिए। संसारकी अन्य जितनी भी स्थितियां हैं बड़ीसे बड़ी, ऊंचासे ऊंचा राज्यपद, मिनिस्टर, राष्ट्रपति आदिक ये कुछ भी पद मुझे न चाहिए। जो अपने आत्मवैभवमें तृप्त हैं वे सबसे महान हैं। जो अपने आत्मवैभवमें तृप्त नहीं हो सकता है, बाह्य पदार्थोंमें तृष्णा करता है तो वह उस तृष्णाके कारण हैरान हो होकर जीवन गुजारता है। एक यह अनोखा वैभव आत्मवैभव जिसने प्राप्त कर लिया उसने सबकुछ पा लिया समझिये।

सहज स्वायत्त स्वत्वका आश्रय करनेवाले योगीकी चारित्र्यमयता— जिसको किसी प्रकारकी आधीनता नहीं, धनी हो, निर्धन हो, कुटुम्ब वाला हो, बिना कुटुम्बका हो, साथियोंमें रहता हो या अकेला पड़ा रहता हो, किसी भी स्थितिमें हो, जो इस सहज परमात्मतत्त्वका अनुभव करेगा वह सर्व संकटोंसे छूट जायगा। तो यह योगी इस प्रकार स्व और परको जानकर पुण्य पापका परिहार करता है और इस ही स्थितिसे कि पुण्य-पापभाव न जगें और मात्र एक ज्ञानमात्रका ही अनुभव बने इसीको जिनेन्द्र भगवानने चारित्र्य कहा है। जैसे कहा जाता कि चारित्र्यका पालन करो तो इसका आन्तरिक अर्थ तो यह है कि अपने ज्ञानको अपने ज्ञानस्वरूपमें मग्न कर दो। और यह बात न बन सके तो और यहां वहां के विकल्प न दौड़ रहे हों तो व्रत, नियम, तप, शील संयमरूप आचरण करके रहो और वहां सुरक्षित होकर अपने इस ज्ञानस्वरूपका ध्यान बनावो। व्यवहारचारित्र्यकी बड़ी उपयोगिता है पात्रता रखनेके लिए, किन्तु जो व्यवहारचारित्र्य को ही निश्चय चारित्र्य समझ लेते हैं उनकी गति आत्मस्वरूपमें मग्न होनेकी नहीं बन पाती। और जो लोग निश्चय चारित्र्यके स्वरूपकी बात सुनकर केवल उस ही की बात करते हैं याने गप्प करते हैं और व्रत, तप, शील संयमकी उल्लेख करते हैं, उसको निरा-

दरकी दृष्टिसे देखते हैं वे तो किसी कामके नहीं रहे, इस कारण जिनेन्द्र देवके द्वारा बताये गए सिद्धान्तसे चलते हुए आत्मस्वभावका ध्यान करना चाहिए। तो चारित्रका यहां लक्षण बताया है आत्मस्वरूपमें स्थिर होना। जैसे यह ज्ञान दुनियाभरकी बातों का ख्याल करता है, ध्यान करता है और उनमें इष्ट अनिष्टका भाव बनाता है, राग-द्वेष भी करता है, आकुलित भी होता है तो किसी भी बाह्य तत्त्वका ध्यान न आये और एकमात्र ज्ञानका ही स्वाद चले, ज्ञानमें ज्ञान ही समाया हुआ रहे, ऐसी स्थिति बने, उसको कहते हैं चारित्र। सो जब तक इस जीवके पुण्य पापमें परिणति रहती है तब तक यह ज्ञानकी स्थिति कहां बन पाती, क्योंकि पाप पुण्यके भाव कषायसे उत्पन्न होते हैं। कषाय भी दो तरहके हैं जैसे (१) शुभ राग और (२) अशुभ राग। मगर स्वभावके प्रतिकूल विभाव ही हैं पुण्य भी और पाप भी। तो पुण्य पापकी स्थितिमें संकल्प विकल्प होते हैं और संकल्प विकल्पकी दशामें शुद्ध यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता। इस ही के लिए आचार्य महाराज यहां मुनिजनोंको आदेश कर रहे हैं कि स्व और परका यथार्थस्वरूप जानकर पुण्य और पापका परिहार कर अपने उस अखण्ड ज्ञानस्वरूपका अनुभव करें।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तव संजदो ससत्तीए।

सो पावइ परमणयं ज्ञायतो अप्पय सुद्धं ॥४३॥

मोक्ष और मोक्षानुरूप स्वरूपका दिग्दर्शन—जिस धर्मसे मोक्ष मिलता है वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है। वहां धर्मकी व्याख्यायें अनेक प्रकारसे की गई हैं और उनका मतलब यह है कि जो पुरुष जैसी भूमिकामें रह रहा उसके लिए उस प्रकारके धर्मका उपदेश किया है। पर परमार्थतः धर्म एकस्वरूप है और वह है रत्नत्रयात्मक आत्माका मोक्ष कराना है तो मोक्षके मायने खालिस आत्मा रह जाय, और कुछ साथमें न रहे उसे कहते हैं मोक्ष। जैसे रोज-रोज प्रार्थना करते, विनती करते, कि मेरेको मोक्ष मिले, तो उसका क्या भाव लेना चित्तमें कि मैं आत्मा इस शरीरके कर्मके बन्धनसे अलग होकर खालिस मैं अकेला ही रह जाऊं, इसे कहते हैं मोक्षको पाना। तो मोक्ष चाहते हैं मायने मैं सबसे निराला खालिस आत्मा ही आत्मा रह जाऊं, मेरे साथ कुछ सम्पर्क न हो, ऐसा केवल आत्मा रह जाऊं, यह चाहता हूं। अच्छा यह चाहते हो तो पहले यहां ही देखो कि इन तीनके बीच, अनेक पदार्थोंके बीच रहते हुए मैं स्वरूपतः यह मैं अकेला हूं या नहीं? यदि मैं यहां ही अकेला नहीं हूं तो फिर कभी अकेला हो ही नहीं

सकता। जैसे किसी मटकेके अन्दर मानो १० तरहके अनाजके दाने मिले-जुले रखे हैं, उनमेंसे किसी एक अनाजका दाना छांटना है तो वह छांट तब ही तो बन सकती है जबकि उस मटके के भीतर भी वह अनाज अकेला है, अलग है। यद्यपि अभी वहां बन्धन है, मटकेके अन्दर है, सब दानोंमें वह मिला-जुला है फिर भी स्वरूपसे देखो तो वह अकेला है। अकेला है तभी उसे अकेला कर सकते, चावलोंमें जैसे बहुत सा कूड़ा करकट मिला है, उसमें हमको चावल अलग करना है तो उन चावलोंको अलग तब ही कर पायेंगे जबकि वे चावल उस कूड़ा करकटमें मिले हुए की स्थितिमें भी अलग हैं। चावल अपनी ही सत्तासे अपनेमें रहते हों, कूड़ामय न हो गए हों तब ही कूड़ेसे अलग हो सकते हैं। तो ऐसे ही समझो कि हमको अपने आत्माको मुक्त करना है, संसारके सर्व संकटोंसे छुटकारा प्राप्त कराना है तो यह मुक्त तभी हो सकता जबकि स्वरूप ही अपना अपनी सत्तामें परिपूर्ण अलग रख रहा हो। उस एकाकी स्वरूपको ही एकतान होकर निरखता रहे तो वह आत्मस्वरूप अलग हो जायगा। यही रत्नत्रय की पूर्णता कहलाती है। वह रत्नत्रयको धारण करने वाला मुनि इस शुद्ध आत्माका ध्यान करता हुआ अपनी शक्तिसे तपश्चरण करता है और परमपद निर्वाणको प्राप्त होता है।

धर्मपालन व मोक्षमार्ग गमनकी एक विधि—मैया, जैसे किसी रास्तेपर चलना सबका एक ही तरह ही होता। जितने भी आदमी रास्तेमें पैदल चल रहे उन सबका चलना एक ही ढंगसे होता है। कहीं ऐसा नहीं कि कोई अटपट चले, टेढ़ामेढ़ा चले, उल्टा-सीधा चले, या विपरीत-विपरीत दिशाओंमें चलता फिरे, सबके चलनेका ढंग एक होता। वह बात दूसरी है कि जवान लोग जरा तेज रफ्तारमें चलेंगे और बूढ़े या छोटे बच्चे धीरे-धीरे चलेंगे। देखा होगा कि जब सम्मेलन शिखरजी की वन्दना करनेके लिए लोग पहाड़पर चढ़ते हैं तो सबका चलनेका ढंग एक होता है पर जवान लोग जरा जल्दी-जल्दी चढ़कर जल्दी ही पहाड़पर पहुंचकर वन्दना कर लेते हैं और बूढ़े लोग धीरे-धीरे चलकर कुछ अधिक समयमें वन्दना करके आ पाते हैं। तो इस रफ्तारमें शक्तिभेदसे अन्तर भले ही हो, पर चलनेका ढंग सबका एक है, ऐसे ही मोक्ष महलमें जितने भी भव्य पुरुष जा रहे हैं, उस मोक्षमार्गमें चल रहे हैं मुनि हों, श्रावक हों, कोई हों, उन सबका चलना एक तरहका है। भीतर निरखिये—बाहरी अन्तरकौ बात नहीं कह रहे। वह चलना किस तरहका है कि अपने आत्मविभवानुसार अहेतुक चैतन्य स्वभाव

का आलम्बन लेकर उस ही की दृष्टि रखकर, उस ही के जाननेका स्वाद लिया जा रहा है, मोक्षमार्गमें चलनेकी यह विधि है। अब परिस्थितिवश अन्तर आ गया कि श्रावकोंके चूँकि गृहस्थी सम्बन्धी अनेक झंझट हैं सो वे निर्बल हो गए मोक्षमार्गमें चलने के लिए, इसलिए वे धीरे-धीरे इस कार्यको निभा पाते हैं। और मुनिजन चूँकि निशल्य हैं, आरम्भ परिग्रहसे अत्यन्त दूर हैं। उनको किसी भी बाह्य तत्त्वमें लगाव नहीं है सो वे अपने आपके इस भीतरी पुरुषार्थमें तेजीसे बढ़ रहे हैं, यद्यपि यहां इतनी विशेषता है कि वे श्रावक अपनी मंदगतिसे चल चलकर मोक्ष न जा पायेंगे। वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर के वातावरणमें रहकर एक अन्तः तीव्र गति करके ही मोक्ष जा पायेंगे मगर मोक्ष जाने का जो ढंग है वह सब एक ही तरहका है। जब श्रावकजन पूजन करते हुए, स्वाध्याय करते हुए अनेक धर्मकार्य करते हुए, गुरुजनोंकी सेवा करते हों आदि सभी स्थितियोंमें उन्हें ध्यान यह रखना चाहिए कि धर्म कर्तव्य तो बस यह ही है कि अपने सहज स्वभावको अनुभवमें लूं कि मैं यह हूं। यह जितना बन पायगा उतना धर्मपालन है।

रत्नत्रययुक्त संयमीका स्वशक्त्यनुसार तपश्चरण करते हुए शुद्ध आत्मत्वका ध्यान—
रत्नत्रयसे युक्त होता हुआ योगी शक्ति अनुसार इच्छावोंका निरोध कर करके तपश्चरण करता है वही वास्तविक संयमी है। ऐसा संयमी पुरुष शुद्ध आत्माका ध्यान करता है, शुद्ध आत्मा मायने अपना ही सहज स्वरूप जो सबसे निराला है और अपने आपमें शाश्वत् तन्मय है ज्ञानमात्र, एतावनमात्र, जिनको यह स्वरूपकी बात समझमें न आती हो उनको कमसे कम इतना तो समझ लेना चाहिए कि जिन-जिन बातोंका हम ख्याल बनाये रहते हैं, जहां-जहां हमारी दृष्टि दौड़ती रहती है, जिस-जिस रूप हम अपनेको मानते रहते हैं वे बातें मिटती हैं या नहीं मिटती? इतनी ही परख करलो। जब परख करने चलेंगे तो आपको साफ विदित होगा कि जिन-जिनमें हम रमते हैं, जो-जो हम ख्याल बनाते हैं, जो-जो ढंग अपनेमें मानते हैं वे सब मिट जाने वाली बातें हैं। तो जो मिट जाने वाली बातें हैं उन्हें मानना कि ये मैं हूं, तो यह कोई विवेक है क्या? वैसे तो डर लगता है मरनेसे, अरे मैं मर जाऊंगा, मैं मिट जाऊंगा, मैं नष्ट हो जाऊंगा, और यहां नष्ट होने वाली बातोंको मान रहे कि मैं इन रूप हूं, तो इसके मायने यह है कि अपनेको नष्ट होना पसंद करते हैं। यह मनुष्यभव मिला है इसमें सावधानी रहे, सम्हल जाय तो समझो कि संसार सागरसे पार होनेका मौका मिल गया, और यदि न सम्हल सके तब तो फिर इस संसार सागरमें ही गोते लगा लगाकर दुःखी होते

फिरेंगे ।

शहदलपेटी तलवारके चाटनेकी आसक्ति तजकर ज्ञानामृतरसके स्वादमें तृप्त रहनेकी कौशलता— यह अवसर एक निर्णय करनेका समय है, क्या निर्णय चाहिए ? यदि पूछा जाय कि क्या चाहिए ? आपको संसार संकटोंसे पार होना है या इस संसार समुद्रमें डूबना है ? तो उत्तर हर एक कोई यह देगा कि हम तो संसारसे पार होना चाहते हैं । किन्तु जब कहेंगे कि अच्छा तो फिर संसारसे पार होने लायक काम करियेगा, क्या काम है कि सर्व अन्य पदार्थोंसे ममता तजकर उनको अपनेसे भिन्न निरखकर, उनका ख्याल छोड़कर अपने शाश्वत इस ज्ञानप्रकाशमें अपनेको अनुभविये । तो कुछ लोग तो पसंद कर भी लेंगे और कुछ लोगोंको यह कष्ट सा लगेगा इस चैतन्यस्वरूपमें प्रतपन करनेका कि अरे तो मेरा क्या यह सब छूट जायगा ? मेरेसे यह सब कैसे छोड़ा जायगा ? ये सब कैसा मेरे लिए प्यारे हैं, कैसे मैं इन्हें जीते जी छोड़ सकता ? अरे यही तो है शहद लपेटी तलवार है कि यह आशक्त पुरुष उस शहदको छोड़ नहीं सकता । वह तो चाटकर ही रहना चाहता है । खूब उस तलवारको चूस चूसकर अपनेको मस्त रखना चाहता है और करता है ऐसा उद्यम, मगर उसका फल क्या होता है कि जीभ कट जाती है । तो ये सब जितने समागम हैं ये शहद लिपटी तलवारकी तरह हैं । जो ज्ञानीजन हैं वे उससे अपना मुख मोड़कर ज्ञानामृत रूप रहते ? अपनेमें अपने विभक्त एकत्वपन एक ज्ञानप्रकाशमय अपनेको अनुभवना । इसमें जिनको कष्ट हो रहा हो वे यदि नहीं अनुभव कर पाते तो इतना ही प्रयोग करलें कि समस्त बाह्य पदार्थ मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, उनका ख्याल न करके परम विश्रामसे बैठ जायें । ऐसा करने वालोंको ज्ञानानुभव होता ही है । यह ही ज्ञानामृतका पान ऐसा है कि जिसका पान करनेसे संसारके आवागमन के संकट सदाके लिए टल जाते हैं ।

तिहि तिणिं धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिण्ण परियरिओ ।

दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा ज्ञायए जोई ॥४४॥

परमात्मतत्त्वके ध्यानके अर्थ मन वचन कायसे वर्षा शीत ग्रंथम योगोंका धारण— तीनके द्वारा तीनको धारणकर तीनसे रहित, तीनसे सहित दोषोंसे पृथक् योगी परमात्माका ध्यान करता है । इस गाथामें यह बताया है कि कैसा योगी परमात्माका ध्यान कर पाता है । परमात्मा शब्दसे दो धामोंका बोध होता है—एक तो रागद्वेषरहित, कर्मसे रहित सर्वज्ञ वीतराग अरहंत सिद्ध परमात्माका बोध होता है यह कहलाता है पर्याय-

शुद्ध परमात्मा और परमात्मा शब्दसे बोध होता है अपने आपके आत्माका अपने ही सत्त्वके कारण जो सहज स्वरूप है, जो कि अन्य पदार्थोंसे जुदा है और अपने आपके सहज स्वभावमें तन्मय है उसे भी परमात्मा कहते हैं। यह कहलाता है कारण परमात्मा। तो योगीजन कार्य परमात्माका ध्यान करते हैं सो तो ठीक है, पर इससे भी ऊंचा ध्यान होता है इस कारण परमात्माका ध्यान, शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान, सो ऐसे परमात्माका ध्यान कौन सा योगी करता है यह बात बतला रहे हैं। जिसने तीन के द्वारा तीनको धारण किया, मन, वचन, कायके द्वारा वर्षाकाल, शीतकाल और ग्रीष्मकालके योगको धारण किया है। जो योगी इतना निस्पृह होता है कि वर्षा, शीत, गर्मीके दिनोंमें कुछ भी बचावका भाव न रखता, शरीरको ऐसा पृथक् समझता है कि इससे उपेक्षा है वह योगी विशेषतया तीन योगोंको धारण करता है।

वर्षायोगका दिग्दर्शन—वर्षा योगका धारण कैसे ? वर्षाकालमें वृक्षके नीचे खड़े हुए ध्यान करना, पानी बरष रहा है और पेड़पर, पत्तोंपर गिर-गिरकर मोटी बूंद बनकर उसके शरीरमें पड़ते रहते हैं ओर अपने ध्यानमें वह रत रहता है। ऐसा वर्षा-योग करनेका कारण एक तो उत्तर गुण है, तपश्चरण है, दूसरी बात वृक्षपर पानी पड़कर जो नीचे बूंद आती हैं वे प्रासुप बूंद हैं। तीसरी बात—मैदानमें खड़े हुए वर्षा को सह लेना आसान है, पर वृक्षके नीचे खड़े होकर मोटी बूंदोंको सह लेना आसान नहीं। हां यदि थोड़ी वर्षा होती हो तब तो पेड़के नीचे लोग बैठ जाते हैं कि वर्षासे बच जायेंगे, किन्तु जब तेज वर्षा चल रही हो तो मैदानमें उतना कष्ट नहीं होता जितना कि वृक्षके नीचे मोटी बूंदोंके पड़नेसे होता है, वह भी एक तपश्चरण है। ऐसे वर्षायोगको मनसे उत्साहित होकर, वचनसे अनुमोदना कर करके, शरीरचेष्टा तो वहां है ही, इन तीन योगोंसे वर्षायोगको धारण करने वाले साधु इतने दृढ़ ज्ञानी दृढ़ चित्त धीर होते हैं कि वे शुद्ध आत्माका ध्यान करनेमें सफल होते हैं।

शीतयोगका दिग्दर्शन—दूसरा योग शीतकालका लीजिए। ठंडके दिनोंमें ढंडका बचाव करनेके लिए किसी घरमें बैठे, गुफामें बैठे, कहीं एक आवरणमें बैठे तो ऐसा बैठना मूलगुणमें दोष नहीं लाता फिर भी थोड़ा तो कुछ ख्याल आया। शरीरका संकट न सह सके, परीषहजय न कर सके, तो जो मुनि ऐसे उत्तर गुणोंको धारण करता है, कि शरीरकी उपेक्षा है, सहज जहां बैठे वहां ही ध्यान कर रहे हैं, नदीके किनारे बैठे हैं, मैदानमें बैठे हैं, बड़ी ओस चल रही है, ठंडी हवा चल रही है तिसपर भी उपयोग

चूँकि आत्मस्वरूपमें है इस कारण उन्हें कोई बाधा नहीं मालूम होती । एक बात तो हम आप भी अनुभव कर सकते हैं कि किसी बीमारीमें । किसी परिस्थितिमें यदि अपने उपयोगको शुद्ध बना रखा और आत्माके सहज स्वरूपमें लगाया तो उसके प्रसादसे संकट भी कम होता और रोग भी दूर होने लगता है, यह एक परम औषधि है व्याधि के विनाशकी । करते नहीं बनता इसलिए उसका कुछ भी ध्यान नहीं है और बाहरी उपचार आत्मामें विश्वास है, पर इसीकी दृढ़ भावना हो और एक अपने आपके स्वरूप निर्णयमें ही उतरा हो और अपना उपयोग सहज आत्मस्वरूपकी ओर करे तो उसकी व्याधि भी शान्त हो लेगी, रोग भी दूर होने लगता है । भला जिस आत्मध्यानके प्रतापसे केवलज्ञान होनेसे पहले शरीर निगोदरहित हो जाता है और पश्चात् स्फटिक के समान शुद्ध हो जाता है, तो भावशुद्ध यदि यहां भी बने किसीसे तो ये व्याधियां शान्त हो जायें तो इसमें क्या आश्चर्य ? ठंडके परीषह, ठंडकी बाधा न रहे और भीतर ध्यान अग्निसे एक तपन चल रहा है तो ऐसी स्थिति होती है योगी पुरुषोंकी । तो वह योगी मनसे, वचनसे, कायसे इस शीतकालके योगको धारण करता है ।

ग्रहयोगका दिग्दर्शन—आतापन योग गर्मीके दिनोंमें शरीरके बचावका कुछ भी चित्तमें ध्यान न जाय, पर्वत पर हैं, जहां हैं, मैदानमें खड़े ध्यान कर रहे, जब यह उपयोग आत्मस्वरूपमें लगता है वहां कर्मोंका कुछ ध्यान नहीं रहता और शरीर पर भी कोई बाधाएँ नहीं आतीं, तपश्चरणका ऐसा प्रताप है, चार्वाकलोग बताया करते हैं जीवको कि यह चार भूतोंसे उत्पन्न होता, मगर आयुर्वेद शास्त्र बताता है शरीरको कि इस शरीरमें चार भूत जैसे तत्त्व पाये जाते हैं । इस सारे शरीरको लोग माटी कहते हैं, बोलते ना यह मिट्टीका पुतला एक दिन माटीमें मिल जायगा । यद्यपि सिद्धान्त शास्त्रोंके अनुसार मिट्टी पृथ्वीकाय है, और यहां हम आप त्रस काय हैं, लेकिन साहस्य तो चलता ही है । तब ही देखिये प्राकृत चिकित्सामें अनेक रोग मिट्टीके द्वारा समन कर दिए जाते हैं, पेटपर मिट्टी रखकर या मस्तकमें मिट्टीका लेप करके, सारे शरीर में मिट्टीका लेप करके अनेकों प्रकार के रोग दूर कर लिए जाते हैं । शरीरमें जलतत्त्व का साहस्य है, देहमें जल तत्त्व पाया जाता है । और कितने ही देहके इलाज जलसे किए जाते हैं, टपमें नहाना या भाप देना या पानीके छींटे देना आदिक इन प्रक्रियाओं से भी अनेक रोग दूर किए जाते हैं । अग्नि तत्त्व देहमें अग्नि हैं, भापसे, धूपसे या अग्निके तापसे कितनी ही व्याधियां शान्त हो जाती हैं । और वायुतत्त्व शरीरमें हवा

मोक्षपाहुड़ प्रवचन

का शुद्ध वातावरण चाहिये । यदि हवा न मिले तो ये पेड़ पौधे तक भी जिन्दा नहीं रह सकते, हम आप लोगोंकी तो बात ही क्या ? तो यह शरीर इसीलिए भौतिक कहा जाता है, इसका जो लोग अधिक ध्यान रखते वही जिन्दा रह सकते ऐसी बात नहीं है । जो लोग इस शरीरकी उपेक्षा करते हैं, ख्याल भी नहीं करते उनका शरीर तो उनसे भी अधिक ठीक रहता है । केवलज्ञान होनेपर भगवानका शरीर करोड़ों वर्षों तक बिना आहार पानीके अनन्त वीर्यसे सम्पन्न रहा करता है । आतापनयोग जिनके आत्म-ज्ञान जगा, ज्ञानबल प्रकट हुआ उनके लिए ये सब योग आसान है । कैसे योगी शुद्ध आत्माका ध्यान करते हैं उसको बताते कि वे योगी जो तीनके द्वारा, मन, वचन, काय के द्वारा तीनको धारण करते, वर्षा, शीत और ग्रीष्म सम्बन्धी योगको धारण करते वे परमात्माका ध्यान करते हैं ।

परमात्मतत्त्वके ध्यानके पौखी महापुरुषोंकी निःश्लयताके प्रसंगमें माया श्लयका दिग्दर्शन—
कैसे साधु शुद्ध आत्माका ध्यान करते ? जो तीनसे रहित हैं—(१) माया, (२) मिथ्या और (३) निदान, इन तीन दोषोंसे रहित हैं । जिनके ये तीन श्लय पाये जाते उनके तो सम्यक्त्व भी नहीं है । माया मायने छल कपट, जिनको देहमें आत्माकी मान्यता है । जो इस लौकिक वैभवसे अपनेको महान समझते उनके माया श्लय बनी रहती है । परिग्रहका परिमाण है नहीं तो तृष्णाका भी परिमाण नहीं है, और वैभवोंको संचित करनेके लिए चित्तमें अनेक मायाजाल छल कपट होते हैं । तो जिनके परिग्रहका परिमाण नहीं होता उनके तो कोई सीमा ही नहीं है । तृष्णा है उसके कारण मायाके व्यवहार होते हैं । जिनके छल कपट है वे योगी शुद्ध आत्माका ध्यान नहीं कर सकते । अपनेमें सरलता होनी चाहिए । किसके लिए छल कपट करना ? “मनमें हो सो वचन उचरिये । वचन होय सो मनसे करिये । तो जो मायासे कपटसे रहित हैं वे योगी शुद्ध आत्माका ध्यान करते हैं । अब देखिये कि यदि छल कपट आया तो समझिये वहां सम्यक्त्व नहीं है । किसी गृहस्थमें किसी समय यदि कोई मायाकी बात आये तो कह सकते हैं कि परिस्थितियोंने उसे बाध्य किया है । यद्यपि वहां भी ऐसा न होना चाहिए मगर मायाके रूप तो अनेक होते हैं—सूक्ष्म अंशकी माया, मध्यम अंशकी माया और बड़े अंशकी माया । पर दिगम्बर वेश धरकर कोई छल कपट करते हैं तो यह बहाना न चलेगा कि क्या करें, परिस्थितिबश मैंने माया किया, योगीकी क्या है, वह तो अकेले आत्मतत्त्वके ध्यानके लिए दीक्षित हुआ है ।

समतासे भ्रष्ट साधुकी असाधुता—कैसा ही बाहरमें होता रहे, “अरि मित्र महल श्मशान कंचन कांच निन्दन श्रुतिकरण । अर्घावतारन असिप्रहारनमें सदा समता धरन ।” ऐसी स्थिति है मुनिकी । मुनिका कैसा उदार मन है कि उसके लिए शत्रु मित्र बराबर हैं, और जिसके चित्तमें माया बसी हो कि वह अच्छा, वह बुरा, वह अपने निर्ग्रन्थ पदको कलंकित कर लेता है, महल और श्मशान जिनके लिए एक समान हैं । पर जिनकी रुचि ऐसी बनी है कि हमें फर्स्टक्लास कोठी रहनेके लिए चाहिए, हमको बहुत बड़ी सफाई चाहिये । हमारी घड़ी, पेन, चश्मा आदि बहुत अच्छी क्वालिटीके चाहिए । भला बतलाओ कि ऐसी आकांक्षा जिनके बसी है वे शुद्ध आत्माका ध्यान कैसे कर सकते हैं ? उनके लिए महल श्मशान एक समान हैं । कहीं कूड़ा करकट भी पड़ा हो, जहांसे गुजरकर जा रहे या जहां कहीं बस रहे वहां बड़ी गंदगी हो फिर भी उनकी भौंह नहीं सिकुड़ सकती, उनको ग्लानि नहीं आ सकती । वे सर्व तत्त्वोंके मात्र जाननहार हैं । कितनी ऊंची उदारता है मुनिराजमें कि कंचन कांच जिनके लिए बराबर हैं, मगर जहां रईसों जैसा खर्च अपने साथ लगा रखा हो । मानो किसी रईसका ५ हजार रुपये मासिकका खर्च है तो वह सोचता कि हमारा स्टैण्ड इससे नीचे नहीं गिरना चाहिए बल्कि इससे भी बढ़ा हुआ होना चाहिए, पहरेदार चाहिए, सब प्रकारके सेवक चाहिए, एक राजसी जैसा रूपक बनाया तो भले ही आज का यह मूढ़ जगत उनको आदर्श रूपमें देखे मगर जैन सिद्धान्त तो यह कहता है कि जहां इतना लगाव लपेट है भीतरमें इतनी बात बसी है, उन्हीं को ही द्रव्यलिङ्गी कहा करते हैं, शुद्ध आत्माका ध्यान वे कहां कर पायेंगे । जिनको अपने शरीरकी भी सुध नहीं रहती है, उपेक्षा रहती है, फिर उनको बाहरी बातोंकी क्या सुध रहेगी ? मेरे साथ ऐसे लोग रहें, ऐसे सेवक रहें, ऐसे सिपाही रहे, इस प्रकारसे भोग विषयके साधनोंमें खर्च कराना एक मामूली सा खेल बना हुआ है तो ऐसे लोगोंका दिल इतना गिरा हुआ है, यहां वहां डोलने वाला है कि वे अपने अन्तः बसे हुए सहज शुद्ध परमात्माका ध्यान नहीं कर सकते । श्रुति करन, अर्घावतारनमें याने चाहे कोई स्तुति करे चाहे निन्दा करे तो भी वह ज्ञानी योगी विरक्त महापुरुष विरक्त होता ही है, क्योंकि उसकी धुन सहज चैतन्य-स्वरूप परमात्मतत्त्वमें लगी है । उसके लिए निन्दा और स्तुति दोनों समान हैं । वह न तो स्तुति करने वालेपर प्रसन्न होता है, यह मेरा बड़ा अच्छा है सेवक, और न निन्दा करने वालेपर क्रोध करता है कि यह नालायक है । सर्वमें समानभाव होता है । वह

अपनेको अब मनुष्य नहीं समझता, मनुष्य जानता ही नहीं है योगी अपनेको किन्तु चैतन्यस्वरूप सहज परमात्मपदार्थ जानता है। मनुष्य तो देहके साथ है, पर उसका उपयोग देहमें नहीं है, ऐसा एक उत्कृष्ट पद है, और तब ही पंच परमेष्ठियोंमें उनका नाम है, लेकिन जो समताके विरुद्ध चलते हैं, याते स्वच्छंद चलते हैं उनकी दुर्गति तो है ही, पर उनके सेवकोंकी भी दुर्गति जैन सिद्धान्तमें बतायी है। जहां अर्घ उतारना और शस्त्रका प्रहार होना दोनों एक समान जच रहे हों ऐसे योगी शुद्ध आत्माका ध्यान करते हैं। हां तो जो परिग्रहसे रहित है, आत्मस्वभावकी धुनमें रहता है वह माया शल्यसे दूर रहता है।

मिथ्या व निदान शल्यका विरुद्धदर्शन—दूसरा शल्य है मिथ्यात्व, मिथ्याभाव। देह को आपा मानना, प्रशंसा पूजासे अपनेको महान समझना ये सब मिथ्यात्वभाव हैं, मिथ्याभावसे युक्त योगी शुद्ध आत्माका, परमात्माका ध्यान नहीं कर सकते, किन्तु मिथ्या शल्य रहित योगी परमात्मतत्त्वका ध्यान करते हैं। मिथ्याभाव कहां तक छिपे रहते हैं और इस जीवको हैरान करते हैं कि सर्व कुछ भी त्याग दे, निर्ग्रन्थ दिगम्बर भी हो जाय पर जब तक यह भाव है अपने बारेमें कि मैं मुनि बन गया हूं, मैं साधु हूं, मैं श्रावकोंसे पूज्य हूं। देहको देखकर ही यदि ये भाव चल रहे हैं मिथ्या अंश उनको हैरान कर रहे। अनुभवना चाहिये था यह कि मैं एक चैतन्यस्वरूप आत्मपदार्थ हूं, और वह सुध तो भूल जाय, चूंकि मैं मुनि हूं, मुझको इनसे ऊंचा आसन चाहिए। मैं आचार्य हो गया हूं, मुझे इनसे भी ऊंचा चाहिए। अरे ऊंचा-नीचा क्या? साधकका तो गुण बताया है भूमिमें सोना। तखत तो कदाचित् श्रावक लोग अपनी बरजोरीसे कर दें वह बात दूसरी है, नहीं तो वह तो तखत भी नहीं चाहता। साधककी ऐसी भावना होती है कि सबके समान बैठकर आत्मामें विश्राम पाऊं। बहुत ऊंचे बैठकर मनमें विश्राम नहीं मिलता है, क्योंकि मनमें व्यायाम चला करता है मान कषायका। मिथ्याभावकी बात कह रहे हैं। जहां देहसे अपना लगाव है वहां मिथ्याभाव है। जहां आत्मस्वरूपमें ही आत्मत्वका अनुभव है वहां देहकी कोई सुध ही नहीं। बर्त रहा, क्या हो रहा कुछ पता ही नहीं, मिथ्याभावसे रहित योगी परमात्माका ध्यान करते हैं। कोई आकांक्षा जिनको नहीं होती किसी तरहकी इच्छा चित्तमें नहीं है उसका नाम है मुनि और मुनि परमात्मस्वरूपका ध्यान कर रहा है। तीसरा शल्य है निदान। मैं मरकर इन्द्र बनूं, मैं मरकर ऐसा सेठ बनूं, राजा बनूं या जिस किसीसे प्रेम हुआ तो

सोचता है कि मैं उसका साथी बनूँ आदिक प्रकारके जो निदान हैं वह बड़ी शल्य है और ऐसे निदान शल्यकी हालतमें योगी परमात्माका ध्यान कैसे कर सकता है ? तो जो माया, मिथ्या, निदान इन तीन शल्योंसे रहित वह योगी परमात्माका ध्यान करता है ।

परमात्मतत्त्वके ध्यानके पौखी योगीकी रत्नत्रययुक्तता—कैसा योगी ध्यान करता है ? जो तीनसे सहित है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे युक्त है । रत्नत्रयके विषयमें बहुत कुछ वर्णन हुआ है, फिर भी ऐसा जानें कि परद्रव्यन ते भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है । परद्रव्योंसे भिन्न सहज आत्मस्वरूपमें रुचि जगे, यही मैं हूँ, यही आदेय है, यही स्वरूप है, यह ही सहज है और चाहिए क्या ? इसीको ही निरखता रहूँ, ऐसा ही अनुभवता रहूँ ऐसी आत्मस्वरूपमें रुचि होना सम्यग्दर्शन है । पर यथार्थ स्वरूप वस्तुका परिचय होना सम्यग्ज्ञान है और पुण्य भावका परिहार होना और शुद्ध चेतना वृत्ति चलना बस ज्ञातादृष्टा रहना यह है सम्यक्चारित्र । यों रत्नत्रयसे युक्त योगी परमात्माका ध्यान करता है ।

परमात्मतत्त्वके ध्यानके अर्थ योगीकी रागद्वेषविमुक्तता—एक अंतिम विशेषण है—दो दोषोंसे रहित योगी परमात्माका ध्यान करता है । वे दो दोष हैं राग और द्वेष । जहां रागद्वेष बस रहे हैं वहां अन्य जीवोंसे और मुनिमें क्या अन्तर रहा ? एक कथानक प्रसिद्ध है कि कोई मुनि किसी नदीके तटपर एक शिलापर बैठकर ध्यान किया करता था और उसी शिलापर एक धोबी आकर कपड़े भी धोता था । एक दिन की बात है कि आहार करके वह मुनि उसी सिलापर आकर बैठ गए, इतनेमें ही धोबी कपड़े धोनेके लिए आया । धोबीने कहा महाराज आप इस सिलासे उठिये, हम इसपर कपड़े धोयेंगे, तो वह मुनि बोला—ऐसा कैसे हो सकता, हम तो इस पर बैठकर ध्यान करेंगे, तुम और कहीं धो लो । ...अरे और कहां धो लूँ, उठो उठो, यह तो मेरी सिला है । ...अरे नहीं भाई ऐसा न करो ? ...क्यों न ऐसा करें, आप जल्दी उठें । ...हम नहीं उठेंगे । लो इतनेमें तेज लड़ाई सी होने लगी, दोनों खड़े होकर हाथापाई करने लगे । इतनेमें धोबीका तहमद खुल गया, वह भी मुनिकी तरह नग्न हो गया । अब ऐसी स्थितिके बीच वह मुनि घबड़ाया और देवताओंसे रक्षा करनेके लिए प्रार्थना करने लगा । अरे देवताओं क्या तुम्हें कुछ खबर नहीं, मुनिपर उपसर्ग हो रहा है और तुम लोग रक्षा नहीं करते, जल्दी रक्षा करो, रक्षा करो... । तो मानो कोई देव बोला—हां हम लोग

तो रक्षा करनेके लिए तैयार खड़े हैं, पर इस समय हम लोग इस भ्रममें पड़े हैं कि आखिर इन दोनोंमें मुनि कौन है। तो यहां रागद्वेषकी बात बता रहे कि जिन योगियों में रागद्वेष बस रहा है वे परमात्माका ध्यान नहीं कर सकते। पवित्रता परमात्मस्वरूप के ध्यानमें है, कर्मोंको निर्जरा भी है, इस तरह उस ध्यानके अधिकारकी बात यहां कह रहे हैं।

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।

णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४५॥

कष्टकी बनावट—जो जीव मद, माया, क्रोध, लोभसे दूर है वह निर्मल स्वभाव से युक्त होता हुआ उत्तम सुखको प्राप्त होता है। आत्माका स्वरूप आनन्द है, दुःख नहीं है स्वरूप, जो बात अपने आप न हो सके वह स्वरूप नहीं होता। दुःख जीवको अपने आप नहीं हो सकता, कर्मका उदय चाहिए, बाहरी वस्तुओंमें दिल लगा होना चाहिए तब क्रोध उपजेगा और आनन्द जीवको अपने आप सहज हो जाता है। किसी का खयाल न करें, अपने आपके ध्यानमें रहें, स्वयं आनन्द जगेगा। तो क्लेश जो है वह आत्माका स्वरूप नहीं है, ये जीव अज्ञानवश क्लेश ही क्लेश पा रहे हैं। यदि वस्तु का स्वरूप जान लें कि प्रत्येक वस्तु जुदा-जुदा है, मेरा किसीसे सम्बंध नहीं है, मेरा कोई कर्ता धर्ता नहीं है, मैं अपनेमें अपने वस्तुत्वके कारण परिणमता रहता हूं, प्रत्येक पदार्थ अपने सत्त्वमें परिणमता रहता है, ऐसी निगाह अगर बन जाय कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें स्वयं स्वतंत्र है, कष्ट कैसे होगा? जब यह है तो नहीं अपना और मानता है अपना तो इस उद्वण्डताके कारण स्वयं कष्ट पा रहा। घर, वैभव, मकान, कुटुम्ब ये क्या किसीके हुए? स्पष्ट देखते हैं कि मरनेपर सब छूट जाते हैं और वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे देखें तो प्रत्येक पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उस ही में है। उससे बाहर नहीं है, फिर एक का दूसरा कैसे हो सकता है? पर ऐसा जो नहीं मानता उसको कष्ट भोगना पड़ता है।

कष्टमुक्त होनेके लिये मोह और कषायके परिहारकी अनिवार्यता—कष्ट मिटे और शाश्वत सहज आत्माका आनन्द जगे उसका उपाय क्या है कि पहले तो चार कषायों से दूर होवें। ये चार कषायें जीवको दुःख देने वाली हैं। जब क्रोध उत्पन्न होता है तो यह जीव जिसे कहते हैं आगबबूला मानो आगमें तप रहा है ऐसी स्थिति बनाता हुआ दुःख भोगता है। जब मान कषाय आता है तो अपनेको यह भूल जाता है और जगत

के जीवोंको अपनेसे छोटा तुच्छ मान लेता है। यह ख्याल नहीं रखता उस समय कि जैसा मेरा जीव है वैसा ही सबका जीव है। जीवके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं। रह गया बाहरी अन्तर, कोई धनिक है कोई गरीब है, कोई बोलने वाला है, कोई कम बोलने वाला है, किसीमें कला आयी है किसीमें नहीं है। तो यह जो अन्तर पड़ा है यह तो कर्मकृत अन्तर है, जीवके स्वरूपमें यह अन्तर नहीं बसा है। तो ऐसा देखें कि सब मेरे स्वरूपके समान हैं, भगवानके स्वरूपके समान हैं। रह गया अन्तर सो इस अन्तरको, इस छोटी दशाको यह जीव नहीं कर रहा है किन्तु हो रहा है। जैसे सनीमा-घरमें एक सफेद स्वच्छ पर्दा होता है और पीछे दूसरे कमरेमें या उसी हालमें फिल्म लगाने वाला आदमी मशीनसे फिल्म चलाता जाता है और पर्देपर वे रंग विरंगे फोटो आते रहते हैं, पर यह बतलावो कि उन रंग विरंगे चित्रोंको करने वाला पर्दा है क्या? अरे पर्दा अपने आप अपने स्वरूपसे रंग विरंगे चित्रोंको नहीं कर रहा यह बात सब लोग जान रहे हैं। यह भी जानते हैं कि यदि फिल्मका अक्स सामने न होता तो उस पर्देपर वे चित्र न आ सकते थे। तो ऐसे ही उस पर्देकी भांति तो है आत्मा और फिल्म की भांति हैं ये कर्मके चक्कर। जैसे कि फिल्मका चक्कर चलता है और वही लाइट चलती रहती है तो उस पर्देपर अक्स आता रहता है, ऐसे ही इस आत्मामें ये कर्मके चक्कर चल रहे हैं, विपाक उदय हो रहा है तो उनका अक्स, उनका प्रतिफलन इस आत्मापर आता रहता है। तो जो अज्ञानी है वह यह जानता है कि जो यहां अक्स है, चित्रण है, कषाय है सो यह ही मेरा स्वरूप है, यह ही मैं हूं। ऐसा मानकर मोही बनकर संसारमें जन्ममरण कर कष्ट पाता रहता है। और जो ज्ञानी जीव है वह जानता है कि मेरी उपयोग भूमिपर ये कषाय उदयके प्रतिफलन हुए हैं पर ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं तो अन्तः अपने स्वरूपमें केवल ज्ञायकभावमात्र हूं। ऐसा अपने ज्ञान-स्वरूपकी सुध लेता रहता है यह ज्ञानी, इसलिए कष्ट नहीं पाता।

कष्ट पाने व कष्ट न पानेका मूलतंत्र—देखो कष्ट पानेका और न पानेका केवल एक यह ही तंत्र है दूसरा कुछ है ही नहीं। जिनको कष्ट न पानेकी इच्छा हो उनको खूब सोचना चाहिए। किसी बाहरी पदार्थसे कष्ट नहीं आता, किन्तु यहां ही कर्मके उदय चलते रहते हैं और उन कर्मोंके उदयका प्रतिफलन होता रहता है, एक झांकी सी होती रहती है और उस कषायको, उस कर्म विपाकको यह जीव अपना लेता है कि मैं यह हूं। उसको कष्ट नियमसे होना और जो उस कषाय प्रतिफलनको नहीं अपनाता

और भीतर यह समझे कि मेरे सहज स्वरूपके कारण जो मेरेमें प्रकाश है, ज्ञान है, प्रतिभास है इतना ही मात्र मैं हूं, और यहां ही जो ज्ञानकी तरंग चलती है उतना ही मेरा काम है, और उस ज्ञानकी तरंग चलनेसे जो मेरेमें सहज आनन्द जगता रहता है उतना ही मेरा भोग उपभोग है, इससे बाहर मेरी दुनिया नहीं, ऐसा जो निर्णय करके बैठे उसको कष्ट आ ही नहीं सकता। तो कष्ट यदि नहीं पाना है तो उसका तपश्चरण पौरुष तो यह है कि वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंसे दूर हो। मायाचारी में छल कपटमें कहां अपने आत्मस्वरूपकी सुध रहती है? अपने आपमें ही एक की बात दूसरेसे भिड़ाया, दूसरेकी बात तीसरेसे भिड़ाया, अपनी ख्याति करनेके लिए बड़ी मायाचारीकी गई तो इसके फलमें कष्ट कौन पायगा? खुद ही पायगा, दूसरा नहीं। जो करेगा सो भरेगा इस नियमको कोई नहीं टाल सकता। अच्छा करेगा तो अच्छा फल पायगा, बुरा करेगा तो बुरा फल पायगा। सबसे अधिक बुरा तो मोहमिथ्यात्व है, अपने आपकी कुछ सुध न रखना, बाहरी पदार्थोंको अपनाना, उनमें लगाव रखना, आज प्रायः जितने भी मनुष्य दिखते हैं कुछको छोड़कर करीब सभी धनवैभव कुटुम्ब में लगाव लगाये हुए हैं, उनको अपनी कुछ सुध नहीं है और इस लगावमें जिन्दगीभर दुःख पायेंगे और उससे जो कर्मबन्ध करेंगे सो भविष्यकालमें भी दुःख पायेंगे। कोई बिरला की ही होनहार ऐसी है कि जो चेतता है, उसे अपने आपके स्वरूपका प्रेम होता है और जगतके बाह्य पदार्थोंकी उसे रुचि नहीं होती। कोई बिरले ही ज्ञानीजन ऐसे होते हैं कि जो अपने आत्मस्वरूपके रुचिया बनकर इस संसारसे पार हो जाते हैं।

लोकप्रवृत्तिसे अपने कर्तव्यका निर्णयन कर आत्मदृष्टि करनेकी आवश्यकता—देखिये यहां बहुतसे लोगोंकी आदत देखकर, उनकी प्रवृत्ति देखकर यह निर्णय न करें कि सारभूत काम तो यह है। जो काम ये धनिक लोग बड़े लोग कर रहे, धन वैभव बढ़ाना, इज्जत प्रतिष्ठा चाहना आदि, ये काम महत्त्वके हैं, ऐसी बात मनमें न आनी चाहिए। अरे यह महत्त्वका काम नहीं है, अपने स्वरूपको जानना और अपने स्वरूपमें मग्न होना यह ही मात्र महत्त्वका काम है। तो मिथ्यात्वसे दूर होना, क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंसे दूर होना और निर्मल स्वभावमें अपना ज्ञान जोड़ना, मैं हूं ज्ञानमात्र, मैं हूं सबसे निराला, मैं हूं रागद्वेषादिक विकारोंसे निराला, तो ऐसा अपने सहज स्वरूपको यदि कोई देखता है तो वही पूज्य है, वही महान पुरुष है, और जो इन्द्रिय और मनके विषयमें लगता है वह संसारमें परिभ्रमण करता है, बाहरी भेषसे, बाहरी क्रियावोंसे

मोक्षमार्ग न मिलेगा । मोक्षमार्ग मिलेगा तो निर्मल स्वभावमें युक्त होनेसे मिलेगा । तो ऐसा जीव जो निर्मल स्वभावसे युक्त है वही अविनाशी मोक्षके सुखको प्राप्त करता है ।

विसयकसाएहि जुदो रुदो परमप्पभावरहियमणो ।

सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्वरम्मुहो जीवो ॥४६॥

विषयकषाययुक्त परमात्मभावरहित जिनमुद्रापराङ्मुख जीवकी दुर्दशा--जो जीव विषय कषायोंसे युक्त है वह रुद्र आशय वाला है । परमात्माकी भावनासे रहित है और वास्तविक मुद्रासे परान्मुख है, ऐसा जीव मोक्षमार्ग और मोक्षके सुखको नहीं पा सकता । बाह्यमें निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष भी धारण किया हो, पर आत्मा तो अपने भाव भर कर पायगा । यदि इन्द्रियके विषयोंमें प्रीति है, मनके विषयोंमें चाह है--मेरा कोई नाम प्रसिद्ध हो, मेरी बड़ी ख्याति हो, मुझसे बढ़कर दुनिया और किसीको न मान सके, ऐसी ही हठ, ऐसा ही भीतरी विकल्प और ऐसी ही सलाह है । ऐसी प्रवृत्तियां जहां चलती रहती हों बताओ वहां फल भेषका मिलेगा या आत्माके भावोंका ? सब जगह फल आत्माके भावोंका होता है । श्रावक गृहस्थ भी वे यदि अपने भावोंमें केवल मान यश का ही आशय रखते हों और ऊपरी प्रवृत्तियां यदि धर्मकी, पूजा पाठ आदिककी चलती हैं या अन्य प्रकारकी भी चलती हैं तो फल किसका पायगा ? अपने भावोंका । और जिसके भाव सही हैं वह यदि पूजा, पाठ त्याग आदिक करता है तो उसके भावोंका तो कहना ही क्या है ? वह तो मोक्षमार्गमें ही चल रहा । एक रुद्रकी कथा है कि वह मुनि बन गया था और मुनि बनकर उसने खूब ज्ञान लाभ भी प्राप्त किया ११ अंग ६ पूर्वका ज्ञान तक भी प्राप्त किया, किन्तु जब उसे विद्या सिद्ध हुई तो उसका मन विचलित हो गया और यहां तक विचलित हो गया कि उसको भारी काम वासना भी सताने लगी और आखिर एक पर्वत राजाकी पुत्रीसे उसने विवाह भी कर लिया । अब वह इतना कामासक्त था और शरीरका इतना भयानक था कि वह लड़की भी संकट में आ गई, उसका नाम था पार्वती । तो आखिर इतना तक उपद्रव हुआ कि यह सोचना पड़ा कि कोई ऐसी युक्ति हो कि इस रुद्रको मार डाला जाय तो संकट टलेगा । तो भेद मालूम पड़ा कि जब यह विषयमें लवलीन होता है उस समय इसकी विद्या, ज्ञान, ये देवता आदि ये सब भाग जाते हैं, उस समय इसे कोई मार सके तो मरेगा अन्य समयमें नहीं । यह उपाय किया गया, आखिर ऐसे ही समयमें उसकी हत्या की गई । वह मरकर व्यन्तर हुआ । तो अपनी प्रसिद्धि करानेके लिए उसने रोग फैलाया

और लोगोंको ऐसा स्वप्न भी दिखाया कि यदि कोई लिङ्गकी मूर्ति बनाकर उसको षानीसे पूजा करे तो यह रोग दूर होगा नहीं तो न दूर होगा, ऐसा ही किया और आज तक वही प्रसिद्धि चली आ रही है। तो फल मिलता है भावोंका। अपने भाव निर्मल रखने चाहिए, दुनिया चाहे कैसी ही चल रही हो वह नहीं सोचना। किसके लिये यहां माया करना, किसके लिए मनमें और, वचनमें और तथा कायमें और करना ? जो बात हो सो साफ। इस लोकमें सुखसे रहना दुःखसे रहना आदिक जो कुछ होनेका है वह भाग्यके अनुसार होता है, पर अपने मनको कुटिल नहीं बनाना है। अपनेका तत्त्व-ज्ञानका प्रेमी बनाना, भगवानकी विशुद्ध भक्ति करना।

सत्संग, स्वाध्याय व प्रभुभक्तिले भावशुद्धिके अवसरका लाभ—यदि इन तीन बातोंमें जीवन गुजरे तो उसका कल्याण अवश्य होगा। वे तीन बातें कौन सी ? (१) सत्संग, (२) स्वाध्याय और (३) प्रभु भक्ति। सत्संगके मायने क्या ? ऐसा पुरुष जो संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त रहता हो, जिसको पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें प्रीति न जगे, जिसको नामवरी, ख्याति आदिककी चाह न हो, केवल एक मुक्त होनेकी ही धुन हो उस पुरुष को कहते हैं संत, और उसके संगको कहते हैं सत्संग। ऐसा सत्संग मिलता रहे तो परिणाम सधे रहते हैं और धर्ममें परिणाम बढ़ते रहते हैं। तो एक तो चाहिए सत्संग, दूसरा है स्वाध्याय। स्वाध्याय केवल बांचनेका ही नाम नहीं है, अध्ययन करके ज्ञान बढ़े, चर्चा वार्ता करके ज्ञान बढ़े, स्वाध्याय करके ज्ञान बढ़े, जैसे भी हो अपना उपयोग ज्ञानकी ओर अधिक रहना चाहिए, तो उसका नाम है स्वाध्याय।

प्रभुभक्तिमें उपलब्धिका दिग्दर्शन—तीसरा तंत्र है प्रभुभक्ति। प्रभुकी हमने मूर्तिमें स्थापना की है, सो मूर्तिका आकार मुद्रा देखकर और मूर्तिको ही मनमें न रखना किन्तु भगवानके स्वरूपको मनमें रखना, जैसे पिताकी फोटो हो तो फोटो देखकर चित्त किसमें जाता है ? फोटोमें जाता या पिताके ख्यालमें ? पिताके ख्यालमें जाता है। किसीने यदि फोटोको नीचे गिरा दिया तो वह उससे जो लड़ता है सो कागजको गिरा दिया इस ख्यालसे लड़ता है या मेरे पिताका इसने अपमान किया इस ख्यालसे ? तो जैसे फोटोको देखकर ख्याल आता है उस पिताका जिसका कि फोटो हो, ऐसे ही मूर्ति देखकर यदि भगवानके स्वरूपको ख्याल न आये तो बताओ भगवानके दर्शन हुए क्या ? देखिये परिपाटी तो है सही बोलनेकी, जो कोई भी भगवानकी मूर्तिके समक्ष खड़े होकर दर्शन करता है, विनती करता है तो वह यही कहता है कि हे महावीर भगवान, हे

पार्श्वजिनेन्द्र, हे केवलज्ञानके धारी अरहंतदेव, तुमको मेरा नमस्कार हो। कहीं कोई इस तरहसे तो नहीं बोलता कि हे जयपुरके कारीगरों द्वारा, अमुक रंगकी धातु द्वारा, अमुक सन्में बनायी गई मूर्ति तुमको मेरा नमस्कार हो, इस तरहसे तो कोई नहीं बोलता। अरे भगवानके गुण बोलकर ही सभीके मुखसे प्रभुका बंदन सुना होगा। परिपाटी तो ठीक है बोलनेकी मगर अपने दिलसे तो पूछो कि उस मूर्तिको देखकर भगवान पर दृष्टि जाती है या नहीं या केवल उस मूर्ति पर ही सब कुछ निरख चलती रहती है। दृष्टि होनी चाहिए भगवानकी ओर। मानो महावीर स्वामीका बोल बोल रहे हैं तो उस समय यह बात ध्यानमें आनी चाहिए कि वह चतुर्थ कालमें उत्पन्न हुए थे, सिद्धार्थ राजाके पुत्र थे, प्रारम्भसे ही विरक्त थे और उनको विवाह आदिककी आकांक्षा न थी। अपने स्वरूपकी सम्हाल किया, विशिष्ट तपश्चरण किया और सर्वज्ञ हुए, वीतराग हुए, उस घड़ीमें धन्य धन्यके शब्द मुखसे निकल जाना चाहिए। यह ही है प्रभुभक्ति। दूसरी बात और भी समझें कि जब प्रभुकी भक्ति कर रहे हैं और भगवानके स्वरूपका ख्याल कर रहे तो अपना भी कुछ नाता जोड़ते जाना चाहिए। हे प्रभो, आपका जो द्रव्य है, आपका जो पिण्ड है, जो स्वरूप है सो मेरा स्वरूप है, प्रभुभक्ति की बात चल रही है कि प्रभुकी भक्तिके समय मूर्तिको निरखकर हमें भगवानका ख्याल आना चाहिए। जो भगवान बने हैं, अरहंत हुए हैं, उनका ख्याल आने पर उनके साथ अपना क्या रिस्ता है, हम क्यों भगवानकी भक्ति करते हैं, कुछ थोड़ा यहां भी ध्यान देना चाहिए। भगवानका जो स्वरूप है जो आत्मद्रव्य है वह जैसा भगवानका आत्मद्रव्य है वैसा ही मेरा भी आत्मद्रव्य है। भगवानके आगे कायर ही कायर बना रहे और कायरताकी ही बात बोलता रहे तो प्रगति न बनेगी। जैसे हे भगवान आप तीन लोकके स्वामी हो, मैं तो आपका दास हूं, मैं भव भवमें आपका दास रहूं, तुम ही मेरे सुख दुःखको देने वाले हो, मैं तो किकर हूं, मैं कुछ नहीं। भले ही किसी मूडमें भक्तिवश ये भी शब्द कहनेमें आ जायें, किन्तु ऐसी यदि श्रद्धा हो अपनी तब अपना कुछ उत्थान नहीं बन सकता। तब क्या जानना चाहिए कि भगवानका जो आत्मपदार्थ द्रव्य है, स्वभाव है ठीक वही मेरा भी स्वभाव है। अब देखिये—जब स्वभावकी तुलना प्रभुमें और अपनेमें की तो तत्काल ही विषय कषायके भाव तो हट ही गए। और अपने स्वभावमें अपनी परिणति आयी, अपना उपयोग आया, दूसरे अपनेमें उत्साह जगा, दीन दुःखी संसारी प्राणी बनना मेरा स्वरूप नहीं है। मैं स्वभावतः दीन दुःखी

नहीं हूं, मैं तो प्रभुके स्वभाववाला पदार्थ हूं और अपने आपको सम्हालूं तो मैं भी प्रभु की तरह अनन्त सुखी हो सकता हूं। प्रभुके जो गुण हैं ज्ञानदर्शन शक्ति आदिक वे मेरे में प्रभुके समान हैं, पर अन्तर क्या आया प्रभुमें और मुझमें कि उनकी पर्याय तो शुद्ध है, वे रागद्वेष रहित हैं और यहां हममें रागद्वेषका प्रसार चल रहा है, सो हे प्रभो, जब मेरा स्वरूप आपके स्वरूपके समान है, मेरी शक्ति आपकी शक्तिके समान है तो रहा आये यह ऊपरी पर्यायका अन्तर, यह रागद्वेष विकारका फैलना, इसे तो मैं स्वभाव-दृष्टिके बलसे दूर कर सकता हूं। यह उमंग और यह सूरताका भाव जगता है प्रभु-भक्तिमें। तो कल्याण चाहने वाले पुरुषोंको तीन तंत्रोंमें लगे रहना चाहिए सत्संग, स्वाध्याय और प्रभुभक्ति।

सत्संगसे आत्मबली होकर स्वहितमें लगनेका संदेश—घरमें रहनेकी अपेक्षा, कमायी धमाईके प्रयासोंकी अपेक्षा सत्संगका कई गुना अधिक महत्त्व है। गुरुजनोंकी सेवाका, प्रभुभक्तिका, तत्त्वचिन्तनका ही सारा महत्त्व है। इस गृहवासको तो यों समझना चाहिए कि मेरे आत्मामें इतनी ज्ञानकी दृढ़ता प्रकट नहीं हुई है कि सर्व कुछ त्याग करके निग्रन्थ दिगम्बर होकर केवल आत्माकी ही धुनमें रहें और शत्रु मित्रमें मेरे समताभाव रहे, निन्दा स्तुतिमें मेरे साम्यभाव रहे, ऐसी बात जब नहीं बन पाती है तो भेष रखकर छोटे कार्य करना यह तो गृहस्थोंसे भी बुरा है। तब गृहस्थीमें ही रहना और श्रावकों के योग्य व्रतोंका पालन करते रहना और प्रभुभक्ति, स्वाध्याय और सत्संगके उपायोंसे अपने आपके परिणामोंको निर्मल बनाना गृहस्थोंके लिए हितरूप बात है। तो इस गाथामें यह कहा है कि जो जीव विषयकषायोंमें लगे हुए हैं, परमात्माकी भावनासे दूर हैं, जिनमुद्राको धारण करके भी मुनिका भेष धारण करके भी भीतरमें जिन मुद्राके भाव से आत्माके ध्यानसे ज्ञानमें ज्ञान ही समाया रहे, इस स्थितिसे जो दूर हैं वे जीव रुद्र हैं, छोटे भाव वाले हैं और वे मुक्तिके सुखको नहीं प्राप्त कर सकते।

जिनमुद्रं सिद्धिसुहं हवेद नियमेण जिनवरुद्धिदृढं ।

सिचिणे वि ण रुचचइ पुण जीवा अचछंति भवगहणे ॥४७॥

जिनमुद्रा व मुक्तिसुखके अरुचियोंका भवगहनवनभ्रमण—जिस जीवको यह जिनमुद्रा नहीं रुचती है वह संसारवनमें घूमता ही रहता है। जिनमुद्राके मायने अपने आपके अविकार स्वरूपपर दृष्टि रहना। मैं स्वयं हूं, स्वभावतः विकाररहित केवल ज्ञानमात्र आत्मा। ऐसे अविकार स्वभावकी दृष्टिके बलसे मिथ्यात्व क्रोध, मान, माया, लोभ,

आदिक अंतरंग परिग्रह नहीं आ सकते । यह है वास्तविक जिनमुद्रा, और भीतरमें ऐसा निर्मल भाव बने, उसके लिए आवश्यक है कि बाह्य पदार्थोंका भी त्याग कर दिया जाय । तो बाह्यमें दिगम्बर नग्न और अन्तरङ्गमें अविकार स्वभावमात्र आत्मतत्त्व, उसीको यह ही मैं हूँ, ऐसा अनुभव करते रहना यह है जिनमुद्रा । ऐसी जिनमुद्रा जिसे नहीं रुचती है वह संसार बनमें भ्रमण करता है । जिनमुद्रा या मुक्तिका सुख लोगोंको रुचता क्यों नहीं है ? अनादिकालसे यह जीव कर्मबन्धनमें पड़ा है । कर्मके उदयमें आत्मीयता मानता है, सो अपना स्वरूप ढक गया, अपना स्वरूप अपनेको विदित नहीं हो रहा । और बाहरके ये विषयसुख साधन इसको रुचते हैं । सो इसको विषयोंमें प्रीति होने लगी और विषयोंके साधनभूत यह सारा भौतिक समागम इसको रुचने लगा, सो दो ही मार्ग हैं, या तो भौतिक समागम रुचते जायें, संसारमें घूमते जायें या भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकताकी ओर आयें, मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा इसको प्रकाश मिले तो यह संसार जालसे हटकर मोक्षमार्ग और मोक्षकी ओर लगने लगे । इससे आत्माका सही परिचय होना अति आवश्यक है, और इसी परिचयसे यह विषय सुखसे हटेगा और आत्मीय सहज आनन्द इसको रुचेगा । जिसको जिनमुद्रा मुक्तिका सुख स्वप्नमें भी नहीं रुचता वह जीव संसार गहन बनमें भ्रमण करता रहता है ।

भौतिकता मानवता व आध्यात्मिकताका विश्लेषण उपादेयपन—विद्वानोंका व्याख्येय एक विषय है भौतिकता और मानवता । इन दो के साथमें एक चीज और मिला दीजिए—आध्यात्मिकता याने भौतिकता, मानवता और आध्यात्मिकता । अब इनका वास्तविक अर्थ लगा लीजिए जो अपने काम आये । भौतिकताके मायने है आजका दिखने वाला यह बाहरी चमकधमक तड़क-भड़क, भोग विषयोंके सुख साधन अथवा समस्त बाह्य प्रसंग । लोग कहा करते हैं ना इस भौतिकतासे हटो और मानवताकी ओर आवो अब विचार कीजिये वह मानवता क्या है ? दया, दान, विनय, भक्ति आदिक गुणोंसे युक्त होना । और आध्यात्मिकता क्या है ? इन समस्त गुणोंका आधार आध्यात्मिकता है । अगर आध्यात्मिकताका प्रकाश नहीं है तो वहां मानवता आ नहीं सकती । एक बात और भी जानो कि मानवताके मूलमें आध्यात्मिकता भी चल रही है । अब यह देखो कि जो विषयोंसे अनुरागी हैं, अपने ऐश आरामके साधन जो बहुत चाहते हैं और उन सुख साधनोंसे अथवा यश प्रतिष्ठाकी चाह मनमें होनेसे दूसरोंको न कुछ जैसा समझते हैं । खुदको तो सब कुछ होना चाहिए पर दूसरोंके लिए कुछ नहीं

ऐसा जो भौतिकतामें बड़े चले जा रहे हैं वे कितना भूलमें हैं। उस भूलको भी वे भूल नहीं समझते, भूलमें भूल करते जा रहे हैं। अरे यहां कुछ भी मनचाहा करलो पर यह मनमानी सदा न चलेगी, देर है पर अंधेर नहीं, भौतिकताका अनुरागी होनेके मायने है पञ्चेन्द्रियके विषयोंका अनुरागी होना। भला बताओ इन पञ्चेन्द्रियके विषयोंके अनुरागी बनकर आज तक कभी शान्ति पायी क्या ? जब बहुत अन्तर्दृष्टि करके विचार किया जायगा तो पता पड़ेगा कि ये सब बाहरी चक्क धक्क ये सब आकुलताके ही कारण हैं, ये सब साथ न जायेंगे, सब यों के यों ही पड़े रह जायेंगे। यह जीव अकेला ही यहां का सब कुछ छोड़कर चला जायगा। फिर जो रहना ही नहीं, उसमें आसक्ति व्यर्थ है।

परिग्रहकी स्पष्ट भिन्नता—एक

बार कोई चार चोर कहींसे दो लाखका धन चुराकर लाये और किसी जंगलमें उस धन को रखा। रातका समय था, चारों चोरोंके पास बंदूकें थीं। उन चोरोंने परस्परमें सलाह किया कि अब धन तो बादमें बांटा जाय, पहले कहीं से मिठाई खरीदकर लायी जाय, खूब खायी जाय, बादमें आरामसे बांटा जाय, ठीक है। आखिर दो चोर तो रह गए उस धनकी रखवाली करनेके लिए और दो चोर गए मिठाई खरीदने। अब देखिये क्या घटना घटी कि मिठाई खरीदने जाने वाले दोनों चोरोंके मनमें आया कि अपन लोग यहां से मिठाईमें विष मिलाकर ले चलें। वे दोनों मिठाई खाकर मर जायेंगे और हम तुम दोनों एक-एक लाखका धन बांट लेंगे। ठीक है अब वे दोनों तो चले विष मिली मिठाई लेकर, इधर धनकी रखवाली करने वाले दोनों चोरोंने परस्परमें सलाह किया कि उन दोनोंको अपन दोनों गोलीसे सूट कर दें, उन दोनोंके गुजर जानेपर एक-एक लाखका धन बांट लेंगे। आखिर वही किया, उन दोनोंको गोलीसे सूट कर दिया, वे तो यों गुजर गए और इधर दोनोंने खूब छक्ककर वह विष मिली मिठाई खायी जिससे वे दोनों भी गुजर गए। सारा धन ज्योंका त्यों पड़ा रह गया। तो ठीक यही हाल हो रहा है यहां के भौतिक पदार्थोंके सम्बंधमें। सारे जीवन ये संसारी प्राणी इन भौतिक पदार्थोंकी ओर दौड़ मचाते रहते हैं, न्याय अन्याय कुछ नहीं गिनते, खूब संचय करते, पर अन्तमें एक दिन वह आता कि सबकुछ छोड़कर चले जाते। समस्त बाह्य पदार्थ यों ही धरे रह जाते।

मानवतासे आत्मगुणदर्शनका पोषण पाकर आध्यात्मिकता रमनेसे कल्याणकी अवाप्ति—

देखिये इस आत्माका शृंगार है मानवता । आजका मानव अपनी मानवताको भूल गया । यहां तक कि बड़े-बड़े पदाधिकारी भी बेइमानी रिश्ततखोरीपर उतारु हो गए, उन्होंने भी अपनी-अपनी मानवताको खो दिया है । इतिहास इस बातका साक्षी है कि बहुत पुराने जमानेमें ऐसे-ऐसे राजा महाराजा हो चुके जिन्होंने केवल टोपी बना बना-कर या केवल अपने लिए थोड़ीसी खेतीका साधन रखकर अपने परिवारका पालन-पोषण किया और बाकी सारा धन प्रजाके हितके लिए लगाया । राज्यका सारा धन उन्होंने अपने लिए काममें नहीं लिया, उनका विचार था कि राज्यका सारा धन प्रजा का है न कि मेरा । इस तरहसे उन्होंने अपना जीवन गुजारा । इस तरहके अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं । आजके उच्च पदाधिकारी भी यदि उन राजा महाराजाओंकी भांति अपना जीवन बनाले तो इससे देशका उत्थान होनेमें कोई आश्चर्य नहीं । आजका सारा मानवसमाज यदि अपनेमें वैसी ही मानवता लावे तो सभी आत्मीयदृष्टिसे भी बड़ा उत्थान कर सकते हैं । वैसे तो आजके युगमें लोग इस धन वैभवका अधिक महत्त्व दे रहे हैं । धन वैभवके बढ़नेसे ही अपनी प्रगति समझ रहे हैं, धन वैभवके संचय करनेसे ही अपनी महत्ता, अपनी प्रतिष्ठा समझ रहे हैं, पर ध्यान रहे । धन वैभवके संचय करनेसे प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती किन्तु प्रतिष्ठा बढ़ती है धनको परोपकारमें लगानेसे । यदि इस धन वैभव आरम्भ परिग्रहके प्रति ममता, तृष्णा, लगाव रहेगा तो वहां मानवता न रहेगी । हां एक कर्तव्य हो जाता है गृहस्थीमें रहनेके नातेसे सो कुछ धन वैभवका संचय करना भी आवश्यक हो जाता है, पर उसके लिए भी एक कोई न कोई परिमाण होना चाहिए । परिमाण न होनेसे धन वैभवका संचय करनेकी तृष्णा रहा करती है । इन बाहरी पदार्थोंका संचय करने वाला व्यक्ति कभी अपने उद्धारका मार्ग नहीं पा सकता इससे अपने आपके अन्दर मानवता आनी चाहिए । इसके लिए चाहिए अपरिग्रहता और आध्यात्मिकता । इन दो के बिना इस जीवको कभी भी शान्तिका मार्ग नहीं प्राप्त हो सकता । परिग्रहके प्रति लगाव न रहे और अपने आत्माके स्वरूपका परिचय प्राप्त करें, समस्त परपदार्थोंको असार अहितकर जानकर अपने आत्मस्वरूप की उपासना करें इससे कल्याणका मार्ग मिलेगा । यों भौतिकतासे उठकर मानवतामें आयें और मानवतासे बढ़कर आध्यात्मिकतामें आयें तो इस जीवका नियमसे कल्याण होगा ।

परमप्यय ज्ञायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण ।

णादियदि णवं कम्मं निहिट्ठं जिणवनिदेहि ॥४८॥

Report any errors at vikashd@gmail.com

परमात्मतत्त्वका ध्यान करने वाले योगीकी मलदलोभविमुक्तता—परमात्माका ध्यान करने वाला योगी पापबंध कराने वाले लोभसे मुक्त हो जाता है और नवीन कर्मोंको नहीं बांधता । सबसे बड़ी विपत्ति इस जीवपर यह है कि यह अपने स्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थोंको अपना मानता है और पुण्यके अनुसार अपनेको सुखी दुःखी अनुभव करता है । यह बहुत बड़ी भारी विपत्ति इस जीवपर है । यह विपत्ति हट जाय और अपनेको अपना यथार्थ स्वरूप दिख जाय कि सर्व जीव स्वतंत्र-स्वतंत्र हूं, सबकी जुदी-जुदी सत्ता है, एक का दूसरा कुछ भी नहीं लगता, मेरे आत्माका मात्र मैं ही आत्मा हूं, इसको भाई भतीजोंका तो क्या शरण हो, परमात्माका भी शरण नहीं हो सकता, यदि अपने आपकी सुध न हो । कहीं प्रभु किसीको तारनेके लिए संसारमें भटकते नहीं फिरते । प्रभुका स्वरूप तो है समस्त पदार्थोंका जानना और अपने आनन्दमें मग्न होना, उसके ये दो ही मुख्य स्वरूप हैं । परमात्मा वही है जिसका ज्ञान समस्त लोकालोकका जानन-हार है और साथ ही अपने सहज आनन्दरसमें लीन है । जो विकल्प नहीं करता, जिसमें रागद्वेष नहीं रहे । जो स्वयं सिद्ध अपने स्वरूपमें मग्न हुए हैं, ऐसे परमात्मतत्त्व का जो ध्यान करता है वह लोभसे मुक्त हो जाता है ।

लोभकी व्यर्थता, अनर्थकारिता व लोभके मिटनेका उपाय—लोभ काहेका ? व्यर्थका लोभ । लोभमें जीवको मिलता क्या है ? जीव अकेला है, कुछ दिन इस मुनुष्यभवमें रहना है, अकेला ही यहांसे जाना है । यहां के पदार्थोंसे हमारा कौन सा मतलब बनता ? जिस समय यह पुण्य समागम मिलता है उस समय यह सुख तो मानता है पर आत्माको वास्तविक लाभ कुछ नहीं हो रहा । बल्कि क्षोभ, आकुलता, आत्माकी बेसुधी, व्यर्थके विकल्प ये ही सब मिलते हैं । यह सब अंधेरा है इस जीवके लिए । सो लोभकषाय इन सब कषायोंमें गहरी कषाय है । चाहे साधुके अन्य कषायोंपर विजय बन जाय, पर लोभ कषायपर विजयपाना बहुत कठिन है । लोभ केवल रुपया पैसेके जोड़नेका ही नहीं होता किन्तु इस देहको यह मैं हूं ऐसा मानकर याने इस मिथ्यात्वके कारण भ्रष्ट होकर अब इस मेरेको दुनिया जान जाय, दुनिया मेरी प्रशंसा करे, सबमें मेरा नाम जाहिर हो, इस प्रकारका जो विकल्प है वह तीव्र लोभ है, और जिसके लोभकषाय है उसमें धर्म आनेकी पात्रता नहीं है । तो लोभ कषाय कैसे मिटे ? तो वास्तविक उपाय तो यह है कि अपने आपके सही स्वरूपका परिचय मिले, लोभ न रहेगा, स्वरूप परिचय क्या है मेरा । मैं हूं अपने सत्त्वको कोई मना नहीं कर सकता

मैं हूं और जब हूं तो किसी दिन बना होऊँ, ऐसा नहीं है अगर मैं किसी दिन बना हूं तो किस उपादानसे बना हूं ? घड़ा यदि बनता है तो मिट्टी उपादानसे बनता है, यदि मैं जीव बना हूं तो किस उपादानसे बना हूं ? वह उपादान जीव ही हो सकता और वह वही मैं जीव हूं, सो यह मैं जीव अपने आपमें परिणमनसे भावोंको उछालता हुआ अनादिकालसे चला आ रहा हूं, और अनन्तकाल तक चलता रहूंगा । मैं हूं अपने स्वरूप से हूं, परके स्वरूपसे नहीं हूं । जो मैं हूं सो ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान-ज्ञानसे ही मेरा समग्र अस्तित्व है, ज्ञानस्वरूपसे रचा हुआ हूं, इसमें अन्य स्वरूप नहीं है, विकार मुझमें नहीं है, विकार तो कर्मका अक्स है । जैसे सनीमाके पर्देपर फिल्मका अक्स पड़ता है पर पर्दे में स्वयं अक्स नहीं है । वह तो स्वच्छ है, ऐसे ही मुझमें कर्मोंका अक्स पड़ता है, किन्तु मैं ज्ञानमात्र स्वच्छ आत्मपदार्थ हूं । मेरेमें विकारका स्वरूप नहीं है, ऐसा भीतरमें प्रवेश करके जो अपनेको ज्ञानमात्र निहारेगा और अन्य समस्त विषय कषाय इच्छाका बलिदान कर देगा । केवल अपनी दृष्टिमें अपने सहज ज्ञानस्वरूपको निहारेगा वह मनुष्य पवित्र है, मोक्षमार्गमें है, निकट कालमें ही समस्त संकटोंसे वह मुक्त हो जायगा । तो ये लोभादिक कषाय परमात्मस्वरूपके ध्यानसे दूर होते हैं ।

परमात्मस्वरूपके ध्यानका उपाय—परमात्मस्वरूपका ध्यान कैसे बने ? तो ध्यान का आधार है ज्ञान और वह ज्ञान जब सही रूपमें प्रकट होता है अर्थात् यह हितरूप है, ज्ञानका केवल जाननहार बना रहना यह ही मेरा कल्याण है, ऐसी रुचिके साथ जब ज्ञानको ही ज्ञानमें लिया जाता है और बाहर ही बाहर यह अभ्यास बनता है तो ज्ञान का ज्ञान होता रहता है, वह तो ध्यान है, इस ध्यानको बाधा देने वाला कौन है । इन पंचेन्द्रियके विषयके साधनोंकी रुचि । तो इन्हें आत्माके ध्यानसे हटावो । और विषयोंकी रुचि कैसे हटे ? ५ इन्द्रिय और छठा मन, इनके विषय कैसे दूर हों, तो उसके बाहरी उपाय हैं सत्संग, प्रभुभक्ति और स्वाध्याय, और अन्तरंग उपाय है अपनेको ज्ञान स्वभावमात्र ज्ञानमें निरखते रहना । यह धारा बनी रहे, थोड़ी बहुत भंग हो, पुनः उसीमें चलता जाय । तो अपनेको ज्ञानमात्र निरखते रहना यह है ध्यानकी दृढ़ता का वास्तविक उपाय है तो इसके लिए व्यवहार धर्मको भी निभाना पड़ेगा । व्यवहार धर्मको निभानेके लिए तीन बातें रख लीजिए (१) प्रभुभक्ति (२) सत्संग और (३) स्वाध्याय । इस प्रभुभक्तिमें गुरुभक्ति भी सामिलकर लीजिए, क्योंकि गुरु रत्नत्रयके धारी पुरुष भी प्रभुके निकट वाले पवित्र आत्मा है । और मुख्यतया प्रभुकी भक्ति

लीजिये । और साथ ही जो बहुत बड़ी भारी कमी है उसको दूर करें । वह कमी है सत्संगका न मिलना । सत्संग बनायें, हम पर सांसारिक बातोंका असर क्यों पड़ता कि हम सांसारिक बातोंसे प्रभावित लोगोंके सहवासमें अधिक समय रहते हैं, यदि संसार शरीर भोगोंसे विरक्त भेद विज्ञानी संतजनोंके निकट अधिक काल रहें तो हम पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा । सो इसका एक ध्यान रखें । अपना थोड़ा बहुत समय सत्संगमें बीते । कुसंगमें अपना अधिक समय मत बीते, ऐसी अपनी भावना रहना चाहिए, फिर करें अपने आत्मतत्त्वका मनन । मैं क्या हूँ ? मैं एक चेतन पदार्थ हूँ, यह जो बाहर चमक-धमक है वह मैं नहीं हूँ । इन बाहरी पदार्थोंकी परिणति मुझमें नहीं आ सकती । मैं तो दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, ये बाहरी दिखने वाले पदार्थ ईंट, भीत दरी आदिक ये कुछ मैं नहीं हूँ, यों अपना महत्त्व निहारे तो अपना परमात्मतत्त्व अपनेको मिलेगा और यदि इन भौतिक पदार्थोंको महत्त्व दिया, इनकी चमक धमकको महत्त्व दिया तो अपनी बात अपनेमें प्रकट न होगी ।

कष्टरहित होनेका उपाय आत्मस्वभावानुभव—मैं अमूर्त हूँ, दर्शन ज्ञानस्वरूपी हूँ, सहज आनन्दमय हूँ, समस्त कष्टोंसे रहित हूँ, मेरेमें कष्टका स्वभाव नहीं । किसी बाहरी पदार्थका ख्याल ही न करिये, फिर आपको कोई कष्ट आता हो तो बताओ । जितने भी कष्ट आते हैं वे बाहरी पदार्थोंका ख्याल करनेसे आते हैं । उन बाहरी पदार्थों से मेरा कुछ सम्बन्ध है क्या ? यदि नहीं है सम्बन्ध तो फिर क्यों उनका ख्याल करके मूर्ख बन रहे ? उनका लगाव छोड़ें और अपनी महिमाको देखें, वहाँ कष्ट न रहेगा । अपने आपमें बसे हुए सहज अविकार ज्ञानसात्र परमात्म स्वरूपको उस रूपमें माने और उसके ध्यानकी भीतर भावना रहे, अन्य कुछ धुन न आये तो वह जीव नवीन कर्मोंसे तो दूर हो जायगा और पूर्व बंधे हुए कर्मोंकी निर्जरा करेगा । आज दुनिया भौतिकवाद में बढ़ रही है, पर उन सबको देखकर अपनेको यदि आत्महितकी भावना है तो अपने चमत्कारकी ओर बढ़ना चाहिए । सो जो अपने सहज परमात्मतत्त्वका ध्यान करने वाला है वह योगी कषायोंसे दूर होता है, नवीन कर्मोंका आश्रय नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म निर्जोर्ण हो जाते हैं और वह अपनेको परमशान्ति रूप अनुभव करता है । जितना शेष जीवन रहा वह जीवन ज्ञानभावनामें व्यतीत हो तो यह पार हो जायगा और यदि लोभ भावनामें जीवन गया तो जैसे अनेक भव पाये, व्यर्थ संसरण बढ़ाया ऐसे ही यह जीवन भी व्यर्थ गया समझिये । अपना एक ही निर्णय होना चाहिए कि मुझको तो

अपने ज्ञानस्वरूपकी भावना ही रखना है, मैं यह हूं, मैं अन्य नहीं हूं, मेरा यह स्वरूप वैभव, मेरा अन्य कुछ परमाणुमात्र भी वैभव नहीं है, ऐसे निश्चय वाला पुरुष परमात्म-स्वरूपका ध्यान करता है और समस्त संकटोंसे मुक्त हो जाता है ।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।

आर्यतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४६॥

सांसारिक पदोंका संक्षिप्त विवरण—दृढ़ सम्यक्त्वसे बुद्धिको पूरित करके, दृढ़ चारित्रवान होकर जो आत्माका ध्यान करता है वह परम पदको प्राप्त होता है । इस जगतमें कोई सा भी पद इस जीवके लिए शान्तिकारक नहीं हैं । जीवका पद संसारमें क्या है ? तो सबसे प्रारम्भमें लो निगोद पद जीवका है, ये संसारियोंके पद बतला रहे, पदाधिकारी संसारियोंकी चर्चा कर रहे । सुनो—सबसे पहले इस जीवने निगोदका पद पाया जहां एक श्वासमें १८ बार जन्ममरण किया, जीव है एक ऐसा कि जो एक सेकेण्डमें करीब २२-२३ बार जन्ममरण करता है । वह एकेन्द्रिय जीव है, न कुछ जैसा उसके ज्ञान है । अच्छा उससे बड़ा पद मिला तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और हरी वनस्पतिका पद मिला । सो यहां की भी दशा देख लो । जो चाहे इन्हें छेदता भेदता है, और गृहस्थ मनुष्योंके काम तो अधिकतर ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ही आ रहे हैं । ये सब एकेन्द्रिय जीव हैं, इससे ऊंचे पद पर आया यह जीव तो दोइन्द्रिय हुआ, और ऊंचा पद हुआ तो तीनइन्द्रियका ऊंचा पद मिल गया, फिर क्रम क्रमसे चारइन्द्रिय, असेनी पञ्चेन्द्रिय और सैनीपञ्चेन्द्रियके पद इसे प्राप्त हुए । तो यहां भी मानो तिर्यञ्च हुए, सिंह, हिरण, बैल, गधा, सूकर भेड़ बकरी आदिक हुए तो इनकी भी दशा देख लो क्या हो रही है । कोई क्रूर हैं, कोई कायर हैं, कोई लद रहे हैं कोई मारे काटे जा रहे हैं । एक नरक पद है कि जिसमें सावधानीके अवसर तो बहुत हैं पर वहां भी कोई बिरला ही जीव चेत पाता है । देवपद भी है देवगतिका जीव । अच्छा शरीर मिला वैक्रियक, खाने पीनेकी कुछ चिन्ता नहीं, जैसा चाहे छोटा बड़ा देह बनाया, और ऊंचे उठे तो मनुष्यपद मिला । मनुष्योंमें भी कोई दरिद्र हैं, भिक्षुक हैं, किसीकी कुछ इज्जत नहीं, कोई नीच माना जाता, कोई ऊंचा । मान लो कोई ऊंचा भी माना गया तो आज हम आप लोग संसारके सब पदोंसे ऊपर उठकर एक मनुष्यपद में आये ।

वर्तमान महती उपलब्धियोंसे अपनी वास्तविक उपलब्धि पानेमें ही कल्याण—भैया,

अपनी उपलब्धियोंको देखते जाइये हम आप आज मनुष्यभवमें है, उच्चकुलमें है, उच्च कुलमें जन्मे हैं, जैन दर्शनके सुयोग समागममें हैं। देखिये कितने ऊँचे पदमें आये हैं फिर भी इसकी जरा भी परवाह नहीं करते, जैन शासनका सुयोग मिलना यह बहुत ऊँचे भवितव्यकी बात है, जहां स्पष्ट ज्ञान मिलता है कि जगतके सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं। किसीकी सत्ता किसी दूसरेने नहीं बनायी है और इसी कारण एक जीवका दूसरा जीव कुछ नहीं लगता। मुझ आत्माका मेरे आत्मासे बाहर परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है, स्पष्ट ज्ञान मिलता है जिस ज्ञानके प्रतापसे सारी आपत्तियोंकी जड़ जो मोह है वह खतम होता है। जगतमें लोग जीते हैं, तृष्णा और मोहमें बढ़ रहे हैं, राज्यकी तृष्णा, धनकी तृष्णा, मान अपमानके प्रश्न, यों कितनी प्रकारकी तृष्णाओंमें बढ़ रहे हैं, सो इसको जो कुछ इन आंखोंसे दिखता है उतनेमें ही यह खुश है। इसको अपने आत्माका कोई ख्याल नहीं है कि मेरा अब आगे क्या हाल होगा। यह तो संसार है, कभी ऊँचा पद मिला, कभी गिरे फिर कभी उठे, इस तरह यहां का जो कुछ श्रेष्ठ समागम पाया उसको पाकर हर्ष मानना भला नहीं है। यहां जो कुछ भी प्राप्त समागम है वह मुझसे निराला है, एक दिन यह सब मुझसे छूट जायगा। इसमें क्या विकल्प करना कि अरे इतनेका टोटा हो गया, अरे वे सब बाहरी पदार्थ हैं, इस आत्मासे ये बिल्कुल भिन्न चीजें हैं। इन बाहरी पदार्थोंमें ममता करनेका फल है संकट आना और जहां अपने आत्मस्वरूपपर दृष्टि गई तो फिर वहां कोई संकट नहीं रहता। किसी दूसरेका स्वामी तो मैं हूं नहीं और जिम्मेदारी ले रहा हूं बहुतोंकी, सो ये अटपट बातें निभती नहीं तब यह जीव दुःखी होता। तो महावीर भगवानके शासनमें हम आप रह रहे हैं, उन्होंने सन्मार्ग बताया, संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय बताया और उसके साथ ही साथ जब तक संसारमें रूलना पड़ रहा है तब तक कैसे रहें, इसकी विधि भी बतायी है, उन महावीर प्रभुका ऋण कौन चुका सकता है? केवल हम उनकी भक्ति करें, इतना ही मात्र उनका आभार मान पाते हैं, पर उनका हमपर कितना उपकार है उसका बदला हम नहीं चुका सकते।

ज्ञानवैभवसे सर्वत्र शान्तिका अभ्युदय—ज्ञान सबसे उत्तम वैभव है, संसारमें रहना तो कैसे रहना? जैसे जलमें भिन्न कमल है, कमल जलसे ही तो पैदा हुआ, जलमें ही रह रहा, जलमें ही फूल रहा, जलसे ही उसकी जिन्दगी चल रही फिर भी वह जलसे अलग ऊपर उठा हुआ रहता है, तभी तो वह इतना प्रफुल्लित है। यदि वह कमल

जलसे मोह करने लगे कि रे जल मैं तो तेरेसे ही पैदा हुआ, तुमसे ही मिलकर रहूंगा, यों यदि जलसे मिलने आ जाय तो वह कमल सड़ जायगा । ऐसे ही यह मनुष्य घरमें ही तो पैदा हुआ और घरमें रहकर ही यह अपनी जिन्दगी निभा रहा । भोजन न मिले तो कैसे जिन्दगी चले ? सब कुछ घरमें चल रहा, मगर जो विवेकी मनुष्य हैं वे घरसे अलग अपनी साधना बनाये हुए हैं अपने उपयोगमें । अगर यह मनुष्य अपनी अज्ञान-भरी कृतज्ञता जाहिर करने लगे कि हे कुटुम्ब, तुमने मुझे पैदा किया, तुम मुझे जिन्दगी से ठीक रखते हो, मैं तो तुमसे मिलकर चिपककर, तुममें रमकर ही रहूंगा, तो वह मनुष्य सड़ जायगा अर्थात् बरबाद हो जायगा । जो मनुष्य जलसे भिन्न कमलकी नाई रहकर अपना जीवन बिताता है उसका जीवन सुखी शान्त रहता है । जीवनको सुखी शान्त रखनेका कोई दूसरा उपाय नहीं । जो परिग्रहमें तृष्णा करेगा उसे कष्ट ही कष्ट भोगना पड़ेगा, शान्ति मिल नहीं सकती और तिस पर भी अन्तमें साराका सारा छोड़कर जाना पड़ेगा । तो निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।

सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्रके तत्र द्वारा सर्व संकटोंसे मुक्ति—प्रभुने संसारके संकटोंसे बचनेके दो मूल उपाय बताये हैं । (१) सम्यग्दर्शन और (२) सम्यक्चारित्र, सम्यक्चारित्र तो धर्म है और सम्यग्दर्शन धर्मकी जड़ है । जैसे नींव और मकान, ऐसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र । सम्यग्दर्शनमें मार्ग दिख जाता है कि हमको यह करना है, ऐसे ही आत्माके अभिमुख रहना है, आत्मामें मग्न होना है, उसकी एक झलक भी आयगी पर वह झलक स्थिर बनेगी सम्यक्चारित्रसे । गृहस्थ एक देश चारित्रसे चलता है, मुनि सर्वदेश चारित्रसे चलता है, मगर चारित्र है धर्म और सम्यग्दर्शन है धर्मका मूल । तो सम्यक्त्वभाव पानेके लिए क्या पौरुष करना ? क्या इस जीवनको व्यर्थकी गप्पोंमें ही बिता देना योग्य है ? अरे जीवन तो बीतेगा ही मरण तो नियमसे होगा । अब चाहे गप्पसप्पमें समय गुजार दो चाहे धर्मभावनामें, यह तुम्हारे हाथ बात है । गप्पसप्पमें समय बितानेसे, बाहरी घटनाओंको देखकर हर्ष विषाद करते रहनेमें ही यदि यह जीवन गमा दिया तो फिर मरणके बाद क्या स्थिति होगी सो तो विचार लो, संसारकी नाना दुर्गंतियोंमें जन्ममरण करना पड़ेगा । और ज्ञानभावनामें यदि समय गुजार दिया मैं ज्ञानमात्र हूं, सबसे निराला हूं, अविकार स्वभावी हूं, स्वयं आनन्दमय हूं ऐसे केवल अपनेको देखिये तो कोई कष्टका काम नहीं, जब मैं अपने कुलकी बातसे हटकर नीचतामें आता हूं तो मेरेको कष्ट होता है तो मेरे कुलकी बात क्या है ? ज्ञाता-

दृष्टा रहना, मात्र ज्ञानस्वरूप अपनेको अनुभवना, यह है अपने चैतन्य कुलकी बात, और इस कुलीनतासे हटकर जहां बाहरी परिग्रहोंमें यह मेरा है ऐसा अनुभव बनाया तो वहां कष्ट मिलेगा । यहां भी कोई पुरुष यदि किसीके घर पर एक जबरदस्ती सी करे कि यह तो मेरा है, तो बताओ लोकमें वह पागल सा माना जाता कि नहीं ? जिसपर अपना अधिकार नहीं उस पर यह अधिकार बनाता है । तो यहां स्वरूपमें भी तो देखो, अधिकार नहीं मेरा जगतमें परमाणुमात्र भी किसीपर, मगर यह अधिकार मानता है कि यह मेरा है तो क्या इसे पागल न कहा जायगा ? कहा तो जायगा मगर जहां सब ही ऐसे पागल हैं वहां पागल कहने कौन आयगा ? पर यह पागलपनसे कम बात नहीं है कि अपने आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें अनुभव बनाना कि यह मेरा है, इसे पागलपन कहो, ओछाई कहो, नीच घटनामें आ गया यह कहो । कुछ भी कह लीजिए यह आत्माके अयोग्य बात है ।

मोहपापको हटानेके प्रयासमें गृहस्थोंके व्यवहारधर्मकी उपयोगिताका संकेत— जो इस मोहपापको हटाना चाहते हैं और मोहके संस्कारमें अनादिसे पले आये हैं सो एकदम ये हटते नहीं, इनसे राग छूटता नहीं, तो वे अपना चित्त कुछ तो बदले कभी, इसीलिए श्रावकोंको बताया कि वे रोज-रोज भगवानके दर्शन करें, पूजन करें, कुछ समय ग्रन्थों का स्वाध्याय करें, गुरुजन मिलें तो उनकी सेवामें संगमें थोड़ा समय बितायें, अपनी शक्तिके अनुसार प्राणसंयम व इन्द्रियसंयम दोनों प्रकारका संयम पालें । ऐसा अपना खानपान रखें कि जिसमें किन्हीं दूसरे जीवीकी विराधना न हो और नहीं तो इतना तो कमसे कम ध्यान रखा ही जाय कि दो इन्द्रिय आदिक त्रस जीवोंका जिसमें घात होता हो उन चीजोंको न खायें । विषयोंकी प्रीति करनेमें लाभ नहीं है, प्रीति भी बने तो आसक्ति तो न होनी चाहिए । जैसे रात्रिमें खाना-पीना यह कोई जरूरी है क्या ? मगर आज यह विषय गौण हो गया है, क्योंकि प्रायः करके सबको असंयम ही प्रिय है । मगर जैनशासनमें रात्रि भोजनका सर्वथा निषेध है । रात्रि भोजनमें साक्षात् मांस भक्षणका दोष है । बाजारकी सड़ी गली चीजें जैसे दही, जलेबी आदि ये सब अभक्ष्य पदार्थ त्याग देने चाहिए । गोभीके फूलमें तो साक्षात् मांस भक्षणका दोष है, वह तो छूने योग्य भी नहीं होता । उसके अन्दर छोटे बड़े कितने ही कीड़े होते हैं, और फिर स्वादकी दृष्टिसे देखो तो उस गोभीके फूलमें स्वयं कुछ स्वाद नहीं होता, ऐसा हमने मालूम किया है गोभीका फूल खाने वाले लोगोंसे । उसमें पकाया जानपर जो स्वाद

होता वह तो तेल मसालेका होता, तो गोभीका फूल तो बहुत ही अभक्ष्य चीज है, विवेकीजनोंको उसका त्याग कर देना चाहिए। अंडा, मांस, मच्छी, शराब वगैरह गंदी चीजोंके त्यागकी तो बात कहना ही क्या, वे तो सभी पुरुषमात्रको त्याग ही देने चाहिए। इनमें तो साक्षात् त्रस जीवोंका घात होता है, तो इस प्रकारसे हिंसात्मक कार्योंसे बचना श्रावकका मुख्य काम है। दूसरी बात है किसीसे झूठ न बोलना, हमेशा हितमित प्रिय वचन व्यवहार होना। इससे आत्माको बहुत बड़ा बल मिलेगा, पर-वस्तुओंको तृण समान जानकर उन्हें न अपनाना, उनपर अपना मन न बहलाना, किसी का धन छीननेका या न्याय अन्याय कुछ न गिनकर दूसरोंका धन हड़पनेका भाव न आना, न्याय नीतिसे चलकर उदयके अनुसार जो कुछ प्राप्त हो उसीमें गुजारा करना, इसके लिए जीवन है, धन संचयके लिए जीवन नहीं है। जो परिग्रहकी असारता समझ लेता है उसके धर्ममें गति चलती है। परस्त्रीका सेवन याने कुशील पापकी बात मनमें न आये, अपने आपमें तृप्त रहें, गृहस्थ हैं तो स्वस्त्री किसलिए है कि परस्त्रियोंपर बुरी दृष्टि न जाय, एक अपनी स्त्रीमें ही संतुष्ट रहें, और भी ऊंचा भाव बढ़े तो अधिकाधिक ब्रह्मचर्यसे रहें, और भी ऊंचे भाव बढ़ें तो पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहें। परिग्रहकी तृष्णा का त्याग करें। सदाचारसे पवित्रता बढ़ायें और आत्मामें मग्न होनेका पौरुष करें।

मुलभ परिग्रहमें गुजारा करके धर्मपालनके प्रोग्रामकी मुख्यतासे जीवनकी सफलता—परिग्रहके सम्बंधमें बताया कि न्यायनीतिसे एक साधारण प्रयाससे जो आये उसमें ही अपना गुजारा करना, मगर परिग्रहमें तृष्णा करके, उस परिग्रहके जोड़नेके लिए रात-दिन श्रम करना, कल्पनायें बढ़ाना यह तत्काल भी इस जीवका अहितकर रहा है और उसके फलमें बादमें भी कुछ लाभ नहीं मिलता। पुण्यकी सीमासे बाहर किसीको कुछ प्राप्त होता नहीं इसलिए बाह्य परिग्रहोंमें यह ही बुद्धि रखना कि गृहस्थीमें रहकर कर्तव्य तो है धनार्जनका, मगर उसके छलपर हमारा अधिकार नहीं है। जो पुण्य विपाकवश आये उसीमें ही हम गुजारा कर लेंगे, यह कला अपनेमें आनी चाहिए। जैसे मुसलमान भाई कहते हैं कि खुदाको जो मंजूर है उसीमें गुजारा करनेमें हम खुश हैं, तो यहां क्यों नहीं यह भाव रखते कि पुण्यविपाकमें जो कुछ मिलता है उसीमें गुजारा करके प्रसन्न रहें और धर्मपालनमें बढ़ें। जो मिले उसमें हमें कोई हिसाब नहीं लगाना कि हमें इतना ही धन क्यों मिला, इनको तो इतना धन मिला, हमें क्यों न इतना अधिक धन मिला? अरे ऐसा हिसाब लगाना योग्य नहीं। अपनेमें तो एक ऐसी

कला आनी चाहिए कि उदयके अनुसार जो कुछ प्राप्त हो उसीमें अपना गुजारा चलायें और संतुष्ट रहें। अपने आत्माका जो कर्तव्य है सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र उसके लिए अपने अधिकाधिक जीवनके क्षण बितायें, बाहरी पदार्थोंके संचय करनेकी बात मनमें न लायें। प्रभुने ये दो तंत्र बतायें हैं जीवोंके कल्याणके लिए—(१) सम्यग्दर्शन और (२) सम्यक्चारित्र। और इन दोनोंमें जिसका परिणमन हुआ, विकास हुआ उसके आश्रयसे ही ये गुणस्थान बनते हैं। तो एक बात चित्तमें लावें कि मुझे ज्ञान सम्पादन करना है। यह ज्ञान ही मेरे साथ जायगा, चाहे इस रूपमें साथ न जाय, पर क्षयोपशम और संस्कारके रूपमें यह ज्ञानधन तो साथ जायगा बाकी कोई भौतिक पदार्थ मेरे साथ नहीं जा सकता। तब मेरा मैं ही हूं, मेरे साथ मेरे कुटुम्बके लोग भी नहीं जाते, मेरे कल्पनाओंके दुःखमें कुटुम्बके लोग भी सामिल नहीं हो सकते तो अन्य विकल्प अधिक क्यों करूं। जो होता होगा वह पुण्योदयसे हो जायगा।

सांसारिक कार्योंमें तकदीरकी तदबीरसे अधिक मुख्यताका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—कहते हैं ना तकदीर और तदबीर, इन दो का जोड़ा है। बताओ तकदीर बड़ी है कि तदबीर? इस प्रश्नपर दो पुरुषोंमें विवाद बढ़ गया, एक कह रहा था कि तकदीर बड़ी है और एक कह रहा था कि तदबीर बड़ी है। आखिर उन दोनोंमें इतना विवाद बढ़ गया कि उसका फैसला करनेके लिए न्यायालय जाना पड़ा। तो न्याय करनेके लिए राजाने क्या उपाय किया कि उन दोनों पुरुषोंको एक बड़े कमरेमें बन्द कर दिया और क्या किया था कि उस कमरेमें किसी ऊपरके किसी अलमारीके खानेमें दो बड़े-बड़े लड्डू छिपाकर रख दिया था। और दो दिन तक उनको उस कमरेके अन्दर बन्द रखा। अब उन दोनों पुरुषोंमें जो तकदीरवादी (भाग्यवादी) था वह तो आरामसे बैठा रहा, कोई प्रकारका प्रयत्न न किया और तदबीरवादी (पुरुषार्थवादी) ने इधर-उधर टटोलना शुरू किया। ढूंढते-ढूंढते उसके हाथ दो बड़े लड्डू लगे, वह बड़ा खुश हुआ। आखिर दो दिनके भूखे थे, लड्डू पाकर वह फूला न समाया, खूब छककर खाया और दूसरेको भी खिलाया। आखिर अपने पास कोई भूखा बैठा हो तो कैसे अकेले खाया जा सके? सो खुद भी खाया और दूसरेको भी खिलाया साथ ही यह भी कहा कि देख लिया ना तकदीर बड़ी है कि तदबीर। तुम तकदीरके भरोसे बैठे रहते तो भूखों मर जाते, हमने तदबीर किया याने पुरुषार्थ किया तो दो लड्डू पाया जिससे हम तुम दोनोंने अपनी-अपनी भूख मिटाया, तो तदबीर बड़ी हुई ना? तो वह दूसरा पुरुष बोला भाई ऐसी

बात नहीं है। तुमको तो भूख मिटानेके लिए तदबीर करनी पड़ी, मेहनत करनी पड़ी पर हमारी तकदीर इतनी अच्छी है कि बिना किसी प्रयासके ही हमको लड्डू खानेको मिले तो इसमें तो हमारी तकदीर ही बड़ी कहलायी ना, क्योंकि हमें कोई तदबीर ही नहीं करनी पड़ी। तो भाई यह समझो कि ये सांसारिक समागम सब भाग्य प्रधान हैं, हां मोक्षमार्गमें प्रधानता पुरुषार्थकी है। अगर संसारके परिग्रहके लिए हम परिश्रमको ही पूरा साधन समझ लें तो फिर तृष्णाकर करके जिन्दगी गुजर जायगी, कभी शान्ति नहीं मिल सकती। तो सर्व प्रकारका उपदेश हमको प्रभुने दिया। कर्मसिद्धान्त, आत्म-सिद्धान्त, संसारमें जन्म मरण करते रहनेकी विधि, मोक्षमार्गकी विधि, इन सबका वर्णन किया है।

हितकारी जैनशासनको प्राप्त कर संसारचक्रसे हटनेका निर्णयकर शान्तिस्वधाम अन्तस्तत्त्व के अभिमुख रहनेका संदेश—हम आप जैनशासनमें आये हैं तो कुछ तो अपनेपर दया करें और एक निर्णय बनायें कि मुझे तो ज्ञानसम्पादन करके रहना है। मरण हो तो यह ज्ञानसंस्कार साथ जायगा। इससे बच्चे लोग पढ़ें, बड़े लोग स्वाध्याय करें, सुबह साम तत्त्वचर्चा, ज्ञानध्यान, शास्त्रोपदेश श्रवण आदि करके अपनेको विशेष-विशेष ज्ञानार्जन का लाभ लेना चाहिए। खूब अध्ययन करके, स्वाध्याय करके, मंदिरमें पूजा पाठ विधान आदि करके यदि अपने लिए कुछ लाभ न उठाया तो उससे फायदा क्या? जैसे कोई अपने बापकी बड़ी सेवा करे, नमस्कार करे, भक्ति करे, उसके गुण खूब बखाने, पर उसका कहना बिल्कुल न माने तो उसकी वह वास्तविक भक्ति न कहलायगी, भक्ति तो वास्तवमें तब है जबकि वह अपने पिताकी आज्ञा माने, ऐसे ही समझिये कि हमारे अलौकिक पिता हैं अरहंत देव। अब उनके हम बड़े-बड़े गुण गायें, रोज-रोज उनकी पूजा करें। पर उनका कहना न मानें, उनकी आज्ञाका पालन न करें या उनके उपदेशों के अनुसार न चलें तो यह उनकी वास्तविक भक्ति न कहलायगी। तो अरहंतदेवने हम आपके कल्याणके लिए जो उपदेश किया है उसको सुनें, समझें, उसका ज्ञान करें, उस पर अमल करें और अपना यह दुर्लभ मानव-जीवन सफल करें।

धरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।

सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणणपरिणामो ॥५०॥

चारित्रकी स्वधर्मरूपता—चारित्र आत्माका धर्म है, आत्माका स्वरूप जानकर जैसा स्वरूप है वैसा ही रहना उसका नाम चारित्र है। आत्माका स्वरूप क्या है ?

चेतन, जानना देखना, ज्ञान दर्शन । तो ऐसा ही रहना मायने सबका ज्ञातादृष्टा रहना, रागद्वेष, इष्ट अनिष्टके विकल्प न होना ऐसी आत्माकी जाननहार स्थितिको चारित्र कहते हैं । ऐसा चारित्रपालन सबका स्वाधीन और सुगम है । बाह्य पदार्थोंकी कमायी में तो संदेह है, श्रम है, अनेकोंकी चापलूसी करनी पड़ती है, ग्राहकोंसे निपटना पड़ता है, अफसरोकी पराधीनता है, इसमें तो बड़ा कष्ट है और आत्मा अपने भीतर अपने स्वरूपको देखें और इष्ट अनिष्ट विकल्पोंको छोड़ें, खाली जाननहार रहे तो उसमें कौनसी पराधीनता है ? दूसरा कौन रोकता है कि तुम अपनेमें मत रमो । तुलना करके देख लो, आत्माका चारित्र पालनेमें कुछ भी खेद नहीं, कष्ट नहीं, दो पैसे खर्च करने की भी जरूरत नहीं । किसीसे कुछ पूछनेकी आवश्यकता ही नहीं, केवल अपनी दृष्टि भीतरकी और अपनेको ज्ञातादृष्टा देखा । इष्ट अनिष्ट विकल्प न करें वह चारित्र है, कितना सुगम है, देखो कोई बहुत बड़ा बलिदान किए बिना ऊंचा काम नहीं बनता । तो अपने ही भावमें मोहका लगाव रखना एक व्यर्थकी बात है । त्याग किए बिना सदाके लिए संकटोंसे छूटनेका काम न बन पायगा । विषयकषाय इच्छा आदि विकारों का परिहार करके स्वच्छ स्वरूपकी दृष्टि करें । भैया, अब यह अपने पसंदकी बात है कि संसारके जन्म-मरणके संकटोंसे सदाके लिए छूटनेका आपका निर्णय है या एक इस भवमें राग करके, प्रेम करके, मोह करके मिल-जुल करके और इन्द्रियविषयोंको खूब भोग करके, खूब खा पीकर लोगोंमें अपना नाम फैलाकरके जिन्दगी बिताना है ? इन दो में क्या निर्णय करते हो, उसके आधारमें आगे गाड़ी चलेगी । अपना भीतरी निर्णय तो बनाओ ।

परिवारादिव्यामोहसे व्यामोहीका दुर्गमन—दूसरोंके जो बड़े-बड़े परिवार हैं, कुटुम्बीजन हैं, धन वैभव आदिक हैं उनमें क्यों नहीं आप लगाव रखते ? और चाहे अपने घरमें कानी लड़की हो, टेढ़ा लड़का हो, कुपूत हो, कुरूप हो, कैसी ही हो, उसके प्रति बड़ा मोह होता और दूसरोंके कुटुम्ब जिनमें बड़े सुन्दर लोग हैं, सभ्य हैं, पढ़े-लिखे हैं उनमें क्यों नहीं लगाव होता ? खुदके घरके जीव भी उतने ही भिन्न हैं जितने कि दूसरोंके घरके । और फिर अगर आपके हैं आपके घरके लोग तो उन्हें फिर अपने ही घरमें सदा रखो, क्यों उन्हें मरने देते ? या आप स्वयं बने रहें सदा अपने घरमें, क्यों यहां से भरकर कहीं जाते ? अरे यहां आपका कुछ नहीं है, जैसे जगतके अन्य सब जीव भिन्न हैं वैसे ही आपके घरमें आये हुए जीव भी पूरे भिन्न हैं, कुछ भी अन्तर नहीं है,

वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे देख लो, आपके घरके लोग आपके कुछ नहीं लगते, मगर आपका तन, मन, धन, वचन सब कुछ उनके ऊपर ही न्योछावर हो रहा है। यहां तक कि आपका लड़का यदि कुछ अन्याय करे तो भी आप अपने लड़केका ही पक्ष लेंगे। कितना तीव्र व्यामोह है, आखिर उसका फल क्या होता कि कष्ट भोगना पड़ता। अनेकों दृष्टान्त ऐसे मिलते हैं कि अपने लड़के के व्यामोहमें बड़े-बड़े राजाओंने राज्य छोड़ दिया पर लड़कोंका व्यामोह न छोड़ सके। कितना तीव्र व्यामोह लगा है जीवोंके, और व्यर्थका व्यामोह। इस व्यामोहसे आत्माको लाभ क्या मिलता है सो तो बताओ। आत्मलाभकी दृष्टिसे देखें तो खुदके परिवारके लोगोंसे अच्छे तो गैर लोग हैं क्योंकि उनके प्रति कोई राग नहीं, मोह नहीं, विकल्प नहीं, आकुलता नहीं, क्षोभ नहीं। परिजनोंके प्रति तो रातदिन व्याकुलता, विह्वलता रहती है। लोग तो यह सोचते हैं कि हम बड़े चतुर हैं, हमने घरको ऐसा बना रखा है कि घरके लोग हमारी आज्ञाके खिलाफ नहीं जाते, उनपर हमारा शासन है, और लड़के लोग हमको बड़ा आदर देते हैं और हम उनको कष्ट नहीं होने देते हैं, हमारी व्यवस्था बहुत बढ़िया है, हम बड़े महान हैं, बड़े चतुर हैं, पर भीतरमें देखो हो क्या रहा है? दुर्गतिमें जानेकी तैयारी चल रही है। यह ही बात यहां घरमें रहकर की जा रही है।

निलेप रहकर कर्तव्य करनेमें सफलताकी सिद्धि—निलेप होकर, अनासक्त होकर घरमें रहनेकी जरूरत है। चूंकि घर गृहस्थीके बीच रह रहे हैं सो मेल मिलाप एक कर्तव्य है ऐसा जानकर किया जाता होता तब तो खतरा न था, पर उनमें लिप्त होकर जो कर्तव्य किए जा रहे हैं उनसे इस जीवको खतरा है। कभी धार्मिक कार्य करनेकी भी भावना बनती है और कुछ धन वैभवका त्याग करनेकी भी बात मनमें आती है तो वहां लोगोंकी दृष्टि रहती है अपने यश प्रतिष्ठा की। लोग जान जायें कि अमुकने इतना बड़ा नाम किया, इतने धनका दान किया। एक नामवरीके लिए कुछ त्याग भी किया तो वह भी एक प्रकारका परिग्रह है न कि त्याग। उससे तो उसका पुण्य भी क्षीण हो गया, मोक्षमार्ग भी रुक गया। त्यागके फलमें जो चाहिए था सो इसी वक्त चाह लिया, आगेके लिए अब उससे क्या आशा। तो कभी धर्ममार्गमें भी चलता मोही गृहस्थ तो कुछ धन खर्च करके भी पुण्यका अर्जन नहीं कर पाता। अपने शुभ भाव नहीं बना पाता। जैसा लगाव घरमें कुटुम्बमें है वैसा ही वहां भी है, इस जीवकी मोह की विचित्रता तो देखिये कहीं चैन नहीं। चैन कैसे मिले? जब आत्माका परिचय हो,

आत्माकी सुध हो, ज्ञानमार्गमें आये तब इसको शान्ति मिलेगी । जिसको ज्ञान पानेकी रुचि है, ज्ञानमार्गसे अपना महत्त्व जाना है, ज्ञानके विकाससे ही हमारा मोक्ष होगा ऐसा जिसके निर्णय बना है उसके तन, मन, धन, वचन, प्राण सब ज्ञानके लिए चलेंगे और जिनका मन केवल इस देहमें है और इस देहकी फोटो छपे, इस देहका जो नाम धरा हुआ है वह नाम सब जगह लिखा जाय, लोकमें सब जगह जाहिर हो जाय कि यह कितने महान हैं, ऐसी जिसने चाह की तो बताओ उसने भौतिकताकी चाह की या आध्यात्मिकता की ? भौतिकता की । उस भौतिकताके लिए ही उसका तन, मन, धन, वचन सबकुछ लगेगा । इस व्यामोहीकी दशा तो देखिये—ज्ञानप्रकाश कहां मिलता है ? ज्ञानप्रकाश मिले बिना धर्म रंच नहीं होता । ज्ञानकी दिशामें हमें बढ़ना चाहिए और अपना यह रहा सहा जीवन सफल करना चाहिए । उसके लिए अगर कुछ त्याग करना पड़े, कुछ समयको सत्संगमें रहना पड़े या जो भी करना पड़े, सब करनेके लिए उमंग रखिये और अपना यह निर्णय बनाइये कि किसी भी प्रकारसे मेरेको सत्य ज्ञान मिले । सत्य ज्ञान वह है जहां इष्ट अनिष्ट भाव नहीं जगता, रागद्वेष परिणाम नहीं जगता । अब देखिये परिग्रहका संचय करना कितना कठिन है और आत्मस्वरूपमें रम जाना कितना सुगम है । दोनो बातोंको सामने रखें, ऐसा सबको मालूम है कि परिग्रहके छोड़नेमें कितनी कठिनाइयां भोगी जाती हैं । यद्यपि परिग्रह भी विशेष श्रम करनेसे नहीं जुड़ता, पूर्वकृत पुण्यके उदयमें समागम ऐसा होता है और वहां थोड़ा बहुत प्रयास करना होता है मगर परिग्रह संचयकी धुन वाले लोग अपने जीवनके सारे क्षण कष्टों में बिता रहे हैं, और एक यह चारित्र मायने आत्माके स्वरूपका ज्ञान करना यह ही हितकर है, यह ही मेरा सहजस्वरूप है, जो है सो ही रहना चाहिए, ऐसे भावपूर्वक इस ही स्वरूपमें दृष्टि रहे, इस कामके लिए कौन बाधा देता है ? किसीमें सामर्थ्य नहीं जो इसको ज्ञानमार्गमें चिगा सके । यह जीव खुद ही कायर होकर, निर्बल होकर, मोही बनकर, ज्ञानस्वरूपसे भ्रष्ट होकर कष्टमें पड़ता है, दूसरा कोई इसको कष्टमें डालने वाला नहीं है ।

आत्मज्ञानके बिना व तत्त्वज्ञानकी प्रभावनाके बिना किये गये अन्य कार्योंमें धर्मभावनाकी मान्यता करनेका विध्वंस—भैया, जैनधर्मकी जय बोलें और उसकी प्रभावनामें बहुत-बहुत कष्ट करें, बहुत कुछ धन भी खर्च करें, सारे दिन भारी श्रम भी करें, सब कुछ करें और प्रभावना जरा भी नहीं हुई, इसको भी तो देखिये प्रभावना कहते किसे हैं ? तत्त्व-

ज्ञानकी प्रभावना करनेको प्रभावना कहते हैं। क्या इसका नाम प्रभावना है कि लोग जान जायें कि इनका जलूस बहुत तेज निकला, बैण्ड बाजे थे, लोगबाग पसीने से बड़े लथपथ हो रहे थे, ऐसा लोग देख लें इसके मायने प्रभावना है या जो जैन शासनमें सत्य वस्तुका स्वरूप कहा है आर उसपर चलनेसे ही हमारे संकट दूर हो सकते हैं, यह बात लोग जान जायें इसमें जैन धर्मकी प्रभावना है? इन दोनोंमें तुलना तो करो। जलूस बड़ा भारी निकला, लोग बड़े अच्छे धनिक हैं, यह लोगोंने जाना तो बताओ यह जैन धर्मकी प्रभावना है या भौतिकवादकी प्रभावना है? और आपने व्याख्याता बुलाये, स्वयं भी कुछ लोगोंने बोला और सुनने वाले लोगोंने चित्तमें यह बात आयी कि यह संसारका सारा समागम धोखा है, यह मोह लगाव नरकादिक गतियोंमें जानेकी तैयारी है, इन सबमें कुछ तत्त्व नहीं रखा है। प्रभुने, जिनेन्द्रदेवने जो आत्माका स्वरूप बताया, अपनी बात बतायी कि यह मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं, इसका किसी भी जीवसे, किसी भी परमाणुसे जरा भी सम्बंध नहीं है, जो कि साफ भी दिख रहा, मरनेपर कोई साथ नहीं जाता। इससे इस बाह्य व्यामोहको हटाना और आत्मा के स्वरूपमें दृष्टि देना यह शान्तिका मार्ग है। यह बात यदि लोगोंने चित्तमें घर कर गई तो वह हुई जैन धर्मकी प्रभावना। अज्ञान अंधकारसे हटकर ज्ञानमार्गको जता देना इसे आचार्योंने प्रभावना कहा है। कार्य सब करते हैं पर आत्मपरिचयनके बिना वे सब कार्य ऐसे हैं जैसे कि सनीमाके पर्देपर आने वाले चित्रण। जान वहां जरा भी नहीं और कार्य सब होते दिख रहे, यहां गए वहां गए, यहां दौड़े वहां भागे, यह किया वह किया, कितने ही काम वहां दिख रहे हैं उस सनीमाके पर्देपर, पर वे सब जानरहित हैं, ऐसे ही धर्मके कार्य बहुत दिख रहे हैं पर आत्मपरिचयन नहीं है तो सब क्रियामें जानरहित हैं। वहां धर्म मार्ग नहीं मिल पाता।

आत्मसमभावकी चारित्ररूपता—धर्म पालन कितना सुगम है, स्वाधीन है यह इस गाथामें चारित्रका स्वरूप कह कर जता रहे हैं। चारित्र है सो आत्माका धर्म है और वह धर्म आत्मसम्भावरूप है। सब जीव अपने समान नजर आने लगें, ऐसी ज्ञान-ज्योति जहां मिले वहां चारित्र होता है। सब जीव अपने समान कैसे ज्ञानमें आयें? स्वरूप-दृष्टिसे, जहां भगवान भी अपने समान दिखने लगें, भगवानके समान खुद दिखने लगें, भगवान और खुदके समान जगतके समस्त जीव दिखने लगें, ऐसी दृष्टि जब मिलेगी तब चारित्र बनेगा। कैसा दिखने लगे? बाहरी क्रियासे नहीं, परिणतिसे नहीं, पर्याय

से नहीं, परिणमनसे नहीं किन्तु स्वरूपसे, स्वरूप जैसा प्रभुका है वैसा ही मेरा है। भीतरके विकल्प बनावें, बाहरके विकल्प बनावें तो इसमें जरा भी बड़प्पन नहीं है। लौकिक बड़प्पनमें केवल घमंड ही हाथ आता है, पर अपने आत्मीय गुणोंकी दृष्टिमें आत्मलीनता रूप बड़प्पन आता है। सब जीव मेरे समान हैं, दयाका आधार यह भाव है, चलते जा रहे, कहीं चींटी न मर जाय, क्यों न मरे ऐसा कोई प्रश्न कर सकता? मर जाय तो मर जाय, फिर पैदा हो लेगी, कीड़ी मरेगी तो फिर कीड़ी ही तो बनेगी, इसमें उसका क्या नुक़्शान हो गया? भाई दयाका आधार आत्मसम्मान है। यह कीड़ी का जीव मेरे स्वरूपके समान है, पर कर्मके वश होकर यह कीड़ीका जीव इस योनि में आया है जहां तीन इन्द्रियां मिलीं, इतना सा ज्ञान मिला, तो ऐसा केवल ज्ञानशक्ति से सम्पन्न यह प्रभु आत्मा कर्मोंके वश होकर आज ऐसी निम्न पर्यायमें आया है, पर स्वरूप तो इसका वही है कि जो मेरा है और प्रभुका है। इस प्राणीके दबनेकी, दबकर मरनेकी घटना न बने, नहीं तो यह संक्लेश सहित मरण करेगा और इस भवसे नीचा भव पायगा, इस भगवान आत्माका और भी अनर्थ होगा, ऐसी दया है साधुवोंकी जिस दृष्टिके कारण वे जीवोंकी हिंसा नहीं करते, और जिनको आत्म समभावके आधारका परिचय नहीं है ऐसे लोग भी दया करते हैं मगर इस भावसे करते कि जीवोंकी दया करें तो स्वर्ग मिलेगा, जीवोंकी हिंसा न करें तो पुण्यबंध होगा, वैभव मिलेगा, संसार में सुख साता मिलेगी। अज्ञानियोंका यह आधार है जीवदया करनेका और ज्ञानियोंका आधार है जीवदयाका आत्म समभाव।

ज्ञानियोंका सर्वत्र उपेक्षासंयमरूप प्रवर्तन—ज्ञानियोंका जीवन जीवदया करते रहने के लिए ही नहीं है किन्तु उपेक्षासंयम द्वारा सबका ख्याल छोड़कर आत्मामें रमनेके लिए है। अब चूंकि यह शरीर साथ लगा है इसलिए बिहार और आहार करना जरूरी पड़ जाता, सो जब आहार बिहार करना है तो वहां जीवदयाकी प्रवृत्ति रखकर करना है कि मेरे द्वारा किसी भगवान आत्माकी दुर्गति न हो। आहार बिहार करना एक अपने ज्ञानको पवित्र रखनेके लिए है। ज्ञानीके आहार बिहारकी बात कह रहे। जैसे सरसोंके तेलका दीपक जिसमें एक लम्बी बत्ती डाल दी जाती है और दीपकके किनारे परसे उजेला चलात है तो उजेला बना रहे, इसके लिए लोग क्या करते हैं कि वे दो काम करते हैं एक तो उस दीपकमें तेल डालना और दूसरे उस बत्तीको आगे करते जाना। जब वह बत्ती थोड़ी जल गई तो उसका प्रकाश बिल्कुल कम हो जाता और

वह बुझ भी जाती, तो जैसे वहां दो काम करने होते एक तो दीपकमें तेल डालना और दूसरे बत्ती आगे बढ़ाते जाना, ऐसे ही ज्ञानी संत अपने ज्ञानप्रकाशको पवित्र सुरक्षित बनाये रखनेके लिए पेटमें तेल डालते हैं अर्थात् आहार डालते हैं और शरीरको उकसाते हैं अर्थात् बिहार करते हैं। एक स्थान पर रहना ज्ञानको मलिन करनेका साधन हो सकता है इसलिए विहार करते हैं, और आहार किए बिना शरीरमें बल न रहेगा जिससे संयम न सध पायगा, इसलिए आहार करते हैं। इसका भी प्रयोजन ज्ञानको पवित्र सुरक्षित बनाये रखना है, कैसा तत्कालका लाभ है, और बाहरी बातोंमें पड़ने से तो बड़ी पराधीनता है, कहो काम बने कहो न बने, बड़ी प्रतीक्षा करनी होती, बड़ा परिश्रम करना होता पर आत्मचारित्रके काममें, भीतर दृष्टि दें और भीतर ऐसा ही लखते रहें तो समझो कि आपने अपना धर्म पा लिया। उसको सदा निभानेके लिए गृहस्थीका त्याग करने की, परिग्रहका त्याग करनेकी आवश्यकता है, मगर करना पड़ता है खुदको अपनेमें अपनी ज्ञानदृष्टिका ही काम, और यह चारित्र है। सो यह चारित्र रागद्वेष रहित जीवका अभिन्न परिणाम है। रागद्वेष न होकर जो ज्ञानका परिणाम है सो चारित्र है।

कोई किसीका कुछ नहीं यह तथ्य जानकर परमात्मतत्त्वोपासनमें उपयुक्त होनेका प्रतिबोध— लोग यह सोचते हैं कि जहां मानलो १०० राग कर रहे वहां एक और सही। यों उस रागको बढ़ानेकी बात तो सोचेंगे, पर उसके दूर करनेकी बात न सोचेंगे। भला बताओ राग कर करके मरण करेंगे तो उसका फल दूसरा कौन भोगेगा? खुदको ही भोगना होगा, कोई किसीका साथ न देगा, मददगार न होगा। एक घटना सुना है कि कोई कसायी किसी बाजारसे गुजरता हुआ एक बकरा लिए जा रहा था, रास्तेमें किसी सेठकी दूकानपर वह बकरा चढ़ गया और उसे सेठके चारों ओर घूमने लगा, सेठके शरीरसे चिपक चिपककर बड़ा प्यार दिखाने लगा, अब वह नीचे उतरे ही नहीं। कसायी बड़ा हैरान हुआ। उस कषायीने कहा—सेठजी हमारा बकरा जल्दी दूकानसे नीचे करो, नहीं तो १०००) इस बकरेकी कीमत दे दो, हम इसे तुम्हारी ही दूकानमें छोड़कर चले जायेंगे। अब वह कैसे १०००) दे दें, सो उसने बड़ी तेजीसे धक्का मारकर दूकानसे नीचे गिरा दिया, आखिर वह कसायी उसे ले गया कसायीखाने और वहां जो करना था सो किया, इधर वह सेठ जो कि बड़ा धार्मिक पुरुष था वह मंदिर पहुंचा, वहां किसी मुनि से सारा वृत्तान्त बताया, तो वह मुनि थे अवधिज्ञानी। उन्होंने अपने अवधिज्ञानसे

विचार कर बताया कि वह बकरा तेरे पिताका जीव था, तुझसे वह प्यार कर रहा था। तो सेठको अपने पिताके जीवको धक्का देकर गिरानेका भारी पश्चाताप हुआ, और सोचा कि मैं अभी-अभी जाकर १०००) उसे देकर वह बकरा छुड़ा लूंगा। कमसे कम मेरे पिताकी इस कषायीके द्वारा हत्या तो न हो पायगी...। यह विचार कर १०००) लेकर सेठ पहुंचा उस कषायीके पास तक, मगर वहां तो वह बकरा मार दिया गया था। तो बात यहां यह देखो कि बापका जीव बकरेके रूपमें जब उस सेठसे चिपक रहा था तब तो उसके ऊपर करुणा नहीं जगी और जब उसकी हत्या कर दी गई तब उसके प्रति करुणा जग रही, तो उस करुणासे अब होगा क्या ? तो यहां का सारासमागम बैकार है कौन किसका है ? मोह करनेका फल दुर्गति है, अब कोई कहे कि मोहका छूटना तो बड़ा कठिन है, छूटता नहीं, तो भाई ठीक है, खूब करते जावो मोह मगर इसका फल दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना है। यदि इन दुर्गतियोंसे बचना है तो स्वरूप-दृष्टि करो, अपने आत्मवैभवको लखकर प्रसन्न रहो, सो यह रागद्वेषरहित परिणाम आत्माका चारित्र्य है, इस चारित्र्यसे ही मोक्षमार्ग चलता है और निकटमें भी कभी आगे चलकर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेह अण्णं सो ।

तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अण्णविहो ॥५१॥

आत्मस्वरूपका अविकारस्वभाव ज्ञायकत्व—जैसे स्फटिक मणि निर्मल है, आर पार दिखने वाली है, विशुद्ध है किन्तु पर द्रव्यके सम्पर्कसे युक्त होकर वही अन्य रूप परिणम जाता है। जैसे स्फटिक मणिके पीछे हरा, लाल जैसा भी कागज लगा हो वैसे प्रतिबिम्बरूप हो जाता है, इस विषयमें कुछ लोगोंकी कल्पना होती है कि मात्र दिखता ही है रंग उसमें, पर उस रूप परिणमा नहीं। जैसे दर्पणका दृष्टान्त ले लो, ऐनाके सामने कोई वस्तु रखी हो तो उस वस्तुका प्रतिबिम्ब होता है, तो वहां कोई यह कहे कि केवल वैसा दिख रहा है, परिणमन नहीं हो रहा सो यह बात नहीं है, परिणम रहा है अशुद्ध निश्चयनयसे परिणमन झलक रूप, प्रतिबिम्ब रूप, फोटो रूप उस दर्पणका है, निमित्त भूत उस वस्तुका नहीं है, किन्तु वह परिणमन चूंकि नैमित्तिक है, निमित्त हटाया, परिणमन नहीं रहा, सामने हाथ आया, हाथकी झलक आ गई, हाथ अलग हुआ, झलक मिट गई, चूंकि ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बंध है कि हाथके सामने होने पर ही वह हाथरूप झलक रहा, हाथके अभावमें वह हाथरूप झलक नहीं है, सो जल्दी यह मोक्षमार्ग पड़ जाता

है कि स्वभावमें विकार नहीं, झलका नहीं, किन्तु परद्रव्यके सम्पर्कसे युक्त होकर झलका है, निमित्त नैमित्तिकभाव कभी खण्डित नहीं है, वैसा होता ही है और उस समय भी वस्तुस्वरूप खण्डित नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपनी परिणतिसे ही परिणम रही है। तो वस्तुस्वरूप और निमित्त नैमित्तिक भाव दोनों ही बातें अविरुद्ध रूपसे एक घटनामें मौजूद हैं।

आत्मामें विकारकी परसम्पर्कज्ञता—यहां इस ओर दृष्टि दिला रहे हैं कि जैसे स्फटिकमणि स्वयं अपनी ओरसे स्वभावतः निर्मल है, उसमें रंग लपेट नहीं है, पर परद्रव्य के सम्पर्कसे युक्त होकर वह अन्यरूप परिणम गया अर्थात् स्वच्छताको छोड़कर उस विकार, फोटो, अक्स रूप परिणम गया। इस समय स्वच्छता शक्तिमें है, पर उसका तिरस्कार है, इसे कहते हैं तिरोभाव। आविर्भाव फोटोका है, ऐसे ही यह जीव अपनी सत्ताकी ओरसे, अपने आपके स्वरूपकी ओरसे तो अविकार है, स्वयं स्वभावतः इसमें विकार नहीं है, न विकार करनेका इसका माद्दा है, स्वभाव है किन्तु परद्रव्य कर्मसे युक्त होता हुआ जैसा कर्ममें विपाक चलता है, उदय चलता है उसके अनुरूप यहां आत्मामें फोटो आया, अक्स आया, प्रतिफलन हुआ और उस कालमें इसकी स्वच्छता का, इसके ज्ञायकस्वरूपका तिरोभाव हुआ और उस रागादि विकार मलिनताका आविर्भाव हुआ, वहां यह विवेक करना है कि जो विकार आया है सो वह मैं नहीं, वह मेरा स्वरूप नहीं, वह मेरे स्वभावसे नहीं आया, मैं तो अविकार ज्ञानस्वरूप हूं। वस्तु के स्वभावकी ओर दृष्टि करानेके लिए निमित्त नैमित्तिक भावका वर्णन किया है, सो यहां यह बात निरखिये कि मेरेमें जो गड़बड़ी है, विकल्प है वह सब पुद्गलकर्मका निमित्त पाकर हुई है, अतएव मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा वैभव तो वह है जो मेरेमें मेरे अपने आपमें होवे। जो परापेक्ष है वह मेरा वैभव नहीं, मेरा स्वरूप नहीं, परापेक्ष होने पर भी यद्यपि परिणमन जीवका जीवमें है, वह कहीं कर्म से नहीं आया मगर कर्मके अभावमें यदि विकार होने लगे तो विकार सदा रहेंगे, स्वभाव बन जायेंगे, सो वहां यह निरखना कि मैं रागादिकसे रहित हूं, स्वरूपको देखकर चिन्तन करना है, पर परद्रव्यके सम्पर्कमें यह मैं अन्य प्रकार हो गया हूं। जैसे किसी कुलीन घरका लड़का, ऊंचे घरानेका, उत्तम आदतका, बढ़िया बोलने वाला, आज्ञाकारी सबका आदर करनेवाला, और लड़केको कोई कुसंग मिल जाय और वह व्यसनी बन जाय, पापाचरण करने लगे, उद्ण्ड हो जाय तो उसके माता-पिता यही कहते कि

मेरा लड़का ऐसा नहीं है, यह आदत तो इस दूसरे खोटे लड़केसे आयी है, तो ऐसे ही ज्ञानी पुरुष निरखता है कि मेरेमें जो रागादिक विकार जगे हैं सो वह कर्म कलंकका स्वभाव है, मेरेमें विकार करनेका स्वभाव नहीं है। सो भेद विज्ञानके बलसे कल्याण चाहने वाले पुरुषोंको अपने स्वरूपके निकट उपयोग ले जाना चाहिए।

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मियसंजदेसु अणुरत्तो ।

सम्मत्तमुव्वहंतो क्षाणरओ होइ जोई सो ॥५२॥

योगीजनोंकी देव, गुरु, भक्ति व साधु संयमीमें अनुराग—योगी पुरुष कैसा होता है इसका दिग्दर्शन इस गाथामें किया है। जो देवके भक्त है, रागादिक दोष रहित अनन्त ज्ञानादिकसे सम्पन्न ऐसा जो परमात्मस्वरूप है उसमें भक्ति करने वाला जीवका आदर्श है देव। जैसे किसीको संगीत सीखना है तो संगीत सीखने वाला किसी लोक प्रसिद्ध संगीतज्ञके प्रति ध्यान रखता है कि मुझको तो ऐसा बनना है। जैसा हमको बनना है उस ओर दृष्टि होना यह कहलाती है देवकी भक्ति। हमको क्या होना है? तो कर्म से मुक्त, केवल स्वयं ही स्वयं आत्मस्वरूप रहे, ऐसी स्थिति पाना है। वह स्थिति है भगवानकी। सो वह भगवान आदर्श है और योगी गुरुमें भक्त होता है। प्रत्येक मनुष्य का कोई न कोई गुरु होता है। किसीको भी अपना हितकारी मार्गदर्शक समझकर उस पर विश्वास रखता है। तो कैसा गुरु हो? जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्यसे युक्त हो। ऐसे गुरुमें वह अनुरागी है और साध्वर्मीजनोंमें, संयमीजनोंमें वात्सल्यभाव रखने वाला है। जिसको साधर्मियोंसे द्वेष करनेकी आदत पड़ी हो, दोष निरखनेकी आदत हो वह योगका लक्षण नहीं है। ऐसा वात्सल्यभाव जगता है योगी को कि जिससे यह प्रकट होता कि जिस तत्त्वको हम चाहते हैं वह तत्त्व जहां जहां है वहां वहां उसको विश्वास होता है और प्रेम उमड़ता है। तो योगी पुरुष देवभक्ति, गुरु-भक्ति और साध्वर्मी संयमीजनोंमें अनुरागी होता है, तो वह सम्यक्त्वको निर्मल करता हुआ ध्यानमें रत होता है।

सम्यग्दृष्टिका सम्यक् अष्टाङ्ग प्रवर्तन—सम्यग्दर्शनके जो ८ अंग कहे उनका व्यवहारिक ढंग भी जहां नहीं है वहां अन्य आशा कैसे की जा सकती है? जिनेन्द्र देवके वचनोंमें शंका न होना, धर्म धारण करके सांसारिक सुखोंकी आशा न रखते हुए किन्हीं साधु संतोंको निरखकर उनसे ग्लानि न करते हुए, उनकी सेवामें उमंग रखना, ये सब सम्यग्दृष्टिके लक्षण हैं जिन्हें देखकर हमको अनुमान बनता है कि यहां सम्यक्त्व

है। जो किन्हीं कुगुरुवोंके द्वारा कोई चमत्कार दिखाया जानेपर भी मोहित नहीं होता है और रत्नत्रयरूप धर्मको ही मोक्षमार्ग मानता है। यह सम्यग्दृष्टि दूसरेमें कोई दोष हो साधर्मीजनोंमें तो उनको तो वह छुपाता है, याने लोगोमें, समाजमें उनको प्रकट नहीं करता। उसका कारण क्या कि प्रकट करनेसे लोगोंकी श्रद्धा धर्मसे उठ जायगी। जब ऐसे बड़े ज्ञानी धर्मात्मा पुरुष भी ऐसे रहा करते हैं तो धर्मवर्म कुछ चीज नहीं, वह तो केवल कहने भरकी बात है, इस प्रकारकी श्रद्धा लोगोंमें न जगे इसके लिए सम्यग्दृष्टिका उपगूहन अंग होता है, पर साथ ही जिसमें दोष हो उसे सम्बोधन करनेका, उसे सन्मार्ग में लगानेका प्रयास करते हैं। तथा वह अपने गुणोंमें बढ़ता है, सम्यग्दृष्टिके लक्षण बता रहे हैं। बाहरसे हम कैसे समझें कि इनके भीतर ज्ञानप्रकाश जगा है? कोई पुरुष धर्मसे चिग रहा हो तो उसे तनसे सेवा करके, मनसे उसके सभी उपचार करके, शरीर से सेवा करके और भी जो कुछ साधन जुट सकते हों उनको जुटा करके धर्ममें स्थिर कराते हैं। ये सब बाह्य लक्षण बता रहे हैं, जिस सम्यग्दृष्टिमें ये बाह्य लक्षण भी प्रकट न हो रहे हों तो उससे अंतरंग लक्षणकी बात कैसे जानी जा सकती है? ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषको साधर्मीजनोंमें निष्कपट वात्सल्य होता है और उस निष्कपट वात्सल्य की उपमा दी है गाय बछड़ेकी। जैसे गायको बछड़ेसे प्रीति है मगर उस बछड़ेसे गाय कोई आशा रखती है क्या अपने सुखकी? कहीं गायको यह आशा है क्या कि मेरा मुझे घास लाकर खिलायेगा, मेरी सेवा करेगा? अरे सेवा करनेकी बात तो दूर जाने दो, वह तो बड़ा होनेपर सींगोंसे मार-मारकर भगायगा, मगर गायको कैसा उस बछड़े पर प्रीति है कि यदि बछड़ा नदीमें गिर जाय तो वह गाय भी नदीमें गिर जाय, तो जैसे गायको अपने बछड़ेसे निष्कपट प्रीति है इसीप्रकार साधर्मीजनोंका सम्यग्दृष्टि साधर्मीजनोंमें निष्कपट वात्सल्य होता है। ज्ञानी पुरुष दूसरेके दोषोंको नहीं निरखते, दोषमय तो संसार है ही, उन दोषोंसे अलग होकर गुणोंकी आराधनामें लग रहा है सो उसको साधर्मीजनोंमें गुण ही दिखेंगे, और वात्सल्य बढ़ेगा, दोषदृष्टि न करेगा और अपने आचरणसे, अपने ज्ञानप्रकाशसे ज्ञानकी प्रभावना करना ये सम्यग्दृष्टिके बाह्य लक्षण हैं।

सम्यग्दृष्टिके अंतरंगका परिचय—सम्यग्दृष्टि पुरुष अंतरमें क्या कर रहा है? अपने स्वरूपको निरखकर निःशंक रह रहा है अब उसे कोई भय नहीं सताता। अपने आपको कष्टरहित ज्ञानमात्र परिपूर्ण निरखकर एक संतोष होता है कि मेरेको कुछ

करनेको है ही नहीं बाहर । और मैं परिपूर्ण हूं, अधूरा होता ही नहीं, फिर करनेका विकल्प क्यों करना ? ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपको देखकर निशंक रहता है । उसे अपने ज्ञानस्वभावके अतिरिक्त कुछ भी चाह नहीं है । समस्त बाह्य तत्त्वोंको वह अपने लिए बेकार देख रहा । कोई भी बाह्य पदार्थ मेरा क्या लाभ पहुंचा सकता है ? परका संसर्ग अशान्तिका कारण तो बन जाता, पर शान्तिका कारण नहीं होता । उसको धर्मात्मा-जनोंकी सेवा करते हुए मैं ग्लानि नहीं आती, क्योंकि प्रेम ही गुण है । जैसे मां को बच्चेपर प्रेम है तो बच्चेके नाक भी बहती है, कपड़ोंमें टट्टी पेशाब भी कर देता है पर वह मां उस बच्चेको नालीमें तो नहीं फेंक देती । बल्कि वह तो अपनी साड़ीसे बड़े प्यार पूर्वक नाक पौछती, उसकी टट्टी साफ करती । वह घृणा क्यों नहीं करती ? इसलिए कि उसको उस बच्चेके प्रति अनुराग है । ये अनुरागके लक्षण होते हैं, तो सम्यग्दृष्टिको भी अपने साधर्मी संत जनोंपर अनुराग है तो उनकी सेवा करनेमें कभी कोई ऐसी व्याधि हो जाय, दस्त आने लगे, लार बहने लगे, खून आने लगे, कोई फोड़ा सड़ जाय तो भी जैसे मां को बच्चेसे इस स्थितिमें भी ग्लानि नहीं होती, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष ज्ञानी पुरुषसे ग्लानि नहीं करते, और अंतरंगमें क्या कर रहे कि कर्मोदय जो कुछ भी आ रहे हैं, जो भी कषायके अक्स पड़ रहे हैं, क्षुधा तृषा आदिकके जो भी इसपर दुःख आ पड़ते हैं उन दुःखोंमें यह आकुलित नहीं होता, क्योंकि वह जान रहा है कि यह दुःख कर्मकी माया छाया है, मैं तो सहज आनन्दस्वरूप हूं । इस ज्ञानी पुरुषने अपने स्वरूपका दृढ़ अनुभव किया और सहज आनन्दका अनुभव किया जिसके कारण अब यह किसी भी जगह धर्मप्रसंगमें बहकता नहीं है और सत्य वह जानता कि धर्म तो यह है, धर्म तो यह मैं स्वयं हूं, अपने दोषोंको देख देखकर ज्ञानभावके बलसे दोषोंको दूर करनेका इस ज्ञानीका प्रवर्तन होता है । अपनेको जब कभी भी धर्मसे विचलित पाता है तो स्वरूपचिन्तन करके अपनेको धर्ममार्गमें स्थिर करता है । गुणोंमें इसको प्रीति है, अपने आपके गुणविकासकी इसके भावना है, ऐसे सम्यक्त्वको प्रकट करता हुआ यह योगी ध्यानरत होता है । काम है केवल एक आत्मध्यानका । ऐसी जिसकी धुन केवल एक आत्मस्वरूपकी है वह कहलाता है योगी ।

उगगतवेण्णणी जं कम्मं खवेदि भवहि बहुएहिं ।

त णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहत्तेण ॥२३॥

ज्ञानीके कोटिभवान्तरवद्ध कर्मोंका अन्तर्मुहूर्तमें नाश हो जानेका कारण—ज्ञानी पुरुष

दिगम्बर भेष रखकर भी और बड़े ऊँचे-ऊँचे तपश्चरण करके भी लाखों करोड़ों भवों तक मानो तपश्चरण करे, ऐसा योगी मिलता नहीं किसीको, पर एक अनुमान अलंकार से ज्ञानीकी विशेषता बतला रहे, करोड़ों जन्म तप तपनेपर भी अज्ञानी पुरुषके जितने कर्म झड़ पाते हैं उतने कर्म तो ज्ञानी जीवके क्षणमात्रमें आत्मदृष्टि और गुप्तिके बल से सहज ही झड़ जाते हैं। मोटर चलाने वाला कुशल ड्राइवर चलानेका पेंच है उसी को मरोड़ता है, मोटर चल जाती है और उसके विषयमें अनभिज्ञ है, अंजान है तो वह कभी कोई पेंच मरोड़ेगा कभी कोई, यों मोटर खराब भी हो जायगी। मानो चल भी गई तो वह या तो किसी गड्ढेमें पटक देगा या एक्सीडेंट कर देगा। तो ज्ञानी और अज्ञानीमें सर्वत्र इसी प्रकारका फर्क मिलेगा। ज्ञानी पुरुष जानता है कि कर्मोंके दूर करनेका तंत्र यह है, क्या है? अपने आपको अविकार ज्ञानस्वभावमात्र निरखना, स्वभावदृष्टि करना और अपने आप अपनी सत्तासे अपनेमें जो भाव स्वभाव हो उसका ध्यान करिये इस प्रकार ज्ञानीने अविकार ज्ञानस्वभावमात्र अपनेको माना और उस रूप आचरण कर रहा, उसका प्रताप है कि भव-भवके बाँधे हुए कर्म स्वयं ही झड़ जाते हैं। कोई यह उपाय तो जाने नहीं और व्रत, तप, उपवास, १०-१०, १५-१५ दिन तक का उपवास, बड़ी कठिन-कठिन साधनायें ये सब करते हुए भी ये कर्मक्षयके पेंच नहीं है जो इससे कर्मक्षय पा लें, मगर जैसे मोटरमें केवल एक चलानेका ही पेंच हो तो बात तो नहीं बनती, अनेकों उसमें यंत्र होते, जिनके बीच सुरक्षित रहते हुए उस एक पेंचसे मोटर चलती है। तो ऐसे ही व्यवहारधर्म शील तप व्रत आदिकसे अपने आपको सुरक्षित रखते हुए एक स्वभाव दृष्टिके पेंचसे अपने आपको मोक्षमार्गमें चलाना है। कहीं भी जावो, किसी भी पदमें रहो, श्रावक हो तो, मुनि हो तो, गरीब हो तो, धनिक हो तो, इज्जतवान हो तो, जिसकी इज्जत न हो ऐसा हो तो, सबके लिए मोक्ष-मार्गका एक ही उपाय है आत्मस्वभावमें आत्मत्वकी दृष्टि रहना।

धर्मपालनके विषयमें आत्मनिरीक्षणका अनुरोध—अपने ज्ञानस्वरूपको जानना-मानना कि मैं यह ही हूँ, और ऐसे ही स्वरूपको देखकर केवल ज्ञातादृष्टा रहना यह हो एक तंत्र है जिससे कर्मोंका विध्वंस होता है, सो इसके लिए क्या कुछ रुचि है? अगर इस ज्ञानसाधना या इस ज्ञानप्रसारके लिए रुचि नहीं जगती तो जैसे रुचि जगी हो वैसा फल मिलेगा। अगर ज्ञानमें रुचि जगी हो तो केवल ज्ञान मिलेगा, अगर ईंट भींट सोना चांदी आदिक जड़पदार्थोंमें रुचि जगी हो तो जड़ता मिलेगी, ज्ञानहीनता

मिलेगी, दुर्गतिगमन मिलेगा। सो यह तो बड़ा चेतनेका भव है, परिवारके लिए तो आपका सारा त्याग चलता है और सब हिसाब बनाते हैं—तीन हजार रुपया महीनेका खर्च, चार हजार रुपया महीनेका खर्च, और कहते कि इससे कममें गुजारा ही नहीं होता। मगर अपने आपकी दयाके लिए, अपनेको ज्ञानमार्गमें स्थिर रखनेके लिए हम आपने तन लगाया, मन भी लगाया, धन भी लगाया क्या ? जो इस तत्त्वज्ञानका रुचिया होगा वह वर्षमें दो-एक बार बड़ी-बड़ी दूर भी जायगा, कितना ही खर्च हो जाय पर बड़ी उमंगसे वह तत्त्वज्ञानकी बात सीखकर संतोष मानता है, कोई ज्ञानी-ध्यानीजन मिलें तो उनकी सेवा सुश्रुषा करनेमें किसीका यह विचार जगे कि यह तो सब लोगों का काम है, हम अकेले क्यों इनकी सेवा सुश्रुषाके लिए खर्च करें, साधर्मी योगी मुनि जनोंके प्रति तो इस प्रकार विचारें और अपने घरमें बसने वाले दो चार प्राणियोंके प्रति अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व अर्पित करनेके लिए तत्पर रहें तो बताओ यह कहां का न्याय है ? यह तो एक विकट मोहकी, अज्ञानताकी बात है, हां जितना अनुराग अपने परिजनोंके प्रति किया जाता उतना अगर साधर्मी ज्ञानी साधु संतोंके प्रति किया जाय तब तो समझा जाय कि इन्हें ज्ञानमें अनुराग है, नहीं तो बाहरी और धर्म करनेके अनेक उद्देश्य होते हैं। उनमें प्रथम उद्देश्य होता है नामवरीका। ऐसा ऐसा त्याग करके नाम होता है, इस प्रकारका भाव रखकर कोई धर्म करे तो समझो उसे आगे कुछ लाभ नहीं मिलनेका, क्योंकि तुरन्त ही अपना नाम लिखाने आदि क्रिया कराके उसका फल पा लिया। किसी बातकी चाह रखकर अगर कोई किसी चीजका त्याग करे तो वह वास्तविक त्याग नहीं है, हां ज्ञान और ज्ञानियोंके प्रति वात्सल्य रखकर जो कुछ त्याग किया जाता है वह है वास्तविक त्याग। सो ज्ञानकी धुन बनावें और ज्ञानके अर्जनके लिए प्राण भी अर्पण करने पड़ें तो भी सहर्ष स्वीकार करें। ऐसा ज्ञानस्वभावका ध्यान करने वाला पुरुष योगी कहलाता है।

सुभजोगेण सुभावं परदब्बे कुणइ रागवो साहू ।

सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु बिबरीओ ॥५४॥

इष्टविषयरगसे अज्ञानिताकी व्यक्ति—जो साधु शुभ पदार्थके समागमसे रागवश परद्रव्यमें प्रीतिभाव करता है वह अज्ञानी है और जो परद्रव्यमें राग नहीं करता, अपने आत्माके स्वभावको ही हितरूप मानता वह ज्ञानी है। जो ज्ञानके स्वरूपको ज्ञानमें ले सो ज्ञानी और ज्ञानस्वरूपके सिवाय दुनिया भरके पदार्थोंको ज्ञानमें ले, उनकी ओर

आकर्षण करें सो अज्ञानी । जीव केवल भावमात्र है, बस ज्ञान करे, न किसीको भी जाने, जानना ही इसका एकमात्र काम है, पर कुछ द्रव्योंको जाननेका यह जीव प्रयास करता है, परद्रव्योंमें ही बहुत सी बातें समझनेकी कल्पनायें करता रहता है । तो इसके दुःखका मूल कारण यह है कि इस ज्ञानने अपने स्थानको छोड़कर अन्य स्थानमें लगाव लगाया है, जैसे कि मछली अपने जलका स्थान छोड़कर बाहर फिक जाय तो वह तड़फेगी, ऐसे ही यह ज्ञान आत्मा अपनी जगहको उपयोगसे छोड़कर बाहरी पदार्थोंमें उपयोग लगाये तो उसका फल नियमसे कष्ट ही है । तो इस कष्टसे बचनेके लिए जितने भी ज्ञानी हैं, चाहे गृहस्थ हों, चाहे मुनि हों, यह निर्णय रखते हैं, यह प्रयास करते हैं कि मेरा उपयोग किन्हीं बाह्य बातोंके ख्यालमें न जाय और उस ज्ञानमय अपने आत्मद्रव्य को निगाहमें रखता रहूं तो यह उपयोग अपनी जगह फिट हो जानेसे शान्त सुखी आनन्दमग्न रहता है और बाहरी पदार्थोंमें उपयोग डालता है तो वहां फिट तो बैठ नहीं सकता, क्योंकि यह उपयोग है उसका और बैठाल रहा है परपदार्थमें तो वहां यह फिट नहीं बैठता इसलिए यह झकोर लेता है, व्यग्र होता है और कष्ट मानता है, इससे जो भी पुरुष परद्रव्यमें प्रीति करता है वह अज्ञानी है और जो अपने आपके स्वरूपको जानता है कि यह मैं ज्ञानमात्र आनन्दमय यह हूं स्वयं वह अपनेमें संतोष पाता है, उसे ज्ञानी कहते हैं ।

आसबहेदु य तहा भाव मोक्षस्स कारणं हवदि ।

सो तेण दु अण्णाणी आदसहावा दु विवरीवो ॥५५॥

आसबहेतु व मोक्षकारण एवं मोक्षलाभका आधार भाव—यह जीव जैसा स्वरूप है वैसा ही अकेला होता तो इसको कोई कष्ट नहीं रहता, देखिये ऐसे सिद्ध भगवान हैं । जिस आत्माका जितना जो स्वरूप है वही मात्र रह गया, अन्य कुछ साथ नहीं है, यह है सिद्ध भगवानका स्वरूप और उनको कोई कष्ट नहीं । तो जैसा स्वरूप सिद्ध भगवान के प्रकट हुआ है वैसा स्वरूप मेरेमें अब भी है, पर वह ढका है, प्रकट नहीं हो पाता । तो जब मेरा स्वरूप ढका है तो बाहरी विषयोंमें लग रहा है खुद तो इसके ज्ञानमें आ नहीं रहा और जाननेका इसका स्वभाव है तो यह परद्रव्योंको जान जानकर और रागभावके कारण उनमें इष्ट और अनिष्टकी कल्पनायें करता है सो जैसे इष्टविषयका राग कर्मके आश्रवका कारण है ऐसे ही मोक्षका भी राग कर्मके आश्रवका कारण है । यहां बहुत सूक्ष्मतासे बात कही जा रही है, ज्ञानी पुरुष जिसने आत्मस्वरूपको जाना,

यह हूं मैं ज्ञानमात्र, तो इस ज्ञानके फलमें उसकी यही वृत्ति चलेगी कि अपनेको ज्ञान-मात्र रूपसे बस निरखता रहे और ऐसा ही अनुभव करता रहे, उसके अन्य विकल्प न होंगे, और इस ज्ञानमात्र भावनाके फलमें मोक्ष हो जायगा उसका, पर वह मोक्षकी आशा नहीं कर रहा, इच्छा नहीं कर रहा, लोकके अन्तमें जो सिद्धालय है उसपर भी आकर्षण नहीं कर रहा वह तो अपने ज्ञानमात्र स्वरूपको निरख रहा है। ज्ञानीकी असली वृत्ति यह कहलाती है, जिसको अपने ज्ञानस्वभावका परिचय नहीं वह बाहरमें यह मोक्ष है, यह लोकके अन्तमें है, यह ऐसा-ऐसा करनेसे मिलेगा इन विकल्पोंको करके मोक्षका राग बना रहा है, पर ज्ञानी जीव जैसे बाह्य पदार्थोंका राग नहीं बनाता ऐसे ही वह मोक्षका भी राग नहीं बनाता। वह अपने स्वभावको ही निरखता है और उसके फलमें स्वयं मोक्ष मिल जाता है। तो जो रागभाव लाये सो अज्ञानी है और जो आत्म-स्वभावमें लगे सो ज्ञानी है, याने रागको न करनेका इतना कठिन आदेश दिया है कि तुम मोक्षका भी राग मत करो, अन्यके रागका तो अत्यन्त निषेध है ही। मोक्षका भी राग मत करो, किन्तु अपने आपको स्वभावमात्र देखो।

स्वभावोपलब्धिमें धर्मपालन—धर्मपालन वास्तवमें किसे कहते हैं? मंदिर आये, स्वाध्याय किया, पूजाकी, गुरुप्रसंग किया, त्याग, दान, व्रत आदिक किया, सब कुछ भी करते गए मगर अभी वह धर्मपालन नहीं कहलाता। वास्तवमें धर्मपालन है अपने आपको ज्ञानमात्र ही निरखते रहनेमें। मैं अन्य कुछ नहीं हूं, अन्य कुछ भी मेरा कार्य नहीं है, जो मेरा स्वरूप है उसे ही देखें, स्वरूपसे अपने आपका जो परिणमन है उस रूप परिणमे, यह है धर्मपालन। किन्तु ऐसा धर्मपालन जिसके नहीं बन पा रहा और चाह रहा कि मेरे धर्मपालन हो, वास्तवमें उसको ये बाहरी रागद्वेष ममता आदिक सता रहे हैं, तो उन व्यसनोंको दूर करनेके लिए तत्काल यह उपाय है कि मंदिर आवें, दर्शन करें, स्वाध्याय करें, शास्त्र सुनें, गुरुसेवा करें, व्रत, शील, संयमसे रहें, तो यह पापकी बात भीतर न आयगी। सो यह व्यवहारमें जितना भी हम धर्म करते हैं उससे हमने एक अपना व्यूह बना लिया, एक किला बना लिया, हम उस व्यवहार धर्ममें रहकर सुरक्षित हो गए कि हममें अब पापके भाव न आयेंगे। इतना तो फायदा मिला इस व्यवहार धर्मसे मगर कर्म जो कटेंगे और भीतरका विकार संस्कार जो मिटेगा सो वह मिलेगा आत्मस्वभावकी दृष्टिसे और अनुभवसे, इसलिए वास्तवमें धर्म है आत्मस्वभाव का अनुभव। तो यह जीव बस आत्मस्वभावके अनुभवके पुरुषार्थमें रहता है वह न बाह्य

पदार्थका राग करता है और न उसके मोक्षविषयक राग है ।

धर्मपालनके विषयमें अज्ञानी और ज्ञानी पुरुषोंकी वृत्ति—रागभावके कारण ही जीव अज्ञानी है, और जो आत्मस्वभावमें लगा है वह ज्ञानी है । जैसे कि बहुतसे लोग धर्म मार्गमें लगे ही हैं और मोक्षकी चर्चा करते हैं कि मुझे तो मोक्ष चाहिए, अन्य कुछ न चाहिए, ऐसी भावना भी रहती है और बहुत-बहुत इन धर्मके कामोंमें समय भी देते हैं और कदाचित्त घरसे थोड़ी भी खबर आ जाय कि तुम्हारा लड़का घरमें फिसल कर गिर पड़ा है तो उनका वह धर्म कर्म सब वहीं धरा रह जाता है, झट छोड़कर घर पहुंचते हैं । तो यह घटना इस बातका प्रमाण है कि उनका जितना भी समय धर्मपालनमें लगता है वह सब एक मनोविनोदके लिए समझिये, वहां धर्मपालन कुछ न था, अन्यथा उसे क्षोभ न होता, और जो पुरुष आत्मस्वभावकी दृष्टिमें रहता है और अपने को अविकार ज्ञानस्वभावमात्र निरखनेकी धुन बनाये रहता है वह कदाचित्त गृहस्थीमें भी रहे और उसको ऐसी घटना सुननेमें आये तो भी साधारणतया भले ही कुछ कर्तव्य करेगा पर अन्तरंगमें वह क्षुब्ध नहीं होता और तत्काल तो उसे ऐसा लगता है जैसे कि मोही जीवको कुछ अन्य घटना सी लगती है । उसे भी वह अन्य घटनाकी तरह मानता है । तो यहां यह बतला रहे कि रागभाव किसीका भी हो वह कर्मका आश्रय करायगा । तो मोक्षका कारण क्या रहा ? निर्विकल्पसमाधि, और ज्ञानस्वरूप आत्मा ही ज्ञानमें रहना यह मोक्षका कारण है । मोक्षकी चाह मोक्षके पानेका कारण नहीं है । मोक्षकी चाह तो बाधक है मोक्षके मिलनेमें । मोक्षकी चाहसे मोक्ष मिलना बंद रहता है और मोक्षकी भी चाह न करके एक ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको ज्ञानमें बनाये रहना यह मोक्ष का कारण बनता है । हां इतना अन्तर है कि घर वैभव, स्त्री पुत्र, समाज मित्र आदि का राग बंधका कारण है और मोक्षका राग पुण्य बंधका कारण है, इतना तो अन्तर आ जायगा क्योंकि घरकी ओर अब उसकी दृष्टि नहीं रही और मोक्षकी तरफ उसकी चाह बन रही, सो पुण्यबंध तो हो जायगा, पर मोक्ष न मिलेगा । मोक्ष तो तब मिलेगा जबकि मोक्षकी चाह भी न हो, केवल अपने स्वभावकी ओर ठहरे उससे मोक्ष प्राप्त होता है, सो जो किसी भी विषयका राग करता है वह अज्ञानी है और जो निर्विकल्प समाधिरूप आत्मस्वभावका उपयोग रखता है वह ज्ञानी है ।

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खड्डूसयरो ।

सो तेण दु अण्णाणी जिणत्तासणदूसगो भणिदो ॥५६॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

स्वभावज्ञानमें दूषण थोपनेवालेको जिनशासनदूषकता—ज्ञानको आप तीन प्रकारोंमें देखें—एक तो हैं कर्मजन्यज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान जो ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होते, तो एक तो यह ज्ञान और एक भगवानका केवल-ज्ञान, वह कर्मके नाशसे हुआ और तीसरा देखिये आत्मामें शाश्वत् एक रूप रहने वाला ज्ञानस्वभाव सो दूषित ज्ञान कौन है इन तीनमें से ? वह कर्मजन्य ज्ञान, जो हम आपको होता है । मतिज्ञान कर्मजन्य ज्ञान हैं, उसमें कमियां हैं, अधूरा-पन है, एकदम साफ प्रत्यक्ष नहीं है कल्पनारूप भी है, पर जो भगवानका केवलज्ञान है वह है निर्दोषज्ञान । उसमें दोष नहीं है, जैसा ज्ञानसामर्थ्य है जीवमें वहीका वही पूर्ण प्रकट हुआ है, और तीसरा कहा है ज्ञानस्वभाव । वह तो न मलिन था, न मलिन है और न मलिन होगा, वह तो शक्तिरूप है, तो जो जीव कर्मजन्य मतिज्ञानमें तो घमंड करता है, मैं ज्ञानी हूं, समझदार हूं, मैंने बहुत ज्ञान कमाया है, मरे सन्मान कोई ज्ञानी नहीं । सो इस कर्मजन्य ज्ञानमें तो गौरव करता है और केवलज्ञानका खण्डन करता या भगवानको दोष लगाता या प्रभुके स्वरूपका मजाक करता, या आत्माकी मान्यता के बारेमें भी मजाक करता वह पुरुष अज्ञानी है और जैन धर्ममें भी अगर वह उत्पन्न हुआ है तो वह उसका दूषक ही है, वह जैनधर्मका उपासक नहीं है, जैसे यहां भी कितने ही लोग जैन कुलमें उत्पन्न हुए, जो चाहे चीजें खायें पियें, अक्षय अभक्ष्यका कोई विचार नहीं करते, रात्रि भोजन भी करते और साथ ही शुद्ध आचरणसे रहने वालोंका मजाक भी करते हैं जैसे वह देखो बड़े ऊंचे भगतजी आ रहे हैं... तो ऐसा कहने वाले लोग जैनधर्मके दूषक हैं ।

धर्माचरणविहीन उद्दण्ड मनुष्यके मिथ्यात्वकी तीव्रता—जहां इतनी स्वच्छंदता आ गई कि धर्माचरण तो रंच भी न करे और धर्माचरण करनेवालोंका मजाक करें तो समझिये कि उसमें जैन धर्मका कोई अंश नहीं । कोई बालक पिता की भी मानो उपेक्षा करता हो या उसकी कोई आज्ञा न मानता हो फिर भी यदि थोड़ी बहुत आन है, पिताके प्रति उसमें श्रद्धा है तब तक तो वह सम्हल सकता है और जब आन ही खतम हो गयी तो उसका सम्हलना कठिन है, ऐसे ही आजकलके नवयुवक जो कि रात्रिभोजन करना पसंद करते हैं, अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन करना पसंद करते हैं वे पुरुष दूसरोंका मजाक भी खूब करते हैं साधुजनोंका, अच्छे श्रावकजनोंका या सदाचारसे रहने वालों का, तो आप यह अंदाज करें कि उन युवकोंका मन कितना स्वच्छंद हो गया कि वे

जैनधर्मके तत्त्वकी भी मजाक करते हैं। तो जो जैनधर्मके तत्त्वोंका, प्रभुके स्वरूपका मजाक करते हैं वे जैनधर्मके दूषक हैं, उनका उद्धार होना कठिन है। हां तो ज्ञान दो तरहसे कहा—(१) इन्द्रियजन्य ज्ञान और (२) आत्माके स्वभावसे, आत्माके सहारेसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान। केवल ज्ञान तो आत्माके सहारेसे ही होने वाला ज्ञान है और ये दुनियाभरके ज्ञान ये इन्द्रियसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान हैं। तो इनमें दूषित ज्ञान तो इन्द्रियजन्य ज्ञान है मगर जो केवलज्ञानका निषेध करे, अजी किसके हो सकता है ऐसा ज्ञान कि जो सारी दुनियाको जाने या प्रत्यक्ष रहे सब गपोंन बात है। कहां हैं प्रभु? कौन है भगवान? अपने आपमें उसको ऐसी चतुराईका भ्रम हो गया है कि अपनेको बड़ा चतुर मानता है। केवलज्ञानका निषेध करता है, तो ऐसा पुरुष अज्ञानी है और वह जैन शासनमें दूषण लगाने वाला है। पहले लोग होते थे कोई जैनशासनका व्रत ज्ञान न निभा सके तो अपनी कमजोरी मानते थे कि मैं धर्ममें कहे अनुसार नहीं चल पा रहा हूं, मगर आज जो स्वच्छंदता बनी है, वे धर्मके अनुसार चलते भी नहीं और धर्म के अनुसार जो चलते हैं उनकी मजाक भी करते, तो उनमें ऐसी स्वच्छंदता जो आयी है वह प्रबल मिथ्यात्वको जाहिर करती है कि उनके तीव्र मिथ्यात्वका उदय है।

णाणं चरित्तहीणं वंसणहीणं तवेहि संजुत्तं।

अण्णेषु भावरहियं लिगगहणेण किं सोक्ख ॥५७॥

भावरहितके लिङ्गग्रहणकी व्यर्थता—चारित्र्यरहितज्ञान सुख करनेवाला नहीं है या कहो कि उसको ज्ञान ही नहीं कहते, जिसको ज्ञान हो जाय कि यह आग है वह आगसे नियमसे हटेगा ही आगको वह जेबमें न रखेगा, मगर छोटे-छोटे बच्चे जिन्हें आगका ज्ञान नहीं वे तो आगको अपने हाथसे पकड़ भी लेते हैं, तो ज्ञानका कार्य यह है कि जो छोड़ने योग्य चीज है उसे छोड़ दे और जो ग्रहण करने योग्य चीज है उसे ग्रहण करले और किसी समय सच्चा ज्ञान जगनेपर भी पूरी तरहसे न छोड़ सके तो छोड़ देते हुए की मुद्रामें रहता है। जैसे कोई पुरुष किसीसे झगड़ रहा भ्रमवश तो वह हाथसे दृढ़ पकड़कर बात करता है। और जब जाना कि वह मेरा कोरा भ्रम है, इसका कोई अपराध नहीं है तो वह उसके हाथको ढीला कर देता है। भले ही थोड़ा छुवा हुआ है मगर ढील दिए हुए है, ऐसे ही जो ज्ञानी इन बाह्य पदार्थोंका त्याग नहीं कर पाया अगर उसके चित्तमें उनसे उदासी है, उनकी दृढ़ पकड़ नहीं है सो कुछ-कुछ त्याग जरूर है उसका भी, मगर कुछ भी त्याग न हो अहितका तो समझिये कि उसको ज्ञान

ही नहीं जगा है । तो जो चारित्रहीन ज्ञान है वह लाभदायक नहीं है, इसीप्रकार जो सम्यक्त्व रहित तप है वह भी लाभदायक नहीं है । कोई-कोई लोग तो बड़े कठिन तप करते हैं, बहुत दिनों तक एक ही पैरसे खड़े रहते, खड़े-खड़े ही किसी वृक्षसे टेक लेकर सो लेते, और-और भी कितने ही प्रकारके तप किये जाते, ठीक है कितने ही बड़े-बड़े तप कर लिए जायें, पर सम्यक्त्वहीन होनेपर वे सब तप व्यर्थ हैं, कुतप हैं, उनसे मोक्ष नहीं पाया जा सकता । इसी प्रकार जितने भी हमारे व्यवहार धर्मके कर्तव्य हैं वे अगर भावरहित किये जा रहे हैं तो उनसे कोई लाभ नहीं है, तो ऐसे ही समझिये कि कोई मात्र निर्ग्रन्थ दिगम्बरका भेष धारण करले और भीतर न भाव है, न सम्यक्त्व है, न ज्ञान है तो उसका वह भेष भी कार्यकारी नहीं है । यहां मुनियोंको उपदेश है, कुन्द-कुन्दाचार्यदेव कह रहे हैं कि अपने आत्मस्वभावकी भावना बनायें तो यह मुनिपद सार्थक होगा और आत्मस्वभावकी भावना नहीं है, बाहरमें ही लग रही है तो इस भेषसे कोई लाभ होनेका नहीं है ।

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी ।

सो पुण णाणी मणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥५८॥

अचेतनको चेतन व चेतनको ज्ञानरहित मानने वालोंकी अज्ञानिता— जो अचेतनको भी आत्मा मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतनको आत्मा मानता है वह ज्ञानी है । जैसे शरीरको माने कि यह मैं हूं तो ऐसा मानने वाला अज्ञानी है, दार्शनिक विधिमें चलें तो चार भूतोंके मिलनेसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके मेलसे चेतन जीव बन जाता है, ऐसा जो मानता है वह अज्ञानी है, और भी दार्शनिक दृष्टिसे चलें तो जो आत्मा को चेतन तो मानता है, पर ज्ञानवाला नहीं मानता वह भी अज्ञानी है । तीन तरहकी बात कही गई है—(१) पहली बात जो देहको माने कि यह मैं हूं, वह अज्ञानी, ऐसे जो दुनियामें प्रायः सभी लोग पड़े हुए हैं, और जो चार भूतोंसे जीवकी उत्पत्ति मानते हैं वे हैं चार्वाक । जो जीवको अलग नहीं मानते, किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनका संयोग हो गया तो उससे जीव निकल आते हैं । तीसरे लोग हैं सांख्य, जो आत्माको तो कहते कि आत्मा चेतन है, पर उसका स्वरूप ज्ञान नहीं है, जानन नहीं है । ज्ञान-स्वरूप है प्रधानताका, अजीवका, उस अजीव पदार्थसे परिणतिसे ज्ञान निकलता है, और उस ज्ञानका आत्मामें सम्बंध जुड़ता है तब आत्मा जानने वाला बनता है, तो इसने भी आत्माको अचेतन मान लिया मायने ज्ञानशून्य मान लिया । तो ये तीनों ही अज्ञानमय

हैं, अब इनका परिहार देखिये जो लोग मानते हैं कि यह देह जीव है, यह देह मैं हूँ तो वह मिथ्या है या नहीं ? प्रकट दिखता कि जीव इस शरीरको छोड़कर निकल जाता है, देह यहीं पड़ा रहता है । अगर देह ही जीव होता तो जीवके निकलते ही इस जीव के साथ देह भी उड़ जाता, मगर ऐसा तो नहीं होता, देह यहीं पड़ा रह जाता, जीव निकल जाता, तो इससे प्रकट सिद्ध हो जाता कि जीव न्यारा है और देह न्यारा है, लक्षणसे भी ये जीव और देह दोनों अलग-अलग हैं । शरीरका लक्षण है पुद्गल रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड । और आत्माका लक्षण है ज्ञानदर्शन । तो जो देह जीवको एक गिनै बहिरातम तत्त्व मुधा है ।

भूतसमुदायको चेतन मानने वालोंकी अज्ञानिता—अब दूसरी चर्चा देखिये—जो लोग मानते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन ४ के संयोग होनेसे जीव पैदा हो जाता जैसे कि पानी गर्मी आदिकके संयोग होनेसे बिजली पैदा हो जाती । तो उनकी भी बात देखिये कि यदि इन चार चीजोंके मिलनेसे जीव पैदा होने लगें, जीव क्या—घोड़ा, बैल, हाथी, शेर, सूकर, गधा, कीड़ा-मकोड़ा आदिक तो रसोईघरमें तो आफत आ जायगी । कैसे कि मानो मिट्टीकी हांडीमें कोई खिचड़ी पका रहा हो तो उस समय देखो मिट्टी (पृथ्वी) भी है, जल तो उस हांडीमें भरा ही है, अग्नि भी नीचेसे खूब तेज जल रही और हवा भी वहां खूब भरी है तभी तो उसके ऊपर रखा हुआ ढक्कन उछला-उछला फिर रहा तो अब उस रसोईघरमें चारों चीजें इकट्ठी हो गईं ना ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, फिर तो वहां पर हाथी, घोड़ा, शेर, चीता, बाघ, आदि अनेकों जानवर उत्पन्न हो जाने चाहिये, क्योंकि तुमने इन चारों चीजोंके मिलनेसे जीवकी उत्पत्ति मानली, पर ऐसा तो नहीं देखा जाता । तो फिर तुम्हारी यह बात ठीक न रही कि इन चार चीजोंके संयोगसे जीव उत्पन्न होता है । अरे इनके संयोगसे जीव उत्पन्न नहीं होता, जीव स्वतंत्र सत् वाला पदार्थ है और ये पृथ्वी, जल आदिक ये सब एक पुद्गलमें ही सामिल हैं । तीसरी चर्चा थी कि आत्मा तो माना और उसको चेतन भी कह रहे, पर ज्ञान नहीं है उसमें ज्ञानके सम्बंधसे आत्मा जानता है, पर ज्ञानस्वरूप नहीं है जीवका । उसने भी चेतन आत्माको चेतन मान लिया, सो भला सोचो कि ज्ञान न हो जिसका स्वरूप वह आत्मा कैसा । ज्ञानस्वरूप रहित भी कोई आत्मा होता है क्या ? सो यों जो अचेतनको चेतन माने, चेतइता माने, देखने जानने वाला माने वह अज्ञानी है, और जो चेतनको ही चेतइता माने वह ज्ञानी है । मैं-मैं तो सभी कहते हैं, पर उस मैं का

सही पता नहीं है प्रायः कि मैं किसको कह रहे ? उन्होंने तो इस देहको मैं कहा, जो कुछ पर्याय मिली है उसे मैं कहा, पर वह मैं नहीं हूं, मैं हूं एक ज्ञानमात्र पदार्थ ।

तवरहियं ज णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।

तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥५६॥

तपरहित ज्ञान व ज्ञानरहित तपकी अकृतार्थता—जो ज्ञान तपसे रहित है वह ज्ञान व्यर्थ है और जो तप ज्ञानसे रहित है वह तप व्यर्थ है । तब क्या होना चाहिए ? ज्ञान और तपसे युक्त होना चाहिए । जो पुरुष ज्ञान और तपसे युक्त हो वही निर्वाणको प्राप्त करता है । तपरहित ज्ञानअकार्यकारी है, कोई कहे कि ज्ञानसे मोक्ष होता है, मुझे ज्ञान हो गया और प्रवृत्ति भी ऐसी रखे कि जो चाहे जब चाहे खाये पिये, जरा भी कष्ट सहना पसंद न करे तो ऐसा जीवन गुजरे तो वह जीवन तपरहित जीवन है । जिसको ज्ञान हो गया कि मैं आत्मा भोजनपान पुण्यपापसे रहित हूं वह फिर विषयोंमें क्यों प्रीति करेगा ? आत्माका स्वरूप चैतन्यमात्र है । भोजन करे तो आत्माकी सत्ता रहे ऐसी बात नहीं है, वह तो मनुष्यपर्याय पायी या और पर्यायपायी तो शरीरका ढांचा ऐसा रहता कि ये खाये बिना जीवन नहीं रहता, मगर जीवका जो स्वरूप है वह तो सर्व विकारोंसे जुदा है, भोजनपान आदिक उसमें कुछ भी ऐब नहीं होते । तो जो ज्ञान तपरहित है वह ज्ञान व्यर्थ है और जो तप ज्ञानरहित है वह तप व्यर्थ है, इससे ज्ञान और तपश्चरण इन दोनोंसे युक्त होना चाहिए । ज्ञान तो देवोंको भी हो जाता मगर तपश्चरण और संयम उनमें नहीं है तो निर्वाण उन देवोंका नहीं होता । कर्मभूमिया मनुष्यके ज्ञान भी है और तप भी है तो उसका निर्वाण होता है । इन सब बातोंको सुनकर तो क्या बोध लेना कि वर्तमानमें जो धन वैभव पाया उसको नगण्य कुच्छ मानना, उससे मेरे आत्माका सम्बंध क्या ? भले ही आज दुनियामें जिसके पास धन है उसको लोग आदरसे देखते हैं मगर आदरसे देखने वाले लोग भी मायारूप हैं और बाह्य धनसे अपनेको महान मानने वाले भी मायारूप हैं, परमार्थ दोनों ही नहीं है, परमार्थ तो आत्माका चैतन्यस्वरूप है । तो बाहरी पदार्थोंको महत्त्व न देना और जिसके पास धन आता है वह पुण्योदयसे आता है, और नहीं रहना है पास, पापका उदय है तो उसके जानेके अनेक बहाने हैं । तो धन वैभव पास रहा तो उससे आत्माको क्या लाभ और न रहा तो उससे आत्माको क्या हानि ? यदि ज्ञान अपने आत्माकी सुध नहीं रख रहा, बाहरी-बाहरी विकल्पोंमें ही दौड़ रहा तो उस समागमसे अहित ही तो बना,

लाभ कुछ न मिला, और न मिला समागम तो उससे आत्माको नुकसान कुछ नहीं हुआ, पर उनके प्रति अज्ञानभाव रखा तो वह कर्मबंध करेगा। इससे ज्ञानभाव जगा रहेगा तो आपत्तियोंसे दूर रहेंगे और ज्ञानभाव न जगा तो आपत्तियोंसे दूर नहीं हो सकते।

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरण ।

णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥

जैसे तीर्थंकरका मोक्ष नियमसे होगा यह सब जानते हैं और जब गर्भकल्याणक मनानेके लिए देव देवियां आते हैं, गर्भ कल्याणक मनाते हैं, जन्म कल्याणक मनाते हैं ऐसे गृहस्थावस्थाके अतिशयोंसे भी यह बात प्रसिद्ध है कि वह कोई महान आत्मा है और वह उसी भवसे मोक्ष जायगा। तो जो तीर्थंकर उसी भवसे मोक्ष जाते हैं वे तीर्थंकर भी तपश्चरण करते हैं। प्रत्येक तीर्थंकरोंने दीक्षाके बाद किसीने बेला, किसीने तैला, किसीने बहुत अधिक दिन उपवास रखा, तो तपश्चरणकी महिमा यहां कह रहे हैं कि जो तीर्थंकर हैं, जिनको उसी भवसे मोक्ष जाना है वे भी तपश्चरण करते हैं, ऐसा जानकर ज्ञानयुक्त पुरुषोंको अपनी शक्ति माफिक तपश्चरणमें लगना चाहिए। किसी भी प्रकारका तपश्चरण हो, छोटा हो कैसा ही हो फिर भी इच्छा पर कंट्रोल तो किया उसने। इच्छाको दूर किया। तो कोई पुरुष अपनी इच्छा पर तो संयम न रख सके और बहुत-बहुत असंयममें रहे और दूसरा कोई संयममें चले तो उसका मजाक करे तो वह एक असंयमप्रिय पुरुष कहलायगा। देखिये संयम मनुष्यभवमें ही मिलता है, अन्य भवोंमें नहीं मिलता। तो अब मनुष्यभव पाया है, इसे पाकर भी यदि संयम में न रहे तो वह उसकी एक बड़ी भूल है। वह शरीरसे अधिक लगाव लगाये है, उसको ममता देशकी बहुत है तो वह जीव मरकर खोटी गति ही पायगा। सो जब तक इस शरीररूपी कुटीपर मरणरूपी अग्नि न लग पाये, याने जब तक यह शरीर है तब तक यथाशक्ति उपवासका अभ्यास करना, तीन बार खाते हो तो दो बार रखलें, दो बार खाते हो तो एक बार रख लें, कभी उपवास करें तो उपवाससे जो एक आत्मामें शक्ति जगती है सो उससे भव-भवके कर्म कट जाते हैं।

कर्म और कर्मफलके लगावमें कष्ट ही जानकर कर्म व कर्मफलसे विविक्त आत्मस्वरूपमें उपयोग लगानेका अनुरोध—इस जीवके साथ जो ये कर्म लगे हैं, ये कर्म ही इस जीवके दुःखके कारण हैं, वे कर्म सूक्ष्म पुद्गल हैं, उनका विपाक होता है तो उसका एक प्रति-

फलन याने उसका सारा नाटक आत्मामें झलकता है और यह जीव उसमें बह जाता है और अपने स्वरूपको कोई पहिचानता हो कि मैं तो ज्ञानमात्र स्वरूप हूं, अन्य रूप हूं, मेरा काम ही अपने स्वरूपकी सुध रखना है। जो स्वरूपकी सुध रखेगा वह संसार से पार होगा, जो स्वरूपसे बेसुध रहेगा वह संसारमें जन्म मरणके चक्र लगाता रहता है। इससे पुण्यके उदयमें समागम पाया है तो उसमें हर्ष मत मानो और उसकी तृष्णा मत बढ़ावो क्योंकि वे बाहरी पदार्थ हैं, उनसे मेरे आत्माका कल्याण नहीं है और कदाचित् निर्धनता आयी हो तो उसमें विषाद मत मानो और अपनेको कायर भी मत बनाओ। अपने स्वरूप वैभवको देखो कि मेरा स्वरूप तो सिद्ध प्रभुके समान है अब कर्मोदयवश यह अन्तर पड़ा है सो यह अन्तर स्थायी नहीं है, यह मिटने वाला है और उसका जो स्वरूप है वह अमित है। अपने स्वरूपकी ओर आयें तो इसमें आपका सच्चा बड़प्पन है। और धन वैभव मायामें ही अगर अपना लगाव बनाये रखा तो उसके फल में संसारका परिभ्रमण ही चलता रहेगा, जीवको कल्याणका मार्ग न मिल पायगा।

बाहरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्भो ।

सो सगचरितभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥६१॥

अन्तरङ्गभावरहित बाह्यलिङ्गवेषीकी चरित्रभ्रष्टता व मोक्षपथविनाशकता—यह मोक्षपाहुड़ नामका ग्रन्थ है, इसको कुन्दकुन्दाचार्य देवने रचा जिसमें साधुवोंको सम्बोधन किया जा रहा है। हे साधु यदि बाह्यलिङ्ग तो रखा पर अन्तरङ्ग लिङ्ग न रहा तो तुम अपने चारित्रसे भ्रष्ट हो गए और मोक्षमार्गका विनाश करने वाले हो गए। बताया है कि साधुवोंके २४ प्रकारके परिग्रहोंका त्याग होना चाहिए। वे २४ परिग्रह क्या? तो १० तो होते हैं बाह्य परिग्रह और १४ होते हैं अन्तरङ्ग परिग्रह। बाह्य परिग्रह खेत, मकान, धन, धान्य, दासो, दास, कपड़ा, बर्तन, चांदी, सोना हैं। इनका त्याग करके ही तो दिगम्बर भेष मिला है, और अन्तरङ्ग परिग्रह क्या है? क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, राग, द्वेष। सो किसीने बाहरी परिग्रह तो त्याग दिया और अन्तरङ्ग परिग्रहको नहीं त्यागा तो वह भीतरमें मलिन रहा और ऊपरसे दिगम्बर भेष रहा, उसको मोक्षकी सिद्धि नहीं होती। मोक्षकी सिद्धि वह ही साधु पायगा जो १० प्रकारके बहिरंग लिंगके साथ अन्तरंग लिंग हेतु भी पालनमें रखे। मदकषाय, निरन्तर आत्मदृष्टि, तो ऐसे अन्तरंग परिग्रहके त्याग पूर्वक जिसके २४ परिग्रहका त्याग है वह निर्वाणको प्राप्त होता है।

बाह्यपरिग्रहत्याग व अन्तरङ्गपरिग्रहत्याग दोनोंकी उपयोगिता—कुछ लोग यह चर्चा रखते हैं कि बाह्यपरिग्रहके त्यागसे क्या होता, अन्तरंग परिग्रहका त्याग रहना चाहिए। तो कुछ लोग यह कहते कि अन्तरङ्ग परिग्रहका त्याग हो, बाह्य परिग्रह त्यागनेसे क्या होता है? मगर ये दोनों परस्पर एक दूसरेको बढ़ावा देने वाले हैं। बाह्य परिग्रहका त्याग हो तो अन्तरङ्ग परिग्रहके त्यागकी भी बढ़वारी होती है और अन्तरङ्ग परिग्रह के त्यागकी भावना हो तो बाह्य परिग्रहका त्याग विधि पूर्वक होता है। इससे हे साधु दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे दूर रहो और अपने भेषको सच्चा बनाओ। जैसे धानका चावल होता है तो उसमें एक तो ऊपरका छिलका होता है और फिर खुद चावलके ऊपर भी थोड़ा सा मैल रहता है जिसमें मशीन द्वारा पालिस देनेसे साफ चावल निकलता है, तो इसमें बताओ पहले धानका छिलका उतरता है या वह पालिस? तो प्रायः करके सभी लोग यही कहेंगे कि पहले धानका ऊपरी छिलका निकलता है बादमें उसके भीतरका मैल। तो जैसे धानका छिलका उतरे बिना चावलके ऊपरकी ललाई नहीं साफ होती, ऊपरका छिलका पहले उतरना जरूरी है ऐसे ही साधुके बाह्यपरिग्रहका त्याग हुए बिना अन्तरङ्ग परिग्रहका त्याग नहीं बनता। कोई यह न सोचे कि पहले मुझे सम्यग्दर्शन हो जाय तब मैं संयम पालूँ। अरे इसका ऊपरसे कुछ पता नहीं पड़ता कि सम्यग्दर्शन हुआ या नहीं, हां अगर कुछ तप व्रत संयममें रहता है तो उसके प्रताप से कर्ममलमें सिथिलता आने लगती है और जब वे कर्म दूर होते हैं तो इसके रत्नत्रय प्रकट हो जाता है। इससे पहले ज्ञान करना या त्याग, इनमें कोई नियम नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि एक विधि यह भी है कि पहले ज्ञान करे पीछे त्याग करे और एक विधि यह भी है कि पहले त्याग करे पीछे ज्ञान करे। यदि कोई कहे कि मुझे जब सम्यग्ज्ञान जगेगा तब चारित्र्य पालूंगा तो समझो कि उसको न तो अभी ज्ञानमें रुचि है और न चारित्र्यमें। तो मनुष्यको जितना ज्ञान मिले उसीके आधारपर व्रत, तप, संयममें बढ़ना चाहिए।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।

तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२॥

तपश्चरण किये जानेके कारणका विवरण—तप क्यों करना चाहिए उसका कारण यहां बतला रहे। जो ज्ञान सुख में रहकर उत्पन्न किया है, यदि उस जीवपर कोई दुःख आ पड़े तो वह ज्ञान नष्ट हो सकता है, क्योंकि उसने तो सुखसे, आरामसे ऐशसे

रहकर ही ज्ञानका सम्पादन किया तो कभी कोई कष्ट आये तो उसका ज्ञान मिट सकता है, इस कारण योगी पुरुष अपनी शक्ति अनुसार आत्माको दुःखसे छुड़ाये जाने तपश्चरण करें, एक मोटी सी मिसाल ले लो कि जब साधु हो गए तो ऐसा भी मौका पड़ सकता है कि एक दो दिन आहार न मिले, सही विधि न मिले तो वह उस भूखको बर्दास्त न कर सकेगा, बड़ा बेचैन हो जायगा, कितने ही पाप कर्म बांध लेगा, मोक्ष मार्गसे भ्रष्ट हो जायगा, इससे उसे पहले ही उसका अभ्यास कर लेना चाहिए। पहलेसे अभ्यास होनेके कारण उसे कष्ट न होगा। जो पहलेसे ही उपवास करके अभ्यास बना रहा था उसको अगर कोई बाधा आ जाय, दो एक दिन आहार न मिले तो चूंकि उसने तपश्चरणसे सब सीख रखा था तो ऐसे प्रसंगपर उसे कष्ट न आयगा। यदि आहारका योग न मिले दो एक दिन तो वह आरामसे समय काट लेगा, और आत्मदृष्टि करके अपनेको सुखी अनुभव करेगा। तो इस गाथामें यह बतला रहे कि सुखसे पाया हुआ ज्ञान दुःख आनेपर नष्ट हो जाता है, इस कारण कुछ न कुछ दुःखका जाने तपश्चरण का प्रसंग बनाये रहे तो वह कभी कोई उदयसे कष्ट आयगा तो उस कष्टमें स्वरूपसे विचलित न हो सकेगा, इस कारण ज्ञानी जीवोंको दुःखका कहो, तपश्चरणका कहो अभ्यास बनाये रखना चाहिए। मतलब यह है कि इस जीवनको ज्ञानमय और तपश्चरणमय बनावें, अपनी मलिनता मिटावें तो इस विधिसे मोक्षमार्ग मिलेगा।

आहारासण्णिहाजयं च काऊण जिणवरमएण ।

झायव्वो जियअप्पा णाऊणं गुरुपसाएण ॥६३॥

आहारविजय करके आत्माका ध्यान करनेकी प्रेरणा—योगीजनोंको उपदेश किया गया है कि आहार, आसन और निद्राविजयको करके जिनवर मतके अनुसार गुरुके प्रसादसे अपने आत्माका ध्यान करना चाहिए। सर्वप्रथम लिखा है आहारपर विजय करना, मायने एक जीवनके लिए ही आहार किया जा रहा है। कहीं आहारके लिए कोई जीवन नहीं है, तो जीवनके लिए जितना आवश्यक आहार है उतना ही करना विशेष नहीं, कम खाना यह है आहारविजय, आहारविजयसे क्या लाभ है? प्रमाद न जगेगा, खोटेभाव न जगेगे क्योंकि थोड़ा जो भी आहार किया है सो धर्मबुद्धिसे किया है वह धर्मबुद्धि आगे भी चलेगी। और, फिर स्वास्थ्य रहेगा, तो आवश्यक है कि आहार विजय करे। बहुत भरपेट खाने वाले लोग खानेके बाद पड़े ही रहते हैं, उनका किसी काममें मन नहीं लगता और इसके साथ ही भावोंमें भी प्रमाद आ जाता है तो सर्व-

प्रथम उपदेश किया है कि आहारपर अपना विजय करें, आहारविजयके बाद बड़ी आसानीसे वह सब मार्ग मिलेगा जिसपर चलकर आगे बढ़ता है। आहार विजयमें यह भी भाव है कि रागसे आहार मत करो। बहुत बढ़िया स्वादिष्ट आहार करके खुश होना, उसमें अपना गौरव समझना, चतुराई जानना, ये सब बातें न होना चाहिए, तो आहारविजयसे भावोंकी शुद्धि बढ़ायें।

आसनविजय करके आत्माका ध्यान करनेकी प्रेरणा—आहारविजयके करने वाले योगी आसनोंकी स्थिरता भी कर सकते। खूब देखा समझा होगा कि अधिक आहार करने पर फिर आसन स्थिर नहीं रह सकता। थोड़ा आसन बन गया फिर बदल गया तो आसनकी स्थिरता अधिक भोजन करनेमें नहीं है, अन्तर्भर्जन करके आसनपर विजय प्राप्त करें, आसनोंमें दो आसन मुख्य हैं—(१) पद्मासन और (२) षड्गासन। इन दोनों में विशेषता क्या है? पहली विशेषता यह है कि इसमें शरीर सीधा रहता है, श्वास-नली सीधी रहती है और सीधे रहनेसे श्वासका चलना सहज बन जाता है। वहां कष्ट नहीं होता है, और फिर श्वासको जिस अंगमें रोकना चाहें वह प्रक्रिया भी सहज बन जाती है, ध्यानकी सहयोगी हैं ये दोनों बातें। दूसरी विशेषता यह देखें कि हाथकी हथेली और पैरका तलवा ये दोनों लगनेसे, भिड़नेसे कुछ रोक होना, ख्याल होना, कुछ मौज होना, ये सब बातें जगती हैं। हाथका ऊपरी हिस्सा यह अगर अंग पर लगे तो उसमें कुछ रागादिक नहीं जगते हैं। कोई किसीको पकड़ता है तो हथेलीसे ही पकड़ता है। किसीका अनुराग विशेष स्पर्शसे बने तो हथेलीके स्पर्शसे बनता, हाथका जो ऊपरी हिस्सा है इसके स्पर्शसे रागादिकका जगना नहीं होता सो पद्मासनकी मुद्रा देखलो न तो हथेलीने कोई अंग छुवा और न पैरके तलवोंने कोई अंग छुवा। सभी अंग अपने सोये हुए से पड़े हुए हैं। और यही बात खड्गासनमें मिलती है, लम्बे हाथ ये हथेली को छू नहीं रहे हैं, पगल नीचे पड़ा है, तो यह भी खास विशेषता है इन दो आसनों में कि जिन हाथोंके स्पर्शसे कुछ प्रीति जगती है वह स्पर्श नहीं हो पाता, फिर उन आसनोंको माड़कर बहुत देर तक स्थिरतासे उसी आसनसे रहना यह कुछ शारीरिक शक्तिपर भी निर्भर करता है और मानसिक शुद्धिपर भी निर्भर करता है, जिसका मन पवित्र नहीं है और यत्र तत्र रागादिक भावोंमें जाता है उसके आसनकी स्थिरता नहीं बनती है। तो परिणाम विशुद्ध करते हुए आसनपर विजय करें।

निद्रापर विजय करके आत्माका ध्यान करनेकी प्रेरणा—तीसरी बात यहां कही जा

रही है निद्रापर विजय करना । निद्रापर विजय करनेका अर्थ है हल्की निद्रा होना, जहां सावधानी सी बनी रहती है । योगीजन नींद लेते हैं, मुनिजन नींद लेते हैं । तो बताया तो यह है छठवां ७वां गुणस्थान कोई आधा-आधा मिनटमें बदलता रहता है, एक मिनट भी सायद पूरा न हो, बताया तो अन्तर्मुहूर्त और निद्रा है प्रमादकी चीज, पर आधा मिनटमें सोये, आधेमें जगे, ऐसी बात तो मुनियोंके भी नहीं देखी जाती और कल्पनामें भी नहीं आती कि कोई मुनि एक-एक मिनटमें जगे और सोये, जगे और सोये । तो मालूम होता है कि उनकी निद्रा इतनी हल्की होती है कि उसके बीच भी वे आत्माकी सुध बनाये रहते हैं । कभी-कभी हम आपके भी किसी समय ऐसी हल्की निद्रा होती है कि कुछ सोतेसे जा रहे हैं, बात भी सुनते जा रहे और बता भी सकते कि इसने ऐसा कहा । जैसे कोई अगर गाली देवे तो झट उसपर दृष्टि जाती कि इसने मुझे ऐसा क्यों कहा ? अरे तू सो तो रहा था, कैसे जान लिया ? तो वह हल्की निद्रा थी, तो इतनी हल्की निद्रा होती है जिसमें उनको आत्माकी सुध बनी रहती है । कम समयको निद्रा आती और निद्राका वेग हल्का रहता, यह है निद्राका विजय । और, उसके साथ ही साथ एक करवटसे सोना यह भी निद्रा विजयका ही अंग है । सो हे योगी इस प्रकार निद्राविजयको करके अपने आत्माका ध्यान करो ।

चरणानुयोगप्रक्रियासे प्रवर्तनकर आहारादिपर विजयकरके गुरुप्रसादसे तथ्यबोध पाकर आत्माका ध्यान करनेका उपदेश—आहारादि पर विजय कैसे हो ? तो जिनवरका जो सिद्धान्त है, चरणानुयोगकी जो प्रक्रिया है उस प्रक्रियासे प्रवृत्ति बनावें । सो निज आत्माका कैसे ध्यान करें ? तो पहले गुरुके प्रसादसे उसकी जानकारी बनावें । अपने आपकी जानकारीमें विश्वास नहीं, निशंकता नहीं, धोखा भी है, स्पष्टता भी नहीं, इसलिए गुरु प्रसादकी मुख्यता दी है । प्रसाद मायने गुरुकी ऐसी निष्कटपर सेवा करना कि गुरु प्रसन्न हों, और बात गुरु उपदेशमें बही कहता, पर जिस शिष्यपर प्रसन्न होगा उसको कहनेका वह ढंग होता है कि उसके चित्तमें वह सब ज्ञानमें आता रहता है, इससे गुरुप्रसाद पाना कल्याणार्थीके लिए बहुत आवश्यक है । सो गुरु प्रसादसे निज आत्माको जाने और फिर निज आत्माका ध्यान करना चाहिए ।

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेणसंजुदो अप्पा ।

सो ज्ञायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥६४॥

आत्माकी दर्शनज्ञानयुक्तता—आत्मा चारित्रसे सहित है, आत्मा दर्शनज्ञानसे सहित

है इस प्रकार आत्माको गुरुके प्रसादसे जानकर अपने अन्तस्तत्त्वका ध्यान करना चाहिए। यहां तीन गुण मुख्य बताये जा रहे—(१) दर्शन (२) ज्ञान और (३) चारित्र। दर्शनका अर्थ है कि इस आत्माको अपने आपमें अपनी झलक होना और ज्ञानका अर्थ है कि अनेक पदार्थ इसके ज्ञानमें आना। दर्शन और ज्ञानमें ऐसा अन्तर है जैसे कि किसी ऐनामें ये दो बातें देखी जाती हैं कि ऐनामें खुदकी झलक और सामने आये हुए पदार्थोंकी फोटो होती है ऐसे ही आत्मामें चेतनाभाव होनेसे खुदकी झलक जिस ही झलकके कारण इस आत्मामें बाहरी अनेक पदार्थोंका फोटो आता रहता है, ये दो गुण अनिवार्य हैं। इसमें भी अनेक दार्शनिकोंने भूलकी है। सांख्य सिद्धान्ती दर्शन जैसा स्वभाव तो मानते हैं चेतनका, पर ज्ञानस्वभाव जरा भी नहीं मानते। उनका कहना है कि ज्ञान होना आत्माका स्वरूप नहीं है। यह तो दूसरा जो अजीव पदार्थ है प्रकृति, प्रधान, उसका विकार है। अब कुछ समझनेके लिए कुछ अनेक दृष्टियां बनाइये, क्यों ऐसा उन्होंने कहा? पुरुष तो वह भी थे और सही जानना पसंद उनको भी था, पर ऐसा कैसे जाना गया कि आत्मामें चेतन तो है जैनदर्शनमें दर्शन गुणकी तरह, पर ज्ञान नहीं है तो उनकी दृष्टि यह रही, ज्ञान जितने होते वे पराधीन होते हैं, विकल्पमें होते हैं, जानकारीका भाव आत्मासे कुछ अलग सा जंचता है कि कोई बाहरका काम किया है। इन बातोंको कुछ थोड़ा ध्यानमें लेकर कहा है कि ज्ञान तो प्रधानका धर्म है, प्रकृति का धर्म है। और कुछ अंदाज करते हैं तो जैनदर्शनमें जैसे बताया कि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होनेपर ज्ञान होता है। क्षय होनेपर ज्ञान होता, उसे यहां न लीजिए। तब एक सांख्य सिद्धान्तमें ऐसा क्यों समझा गया, इसकी खोज करते चल रहे हैं तो वह ज्ञान प्रकृतिका धर्म बन गया। जैन दर्शनने भी मतिज्ञानानरण श्रुत ज्ञानावरणको प्रकृति नामसे कहा है, कर्मकी प्रकृतियां, तो प्रकृतिके क्षयोपशमसे हुआ तो वह प्रकृति-धर्म बन गया, ऐसा कुछ समझकर ज्ञानको प्रकृतिका धर्म माना, आत्माका स्वभाव न माना तो ऐसे दार्शनिक हैं कि जो आत्मामें ज्ञानस्वभाव नहीं मानते, हां दर्शन स्वभाव मानते। अच्छा अब ये दो बातें चल रही हैं कि स्वयंकी झलक और बाहरी पदार्थोंकी फोटो। जैसे कोई आदमी यह कहे कि ऐनामें स्वयंकी झलक है और फोटो जो है वह ऐनाका धर्म नहीं है किन्तु सामने जो पदार्थ आया उसका धर्म है, तो सुननेमें कुछ अच्छा लगता कि नहीं? तो इसी तरह वे इसमें बढ़ गए। तो कोई दार्शनिक ऐसे हैं कि जो आत्मामें दर्शन नहीं मानते और ज्ञानको मानते हैं, किन्तु उनके यहां दर्शनका कुछ नाम

ही नहीं है और ज्ञानस्वभाव रूप भी नहीं मानते किन्तु ज्ञान एक अलग पदार्थ है, आत्मा एक अलग पदार्थ है। ज्ञानका आत्मामें समवाय होता तब आत्मा जानता है, ऐसी कितनी ही धारणायें हैं सो उन सबका निराकरण इन विशेषणोंसे हो जाता कि आत्मा दर्शन और ज्ञानसे संयुक्त है।

दर्शनज्ञानमय चारित्रस्वरूप आत्माकी ध्यातव्यता—चारित्र क्या है ? तो देखो पहिले, इस आत्माने दर्शनसे क्या किया ? अपने आत्माकी झलक की। जो इस मर्मको नहीं पकड़ पाता वह अज्ञानी है, जिसने पकड़ लिया वह सम्यग्दृष्टि है, यह अन्तर तो हो जाता है मगर सभीका दर्शन चाहे मिथ्यादृष्टि हो चाहे सम्यग्दृष्टि हो, दर्शनसे आत्मा की झलक होती है। तो दर्शनसे ज्ञानीने अपने आत्माको झलकाया। और अब ज्ञानी यह समझकर कि बाहरी पदार्थोंमें ज्ञानको फंसाये, लगाये तो शान्ति नहीं मिलती, व्याकुलता होती है, इसलिए बाहरी पदार्थोंमें ज्ञान नहीं लगाना है किन्तु इस मुझ ज्ञान-स्वरूप आत्मतत्त्वको ही ज्ञानमें लेना है सो उसने ज्ञानमें यह आत्मस्वरूप लिया, सो ऐसा ही लिए रहे, ज्ञानमें ज्ञान ही समाया रहे, अन्य भावका अवसर न आने दे, ऐसी स्थितिको चारित्र कहते हैं। कहते हैं कि दर्शन, ज्ञान चारित्रसे कर्म कटते हैं। सो दर्शन ज्ञानके बारेमें तो कुछ सही बात कह लेते हैं और चारित्रके बारेमें व्यवहारीजनोंकी यह दृष्टि है कि ऐसा महाव्रत पाले, समिति पाले, तपश्चरण करे तो इस चारित्रसे कर्म कटते हैं, पर इस व्यवहारचेष्टासे कर्म नहीं कटते, वह व्यवहारचारित्र काममें तो आता है, अनुपयोगी तो नहीं है मगर किसका क्या काम है वह ठीक समझना चाहिए। ये व्रत, तप, समिति, अनशन आदिक जो कुछ भी तपश्चरण है ये कर्मक्षयका काम नहीं करते किन्तु व्यसन वासना, पापभाव इनको रोक देते हैं। तो इनका काम इतनेमें पूर्ण है कि कोई व्रत पाले, नियम पाले, तपश्चरण करे तो उस समय उसके इन्द्रियविषयों के भाव नहीं आते। तो इससे अब वह सुरक्षित हो गया योगी, मायने इन्द्रियविषयोंका आक्रमण नहीं हो रहा। अब उस स्थितिमें यह स्वभावदृष्टि करे, चारित्र पाले मायने ज्ञाताद्रष्टा रहे, ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समाया रहे तो यह है चारित्र और चारित्रसे कर्मका क्षय होता है। मोक्ष मिलेगा जिसको वह उसकी ही करतूतसे मिलेगा, दूसरेकी करतूतसे न मिलेगा। मोक्ष मिलता है आत्माको तो आत्माकी करतूतसे ही मिलेगा शरीरकी करतूतसे मोक्ष न मिलेगा। अतएव ये सब व्रत, तप, समिति आदिक ये तो ढालका काम करते हैं। जैसे कोई सुभट संग्राममें युद्ध करने जाय तो ढाल सलवार दोनों

को लेकर जाता है। भले ही आजके युद्धोंमें ढाल और तलवार न रही, गोली, बम आदिक हो गए, तलवारकी जगह और ढालकी जगह लोहेके कपड़े या कुछ यंत्र वगैरह, जिनके प्रयोगसे दूसरेका वार रुक जाय, ढंग बदल गया है, मगर ढाल और तलवार के बिना अब भी युद्ध नहीं कर सकता कोई। तो यह व्यवहार धर्म तो ढाल जैसा काम करता है कि पापकी वासनाको रोक दे। जब शुभोपयोग है तो वहां अशुभोपयोग नहीं रहता, शुभोपयोग करके अपनेको सुरक्षित और पात्रता बनाकर फिर अन्तः आत्म-स्वभावका ध्यान बनाये, स्वभावका आश्रय रखे तो उससे कर्मका क्षय होता है। तो आत्मा दर्शनज्ञानसे सहित है और चारित्रवान है, सो इस आत्माको गुरुके प्रसादसे जानकर नित्य ध्यान करना चाहिए।

गुरुप्रसादकी श्रद्धावालोंके आत्मसमर्पणके आदर्शका एक उदाहरण—एक अन्य सन्यासी-जनोंकी कथा है कि कोई गुरु और शिष्य थे, वे दोनों किसी जंगलमें ठहर गए। रात्रिका समय था, शिष्य सो रहा था, उस समय गुरुने देखा कि एक बड़ा काला नाग पासमें आया और वह बड़ी क्रोध भरी मुद्रामें फुंकार कर रहा था। गुरुने कुछ अपने ज्ञानबल से समझ लिया कि वह सर्प क्यों आ रहा था। जान लिया कि पूर्वभवके बैरवश यह हमारे शिष्यसे बदला चुकानेके लिए आ रहा, उस शिष्यको डसना चाह रहा, सो गुरु ने उस समय क्या किया कि उस शिष्यके चारों ओर कोई तीन-चार हाथकी दूरीसे रेखा खींच दी और कुछ मंत्रसा पढ़ दिया कि वह सर्प इस रेखाके अन्दर न आ सके। उधर सर्प और भी क्रुद्ध होकर उसकी ओर आया। गुरुने उस समय समझा कि यह डसेगा जरूर इस शिष्यको मानेगा नहीं, और मानो इस समय बचा भी दिया तो बाद में फिर भी बदला ले सकता है सो उस गुरुने क्या किया कि उस शिष्यकी छातीपर बैठ गया। शिष्य जग भी गया, अब रात्रिको छातीपर बैठनेका मतलब? शिष्य यह भी समझ सकता था कि गुरु मेरी हत्या करना चाह रहा, पर नहीं, उसको इतनी अटूट श्रद्धा थी गुरुपर कि यह हमारे लिए जो कुछ भी करेंगे सो भला ही करेंगे, यह विचार कर चुपचाप वह भक्त लेटा रहा और गुरुकी करतूत देखता रहा। गुरुने क्या किया कि किसी कांटेको शिष्यकी छातीमें चुभोया और कुछ दो-चार बूंद खून निकालकर एक पत्तेमें रखकर रेखाके बाहर धर दिया। आखिर वह सर्प पहुंचा और उस खूनको चाटकर अपना क्रोध शान्त किया और वापिस लौट गया। उधर शिष्यको साधुने सारी बात समझाया, यह सबकुछ हुआ, पर देखिये उस स्थितिमें भी आदिसे

अन्त तक उस शिष्यको गुरुके प्रति अनर्थ विषयक भ्रम नहीं हुआ, बल्कि श्रद्धा ज्योंकी त्यों बनी रही कि हमारे गुरु महाराज हमारे लिए जो भी करेंगे सो हमारे भलेके लिए करेंगे। तो जो कल्याण चाहने वाले पुरुष होते हैं उनको अपने गुरुवोंके प्रति अटूट भक्ति होती है और वे प्रसन्न होत हैं तो उस प्रसन्नताकी स्थितिमें सुगम सरल एक घरेलू बोल-चालसे वे शब्द निकलते हैं कि आत्मतत्त्वका ज्ञान वे बहुत आसानीसे पाते हैं। तो गुरु प्रसादसे इस दर्शन ज्ञान चारित्र्यमय आत्माको जानकर योगी पुरुष नित्य ही उसका ध्यान करें, अथवा गुरुके मायने पंच गुरु भी ले सकते, अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, उनके प्रसादसे आत्मारूपी प्रभुका लाभ होता है। सो उन सबमें भी प्रयोग विधिमें गुरुका पहला नम्बर है क्योंकि गुरुके प्रसादसे ही अरहंत सिद्ध प्रभु परमात्माका भी स्वरूप जाना जाता है। फिर गुरु प्रसादसे इस आत्मतत्त्वको जानकर इसका निरन्तर ध्यान करना चाहिए। मैं यह दर्शन ज्ञानस्वरूपी हूं ऐसी भावना रहेगी और अन्य भ्रम कुछ न रहेंगे तो उसके संकट उसी समय दूर हैं और फिर कर्मसंकट भी उसके टल जाते हैं।

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं ।

भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं ॥६५॥

आत्मज्ञानकी दुर्लभता व महिमा—यह आत्मा बड़े कष्टसे जाना जाता है मायने बड़ा दुर्लभ है आत्माका ज्ञान होना। अब तक अनन्तकाल खोया, पर इसका उपयोग पर पदार्थोंमें ही लगा रहा, इसने अपने आपकी सुध नहीं ली, और इस बेसुधीके कारण नाना कष्ट भोगे। कर्म भी उस ही प्रकारके बंधे जिसके उदयमें इसको एकेन्द्रिय दो-इन्द्रिय आदिक खोटी-खोटी दशावोंमें जन्म लेना पड़ा। यह सब एक नियोग है, निमित्त नैमित्तिक योग है कि आत्मा यदि अपनेको नहीं जान पाता है तो वह जाननेका स्वभाव रखता है ना? किसीको तो जानेगा। यह बाह्यको जानता है और बाह्यमें ही श्रद्धा रखता है और बाह्यमें ही रमता है। बड़े-बड़े वैभव प्राप्त हो जायें वह सरल है, राजपाट मिल जाय वह सरल है, पर आत्माका ज्ञान पाना कठिन है। एक दृष्टिसे देखो तो आत्माका ज्ञान पाना कठिन नहीं, क्योंकि आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है। अपने ज्ञानसे अपने आपको जान लेना कोई कठिनाईकी बात नहीं है, लेकिन दृष्टि इसकी विपरीत है सो इसको बाह्य परिग्रहोंका संचय करना तो सरल लग रहा और आत्मा का ज्ञान करना कठिन लग रहा, और शान्ति मिलेगी तो उसका आधार आत्मज्ञान है।

तो आत्माका ज्ञान पाना एक बड़ी कठिनाईसे होता है ।

आत्मभावनाकी दुर्लभता व महिमा—आत्माका ज्ञान हुआ, अब उसे जानकर आत्माकी भावना आना यह और भी कठिन बात है । आत्माका कुछ थोड़ा शब्दोंसे, कुछ भीतर सोचकर मननसे ज्ञान बन गया, पर यह भावना बनना कि मैं ऐसा ही जानूं, अपनेमें ही रमूं, स्वयंका स्वभावदर्शन होना यह ही उत्तम वैभव है, यह ही शरण है । मुझे बाहरमें कुछ न चाहिए, आत्मदृष्टि मेरी अचलित रहे, केवल यह ही मेरेको आवश्यकता है, क्योंकि आत्मदृष्टि अचलित हुए बिना आत्माका भला नहीं हो सकता । बाह्य परार्थोंकी भावना न रहे, अन्य पदार्थोंके परिग्रहकी बात न रहे, किन्तु एक अपने आपमें अपनी भावनाका ही उमंग उठता रहे यह बात और भी कठिन है । तो इसका आधार तो आत्मज्ञान है, पर आत्मज्ञान किए बाद फिर उस आत्माकी ही भावना बनी रहे यह आवश्यक होता है । सो यह आत्मज्ञानसे भी अधिक कठिन है, क्योंकि आत्मज्ञान करने वालोंकी संख्या जितनी हो उनमें आत्मभावना वालोंकी संख्या थोड़ी होती है और आत्मभावना किए बिना ये रागद्वेष नहीं सूखते, कर्मबंध दूर नहीं होता, सो आवश्यक है आत्मभावना । मैं यह हूं दर्शन ज्ञानस्वरूपी, सहज आनन्दमय, परभावोंसे रहित, अपने ही अपनेमें परिणमने वाला, अपनेको ही अपनेमें भोगने वाला । यह मैं चैतन्यमात्र आत्मा हूं, और यह मैं खुद आनन्दमय हूं, इस प्रकारकी बार-बारकी जो भावना है, अनुप्रेक्षा है, मनन है, यह आत्मभावना है । यह आत्मभावना आत्मज्ञानसे भी कठिन है ।

विषयविरक्तिकी दुर्लभता व हितकारिता—अब तीसरी बात देखिये वह कितनी कठिन है । जीवने आत्मज्ञान कर लिया, आत्मभावना भी भायी और अपने स्वभावकी बहुत भावना कर रहा मगर विषयोंसे विरक्त होना यह उससे भी कठिन है । विषयोंसे विरक्ति नहीं है तो यह आत्मभावना और यह आत्मज्ञान ये तो गजस्नानकी तरह बने कि जैसे हाथीने स्नान कर लिया उस समय तो वह ठीक हो गया, पर बाहर निकलकर अपनी सूंडसे अपने शरीरपर धूल भी डाल ली । सो आत्मज्ञान किया, आत्मभावना की लेकिन विषयोंमें फिर राग रहा, विषयोंसे विरक्ति न कर सका तो उसका इतना बड़ा पौष्ट्य कर लेना यह गजस्नानकी तरह हो गया । सो तीसरी बात यह कि विषयोंसे विरक्त होना यह और भी कठिन है । तो इससे यह जानना कि विषयोंसे विरक्त होने का आधार आत्मस्वभावकी भावना है और आत्मस्वभावकी भावनाका आधार आत्म-

ज्ञान करके आत्मस्वभावकी भावना बढ़ायें और आत्मस्वभावकी भावनासे ऐसा बढ़िये कि विषयोंका राग न रहे, सो जब विषयोंका राग न रहा ऐसी स्थिति आये, तब समझिये कि हमने मोक्ष मार्गमें अपना कदम बढ़ाया है ।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।

विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

विषयोंमें प्रवर्तन तक आत्माके ज्ञानकी अशक्यता—जब तक मनुष्य विषयोंमें प्रवृत्ति करता है तब तक समझिये कि आत्माका ज्ञान नहीं होता । जो विषयोंसे विरक्त चित्त है वही योगी वास्तवमें आत्माको जान रहा है । आत्माका जानना आत्मस्वभावकी भावना बनाना, इस स्वभाव विकासका होना और विषयोंमें प्रवृत्ति होना इन दोनोंका विरोध है । जो विषयोंमें प्रवर्तन करता है उसकी सुधमें आत्मा कहां है स्पष्ट ? तो विषयोंसे विरक्त होना यह परिचय है ज्ञानीका । कोई कितना भी ज्ञान करले और विषयोंसे बुद्धि विरक्त नहीं है तो लोग भी कहते हैं कि काहेका ज्ञान ? और वस्तुस्वरूप भी कहता है कि काहेका ज्ञान ? ज्ञानका फल तो यह है कि अहित दुःखदायी, संसार क्लेशको बढ़ाने वाले इन पञ्चेन्द्रियके विषयोंसे उपेक्षा हो जाय और आत्मस्वभावकी दृष्टि बने, और यदि यह ज्ञानका फल न पाया तो काहें का ज्ञान ? जैसे कोई आदमी पेड़ पर चढ़ता तो है, कुछ ऊपर चढ़ जाता है, जहां पर मधुर फल लगे हुए हैं उसके निकट तक भी पहुंच जाता है पर फलोंको हाथसे तोड़ नहीं पाता है याने उसके हाथ उन फलों तक नहीं पहुंच पाते हैं तो उसका वृक्षपर चढ़ना, न चढ़ना बराबर, क्योंकि फल तो वह पा ही न सका तो ऐसे ही विषयोंसे जब तक विरक्ति नहीं होती तब तक सही मायनेमें तो बात यह है कि उसने आत्माको जाना ही नहीं । जो कुछ जाना सो वह ढीली विधिसे ऊपरी ही जाना, पर अंतस्तत्त्वमें प्रवेश करके, अपने सहज आनन्द का अनुभव करके उसने नहीं जाना । सो हे योगी अपने आपमें परीक्षा कर कि तेरे विषयोंके प्रति रागभाव है या वैराग्यभाव है ?

स्पर्शन व रसनाके विषयरामें जीवकी हानि—विषयोंके रागमें इस जीवको मिलता कुछ नहीं, केवल वह अपना सब कुछ खो देता है । सभी इन्द्रियके विषयोंकी बात देख लो और मनके विषयोंकी भी बात देख लो । स्पर्शन इन्द्रियके विषयोंमें मुख्य कहते हैं रति काम, उसमें यह जीव अपने शरीरको बल खोता है, मनका बल खोता है, यह अपना सब कुछ खोता ही है, पर इसे मिलता कुछ नहीं, रसना इन्द्रियके वश होकर

बहुत-बहुत रसीली चीजें खाना, पौष्टिक चीजें खाना, स्वाद वाली चीजें खाना, यह सब चलता है पर लाभ उससे क्या होता सो तो बताओ ? हां खाना पड़ता है जिन्दगी रखनेके लिए और जिन्दगी रखी जाती है आत्मतत्त्वकी साधनाके लिए । अब रसना इन्द्रियके विषयके लोभमें आत्मतत्त्वकी साधना तो असम्भव ही है, पर अपनेको पूरी बड़ी उमर तक जिन्दा रखना भी असम्भव है, क्योंकि जो खानेका लोभी है उसके अनेक प्रकारकी व्याधियां, बाधाएँ ऐसी जड़ कर जायेंगी कि यह अपनी बांधी हुई पूरी आयु से भी जी न सकेगा और फिर रसना इन्द्रियके विषयके लोभमें आकर खूब खाया पिया तो उसका परिणाम क्या होगा ? प्रमाद आयगा, और व्याधियां होंगी, धन अधिक खर्च होगा, उसके कमानेकी चिन्ता करेगा । रात दिन खाने-पीनेके ही स्वप्नमें रहेगा, वह आत्माकी सुध कहां कर सकता ? तो रसना इन्द्रियके विषयके लोभमें यह अपना खोता ही है सब कुछ, किन्तु पाता कुछ नहीं है, यहां तक कि जीव रसनाविषय मोहमें अपने प्राण भी गंवा देते हैं । मछलीका दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि वह रसनाइन्द्रियके लोभमें आकर कांटेमें अपना कंठ फंसा लेती है और ढीमर उसे जलसे बाहर निकालकर मार डालता है । मनुष्योंकी बात देख लो तो रसना इन्द्रियके विषयके लोभमें उसी उसी ओर ही दिमाग बनाये रहते हैं, वे अपना कुछ विकास नहीं कर पाते ।

घ्राणेन्द्रिय व चक्षुरिन्द्रियके विषयके रागमें जीवकी हानि—घ्राणेन्द्रियके विषयकी बात देख लो, उससे भी इस जीवको क्या लाभ मिलता है ? थोड़ी सुविधायें मिल गईं, थोड़ा मन बहलावा अच्छा रहा, यह कोई नियम नहीं है कि सुगंधित पदार्थ सूंघता रहे तो उसका स्वास्थ्य अच्छा रहेगा । सुगंधित पदार्थोंमें भी कई सुगंध ऐसी भी होती हैं कि वे स्वास्थ्यको बिगाड़ने वाली होती हैं जिनका कि लोगोंको यों मोटे रूपसे पता नहीं पड़ता । और फिर उस गंधके लोभमें उसी मनोविनोदमें यह अपने आत्माकी सुध नहीं कर पाता और फिर गंधकी तृष्णाकी पूर्तिमें इसे कितना ही धन खर्च करना पड़े, शरीर का श्रम भी करे, मनको भी उसी ओर लगाये, समय भी अपना बेकार करे, जीव उससे लाभ कुछ नहीं पाता । हां शुद्ध वायुमें रहे, बस साधना करे अपने आत्मतत्त्वकी, पर विकल्प न करना सुगंधका । चक्षुइन्द्रियके विषयके लोभमें तो बड़ी-बड़ी दुर्दशाएँ होती हैं । मनुष्य जितना विपत्तिमें पड़ रहा है और व्यसनोंमें बढ़ रहा है तो हर एक व्यसनों के बढ़नेमें ये आंखें मदद देती हैं । आंखें पहले देखेंगी, देखनेके बाद फिर वह सुहायगा, फिर उसका पुरुषार्थ करेगा, मित्रायगा, प्रवृत्ति करेगा । सभी विषयोंकी प्रवृत्तिमें ये

आंखें बड़ी मददगार बनती हैं, ये हमारे इस जीवनको एक उन्मार्गमें ले जानेका कारण बनती हैं, देखनेसे इस जीवने क्या लाभ पाया ? देखना तो दो बातोंके लिए जरूरी है, एक तो किसी जीवकी हिंसा न हो जाय, दूसरे साधुओंके, देवोंके, जिनवाणीके, साध-मियोंके, त्यागियोंके दर्शन हों, सत्संग सा बने और आत्मकल्याण हो, इसके अतिरिक्त और कुछ देखनेका क्या मतलब ? जैसे मानो घर-घर टेलीविजन हो गए और उसमें कितने ही कथानक, ड्रामा और संगीत आदिकी मनोरंजक चीजें देखते हैं । आज तक मान लो कई वर्षोंसे देखते आ रहे, पर आज तक कुछ सुख जोड़ पाया हो तो बताओ ? सनीमा तो इससे भी गए बीते हैं, कितने ही लोग तो रोज-रोज या बीचमें दो एक-दिन छोड़-छोड़कर सनीमा देखते हैं, उन सनीमा देखने वालोंकी सनीमा देखनेके बाद मुद्रा देखो, उनसे पूछो कि तुम्हें क्या लाभ हुआ है ? तो लाभ कुछ नहीं बता सकते, होता ही नहीं लाभ, बल्कि मन खराब किया, उपयोग गंदा किया, पापकर्म बांधा और उसका फल बुरा होगा । तो चक्षुइन्द्रियका विषय इस जीवको बड़ा अहितकारी बन रहा है ।

कर्णेन्द्रियके विषयके रागमें जीवकी हानि—अब कर्णेन्द्रियकी बात सुनो अच्छा राग सुना, प्रेमकी बात सुनी, पापकी बात सुनी, उसीमें दिल लग रहा, यहां वहां की निन्दा की बात सुन रहे, चित्त बड़ा खुश हो रहा, गप्पोंमें सारा समय जा रहा, आनन्द मान रहे, पर इसके फलमें आत्माको मिला क्या ? कहां तो इन कानोंका उपयोग करना चाहिए था जिनवाणीका श्रवण करनेके लिए, जिससे कि आत्माको लाभ मिलता, भेद विज्ञानकी बात आती, संसारमें अनेक घटनायें होती रहती हैं अनुकूल प्रतिकूल, इष्ट अनिष्टकी, यह उनमें धैर्य रखता, भेद विज्ञान करता, पर बाहरी बातोंमें इन कानोंका उपयोग लगानेसे इसने अपना समय व्यर्थ खोया । अरे इस जगतमें न मालूम कब क्या हो जाय । जिस लड़के पर बड़ा विश्वास है वही लड़का कहो अपना कट्टर दुश्मन बन जाय, ऐसी स्थितिमें भी ज्ञानी पुरुष घबड़ायागा नहीं, वह जानता है कि इस लड़केका जीव मेरेसे बिल्कुल भिन्न है, स्वतंत्र है, यह अपनी कषायके अनुकूल अपनी चेष्टा कर रहा है । यह तो वस्तुका ऐसा ही परिणमन है, मेरे आत्माका उससे क्या बिगाड़ ? मेरा आत्मा परिपूर्ण अपने आप बना हुआ है । मेरा जो कुछ होनेका है वह मेरेसे ही होनेका है । तो भेद विज्ञानकी बात जिनवाणीके श्रवणसे मिलती और उससे आगे मार्ग में बढ़कर ध्यान बनाते तो उससे भला था, मगर व्यर्थकी बात, गप्पोंकी बात सुननेमें

राजी हो रहा है यह मनुष्य तो यह अपना सब कुछ खो रहा है ।

मनोविषयके रागमें जीवकी हानि—अब देखिये मनका विषय । यह मनका विषय तो बड़ा ही भयंकर है । मनके विषयमें मुख्य विषय है नामवरी चाहना, कीर्ति चाहना, अब बतलावो इस असार जगतमें जहां कुछ भी सार नहीं है, जन्मते हैं मरते हैं यह भी एक माया है, इस मायामयी जगतमें नामके दो अक्षर कहीं लिखे गए या पा लिया, या किसीके मुखसे कुछ प्रशंसाके शब्द सुन लिया तो बताओ उससे इस आत्मको लाभ क्या मिलता है ? आखिर मरण होगा, काम कुछ न आयगा, पर अपनी ख्यातिके पीछे ये मनुष्य अपना दुर्लभ मानव जीवन खो देते हैं । तो मनके विषयमें भी इसने लाभ कुछ न पाया, बल्कि खोया ही है । लौकिक दृष्टिसे भी देखें तो मनके विषयसे यह जीव कष्ट ही कष्ट पायगा, शान्ति न पायगा । मुझे ऐसी इज्जत न मिली, मुझे राज्यका अमुक पद न मिला, यह सोच सोचकर कुड़ेगे । अगर मानलो कोई बड़ा राज्यपद मिल गया तो वहां यह लालसा बनी रहती कि मैं सदा ऐसा ही बड़ा बना रहूं, पर होता क्या है कि उसमें हार खा जाते हैं जिससे भारी दुःख मानते हैं । तो मनके विषयमें तत्काल भी अशान्ति रहती और भविष्य भी नहीं सुधर पाता । तो यह विषयोंका राग इस जीवको बड़ा कष्ट देता है, और जब तक यह जीव विषयोंमें प्रवृत्ति करता है तब तक समझिये कि इसने अपने आत्माका कुछ ज्ञान नहीं किया ।

आत्मभावनाकी शरण्याता—आत्मज्ञान बिना आत्मभावना नहीं बनती अर्थात् अपने चैतन्यस्वभावको निरन्तर दृष्टिमें लिए रहे, यह भावना नहीं बनती । और आत्म-भावना हुए बिना विषयोसे विरक्ति नहीं होती । विषयोंसे विरक्ति हुए बिना इसको चारित्र नहीं मिलता, मोक्षमार्ग नहीं मिलता । इससे हे योगीजन विषयोंसे विरक्त हो तो समझिये कि हम मोक्ष मार्गके सही रास्तेपर चल रहे हैं, और यदि विषयोंसे विरक्ति नहीं है, केवल राग बढ़ा है तो अपने पर अफसोस करना चाहिए कि व्यर्थका कलंक मेरे उपयोगमें क्यों आ रहा है ? विषयोंमें थोड़ा भी राग जगे तो वह भी जीवके अनर्थ के लिए है, पर जिसका व्यसनोसे भरा हुआ जीवन हो उसका भविष्य तो ठीक नहीं है आत्माकी सुध अनेक बार आती रहे कि मैं यह प्रतिभास मात्र हूं, अपनेमें पूरा हूं, मेरा मेरेसे बाहर कुछ नहीं । मेरेको शान्ति मेरे ही ज्ञानसे जगती है । किसी बाह्य पदार्थसे मेरेको सुख शान्ति नहीं मिलती, ऐसा जिसके भीतर भाव बस गया हो उसे जगतके वैभव जीर्ण तृणकी तरह असार दिखते हैं । दोनों बातें सामने हैं या तो आत्म-

सार देखें या परभाव सार देखें दो में से किसी न किसी पक्षमें मनुष्य रहा करते हैं । जिनको आत्मा ही सार दिखता, आत्मस्वभावकी भावना ही जिनको मंगल, लोकोत्तम, शरणभूत विदित होती है वे जीव ज्ञानी हैं, संसार संकटसे छूटने वाले हैं ।

आत्माकी जानकारी व भावनाके बलसे प्राप्त पूर्ण विषयविरक्तिसे आत्मकल्याण—संसारमें बोटिंगसे फैसला न होगा कि ये सारे लोग हमको अच्छा कह दें वह अच्छा । यहां वास्तविक अच्छे की बात कही जा रही है । सांसारिक कार्योंमें तो वोटका फैसला ठीक है, पर यह ज्ञानी है, मोक्षमार्गमें लगा है, यहां इतना ऊंचा आदर्श है कि इसके कहने वाले जगतमें बिरले ही लोग हैं । मोही जीव जो विषयोंमें बढ़ रहे हों, जो अधिकारमें बढ़ रहे हों उनको ही भला बतायेंगे, ऊंचा बतायेंगे, ज्ञानी पुरुषोंको मोही जीव ऊंचा नहीं कह सकते । उन्हें पता ही नहीं ज्ञानका, बल्कि वहां अनेक प्रकारके दोष ही नजर आयेंगे । जैसे ये देशके लिए बेकार हैं, ये कुछ करते ही नहीं हैं, यों कितने ही दोष नजर आयेंगे । तो ज्ञानीका फैसला संसारके जीव नहीं कर सकते, उसे तो भगवान, जिनवाणी-या ज्ञानी लोग ही बता सकते हैं । सारभूत बात है तो आत्माके सहज स्वरूपकी भावना होना सारभूत बात है । मैं तो यह सहज चैतन्यस्वरूप हूं, बाकी तो ये सब उसके नाटक चल रहे, यह बात सदैव ध्यानमें रहनी चाहिए । जो मेरी प्रवृत्तियां चल रही हैं, जो मेरा बोलचाल चल रहा है, जो कार्य भी किए जा रहे हैं और जैसे कुछ विचार किए जा रहे हैं ये सब नाटक हैं, मेरे वास्तविक कार्य नहीं, ऐसी भावना चित्तमें हो तो ऐसा पुरुष ५ इन्द्रिय और मन इन छहोंके विषयोंसे विरक्ति पायगा । विषयोंसे विरक्त हुए बिना कभी शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती । इससे अपना मार्ग धर्मकी ओर ही बढ़ाना है, संसारका आदर नहीं करना है किन्तु आत्मस्वरूपका आदर करना है, प्रभुके स्वरूप की भक्ति करना है । तो आत्मज्ञान बने, आत्मस्वभावकी भावना बने और विषयोंसे विरक्ति बने तो इस जीवका नियमसे कल्याण होगा ।

अप्पा णाऊण णरा कई सबभावभावपबभट्ठा ।

हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

विषयविमुग्धताका दुष्परिणाम—कितने ही पुरुषोंने आत्माको जानकर आत्माकी भावना भी की लेकिन आत्मभावनासे भ्रष्ट होकर विषयोंमें विमोहित होकर वे मिथ्या-दृष्टि होते हुए चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करते हैं । पहले बताया था कि आत्माको जानना ही बड़ा कठिन है और आत्माको जानकर आत्माकी भावना जानना और भी

कठिन है, आत्माकी भावना बनाकर भी विषयोंसे विरक्ति पाना और कठिन है, जो विषयोंसे विरक्त हुआ वह मोक्षमार्गमें लगता है। यहां यह बतला रहे हैं कि आत्माको तो जान लिया पर पुनः आत्मस्वभावसे पतित होते हैं, विषयोंमें लगते हैं, स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द सुहाने लगे तो ऐसे मूढ़ पुरुष चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करते हैं। यह मोक्षपाहुड़ ग्रन्थ है, इसमें मुनियोंको उपदेश किया गया है, जो मुनि आत्माको जानकर भी बादमें स्वभावदृष्टिसे हट गए और उन्हें स्पर्श आदिक सुहाने लगे और नामवरी ख्याति कीर्तिकी ओर उपयोग गया तो वह निर्ग्रन्थ भेष केवल नाटक ही रहा, वह चारों गतियोंमें डोलता ही रहता है, मुनिका स्वरूप है समता। “अरि मित्र महलमसान कंचन कांच निंदा थुति करन। अर्घावतारन असिप्रहारनमें सदा समता धरन ॥” उनको संसार के किसी भी बाह्य पदार्थसे प्रयोजन न रहा, केवल आत्मस्वभावकी दृष्टिमें ही निरन्तर रहते हैं, प्रचार प्रभावनाकी समिति बनाना, अथवा कोई समारोहका आयोजन करना आदिक बातें तो मुनिसे अत्यन्त दूर हैं। मुनि तो एक दर्शनीय है, जिसके दर्शनसे ही भक्तजन शिक्षा ग्रहण करते हैं। बाहरी किसी प्रोग्राममें, प्रयोगमें, लौकिक बातोंमें नहीं पड़ते उन परिणमनोंको कह रहे कि वह यदि विषयोंमें फिर अनुरक्त हो गया तो मूढ़ है और चतुर्गतिरूप संसारमें परिभ्रमण करता है।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।

छंडंति चाउरगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

चतुर्गतिभ्रमणपरिहारके अमोघ उपायका संदर्शन—जो विषयोंसे विरक्त है वह आत्मा को जानकर आत्मभावनासे रहित होकर, तपश्चरण गुणसे युक्त होकर चतुर्गति रूप संसारको छोड़ देता है, मुक्त हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं। जैसे संसारकी और बातोंमें निमित्त नैमित्तिक योग चलता है, रोटी बेलते हैं, चकला, बेलन आदिका प्रयोग करते हैं तो उसका निमित्त पाकर रोटी पसर जाती है, गरम तवापर रोटी धरते हैं तो रोटी पक जाती है। निमित्त नैमित्तिक योग सब जगह ठीक चल रहा, घड़ीमें चाभी भर दी तो वहां ऐसे पेंच लगे हैं कि वह पेंच उस चाभीको हटाना चाहता है मगर क्रम से हटा पाता है और उस प्रक्रियामें सूई क्रमसे चलती है, समय बन जाता है। सारे प्रयोग सारी बातें निमित्त नैमित्तिक प्रयोग पूर्वक हो रही हैं। तो ऐसे ही कर्मबंध जो हो रहा था वह भी निमित्त नैमित्तिक योगसे हो रहा था, अब कर्म छूटेंगे तो उसकी भी कोई प्रक्रिया है, वहां भी निमित्त नैमित्तिक योग है, तो वह क्या प्रयोग है, क्या

तंत्र है, जिसका निमित्त पाकर कर्म छूट जाते हैं, उन्हीं तंत्रोंका इसमें वर्णन है ।

विषयविरक्तिका कल्याणमें प्रथम आदर—पहली बात विषयोंसे विरक्त होना, ज्ञानी जानता है कि इस लोकमें कौन सी वस्तु ऐसी है जिसे तू ने बार-बार न छुवा हो, कौन सा पदार्थ ऐसा है जिसका अनेकों बार रस न लिया हो, गंध न लिया हो, कौनसा रूप ऐसा है जिसको बारबार न देखा हो, कौन सा शब्द है ऐसा जिसे खूब न सुना हो ? नाम ख्यातिकी बात जिस पर्यायमें गए उसीमें किया । पशुओंमें क्या अपने व्यक्तित्वकी बात नहीं होती, ख्याति नहीं होती ? अरे वे भी मान अपमान महसूस करते । गाय, बैल, भैंस आदि ये भी किसी बातको देखकर ऐसा ख्याल करते कि मेरा व्यक्तित्व बढ़ गया है या मेरा व्यक्तित्व घट गया है । या तो अपमान उन्हें महसूस होता या घमंड आता तब वे एक दूसरे पशुको भगाते फिरते हैं । पशु-पक्षियोंमें सबमें यह बात मिलती है । मनुष्य अपने ढंगसे व्यक्तित्वकी ख्याति की चाह करते हैं, अनेक भवोंमें अनेक पर्यायोंमें रहकर व्यक्तित्वकी ख्यातिकी चाहकी, इतने पर भी हे आत्मन ! तू सन्तुष्ट नहीं हुआ । एक इस ही जीवनमें देख लो, कितने पदार्थ न खाये होंगे, न स्वादे होंगे अब तक ? अनेक तरहके भोजन किया, खूब स्वादसे खाया मगर आज भी स्वादके लिए ललचा रहे । तो यह प्रवृत्ति इस जीवको संसारमें भटकाने वाली है । योगीजन अपनेको समझाते हैं कि विषयोंसे विरक्ति पा लेना यह कल्याणका प्रथम तंत्र है ।

विषयविरक्ति, आत्मज्ञान, आत्मभावना व तपश्चरण गुणयुक्तताका फल चतुर्गति भ्रमण-परिहार—आत्माका परिचय प्राप्त कर, मैं आत्मा अविकार स्वभाव हूं, राग करनेका, विकार करनेका मेरेमें स्वभाव ही नहीं है । विकार क्यों होता है ? अपने आप अपनेमें विकारकी गुंजाइस ही नहीं है, पर यह द्रव्य ऐसा है कि कर्म उपाधिका सम्पर्क निमित्त पाकर यहां विकार प्रतिफलित होते हैं । जैसे सनीमाके पर्देमें पर्देकी ओरसे कोई गुंजाइस नहीं कि उस पर चित्र बसे हों, मगर दूरसे जो फिल्मोंका अक्स पड़ता है उस पर्देको चित्रयुक्त होना ही पड़ता है, ऐसे ही आत्मामें खुदमें अपने आपकी ओर से कोई गुंजाइस नहीं कि इसमें विकार हों, मगर ऐसा ही योग है कि अनुकूल पुद्गलकर्म विपाक हो तो वहां प्रतिफलन होना ही पड़ता है । वही जीवका विकृत होना कहलाता है, तो योगी-जन अपने आत्माका ध्यान करते हैं और अपनेको अविकार ज्ञानस्वरूप रूपमें निरखते हैं और इस अविकार स्वरूप ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी भावनामें रहा करते हैं । जो आत्मभावनामें रहता है उसके सहज तपश्चरण चलता है और कुछ जानकर भी तप-

श्चरण किया करते हैं। वे जानते हैं कि मौजसे रहना, मौजमें रहना यह पापकी बात है, कुछ तपश्चरण हो, कोई दुःख आये सो दुःख तो लाते नहीं किन्तु तपश्चरणकी विधि बनाते हैं जिससे आत्माकी सुध बनी रहे। ऐसे पुरुष जो कि विषयोंसे विरक्त है, आत्मा के ज्ञानी हैं, अत्मभावनामें रहते हैं और तपश्चरण गुणसे युक्त हैं वे चतुर्गतिरूप संसार को त्याग देते हैं।

परमाणुप्रमाण वा परद्रव्ये रदि हवेदि मोहादो।

सो मूढो अण्णानी आदसहावस्स विवरीओ ॥६६॥

परद्रव्यमें परमाणुप्रमाण भी मोहवश रति होनेसे मिथ्यात्वग्रस्तता—परमाणु परिमाण भी याने अत्यन्त थोड़ा भी परद्रव्योंमें प्रेम हुआ मोहवश तो वह जीव अज्ञानी है और आत्मस्वभावसे उल्टा चल दिया। कोई पुरुष यदि ऐसा सोचे कि मुझे संसारकी किसी भी चीजमें राग नहीं है, सिर्फ एक हमको स्त्रीमें राग है, तो मेरा बहुत सा मिथ्यात्व हट गया, थोड़ा सा रह गया होगा, पर ऐसा नहीं है। जिसका एक वस्तुमें राग है उसके मिथ्यात्व और अधिक दृढ़ है। आप संसारके सब जीवोंमें राग बढ़ा लीजिए तो आपका मिथ्यात्व हल्का हो जायगा, और अन्य सबसे उपेक्षा करके केवल एक जीवमें आप राग बढ़ायें तो आपका मिथ्यात्व दृढ़ हो गया। एक में हो या १० में हो, जहां भेद-विज्ञान नहीं है, आत्मदृष्टिकी भावना नहीं है वहां मिथ्यात्व ही है। तो योगीजनोंने निग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण किया, पर उनके परमाणुमात्र भी किसी वस्तुमें राग हो, सेवकमें हो, साथीमें हो, भक्तमें हो, किसी एक भी बातमें राग हो या विषयमें राग हो तो वहां मुनिपना नहीं रहता। फिर जिसका जीवन बड़ा आकुलित रहता है व्यवस्थामें, विहारमें, इतने साधन चाहिए, साथमें मोटर चाहिए, साथमें दो एक रसोईवाले चल रहे हैं, सारा परिकर चल रहा है, उसमें चित्त बन रहा है, तो कितना अन्तर है। यहां तो कह रहे कि परमाणुमात्र भी राग है तो वह अज्ञानी है। इतना विशेष अगर परिग्रह रखा है तो उसका कहना क्या ?

विषयलोभी अज्ञानी पुरुषोंकी स्वच्छंदता—एक कथानक है ऐसा कि एक राजाके पास एक पुरोहित रहता था, वह रोज शास्त्र पढ़कर राजाको सुनाता था। पुरोहित समझदार था, लोक व्यवहारमें चतुर था, सो जैसे राजा खुश हो उस तरहसे कथा पढ़ता था, एक दिन पुरोहितको जाना था कहीं बाहर तो उसने अपने लड़कोंको भेज दिया कि जावो इस समय तुम राजाको शास्त्र सुना आना। गया वह तो उस दिन यह

प्रकरण निकला कि जो रत्तीभर भी मांस खाये सो नरक जावे । याने मांस खाना इतना बड़ा दोष है कि यदि थोड़ा भी खाये तो नरक जाय । अब राजा तो खाता था बहुत मांस सो उसे पुरोहितके पुत्रकी बात खटकी और सोचा कि आज बड़ा बेव-कूफ आया शास्त्र सुनाने । रोज-रोज शास्त्र तो अच्छा होता था, आज यह उल्टा बोल रहा, गाली दे रहा, सो दूसरे दिन जब वह पुरोहित आया शास्त्र पढ़ने तो सबसे पहले यह पूछा पुरोहितने कि महाराज कल हमने अपने लड़केको शास्त्र पढ़ने भेजा था, वह शास्त्र पढ़ गया था न ? तो राजा बोला हां आया तो था मगर बड़ा बेवकूफ है वह तो । वह शास्त्र पढ़ना ही नहीं जानता । क्यों महाराज ? अरे वह तो यह कहता था कि रत्तीभर भी कोई मांस खाये तो नरक जाय, तो पुरोहित बोला—हां महाराज उसने बिल्कुल ठीक कहा कि जो रत्तीभर भी मांस खाये वह नरक जाय पर यह तो नहीं कहा कि जो बहुत सा मांस खाये वह नरक जाये । तुम तो बहुत सा खाते, तुम्हारी तो उसने कुछ बात ही नहीं कहा । तो राजा उस पुरोहितकी बात सुनकर बड़ा खुश हुआ और बोला—हां तुम ठीक कहते हो । अब कोई ऐसा ही अर्थ लगाने लगे कि शास्त्रमें तो यह लिखा कि जो परमाणु मात्र भी परिग्रह रखे सो साधु नहीं, मगर ज्यादा रखे, बैल-गाड़ी, मोटर, रसोई, अन्य अनेक आरम्भ परिग्रह, इनका तो निषेध नहीं किया । अरे जहां परमाणुमात्र भी रागको योगीके लिए निषेध बताया वहां अन्य की तो कथा ही क्या ? तो जो अज्ञानवश रंच भी राग करता है वह आत्मस्वभावसे पतित है, और अज्ञानी है ।

कल्याणार्थ अपना कर्तव्य—अपन सबको भी श्रद्धामें यह बात रखना चाहिए कि यदि परमाणु मात्र भी परमाणु मात्रमें यह मेरा है, यह मैं हूं, यह मुझको सुखदायी है, ऐसी श्रद्धा यदि होगी तो वह मिथ्यात्व है । श्रद्धापूर्ण सही होना चाहिए । परिस्थिति-वश कुछ भी करना पड़ रहा है उसे कर्मका वेग मानें और उसमें पछतावा बनायें । अगर श्रद्धा पूर्ण सही रखें तो वह वास्तवमें श्रावक है, एक परमाणु भी मेरा कुछ नहीं है, मेरा तो मात्र मैं आत्मा हूं, ज्ञानदर्शन स्वरूप हूं, स्वभावतः आनन्दमय हूं, ज्ञानसे भरा हुआ हूं, परिपूर्ण सत्तावान हूं, और परिणमता रहता हूं । अब इस मुझको कुछ करनेकी जरूरत नहीं है, वस्तु है, परिणमती रहती है । बस तत्त्वके ज्ञातादृष्टा रहे जावो, बाह्य पदार्थोंमें मैं कुछ कर ही नहीं सकता हूं इसलिए उसमें कुछ कर डालनेकी कमर नहीं कसना है । मैं सर्व पदार्थोंसे निराला अपने स्वभावमात्र हूं, ऐसी अपने स्वरूप

की श्रद्धा रखना, जो सही श्रद्धा रखेगा वह संसारसे पार हो गया, और जिसकी श्रद्धा में ही भूल है वह कितना ही धर्मके नामपर कितने ही पूजा, व्रत, विधान तपश्चरण आदिक करता जाय वह संसारसे पार नहीं हो सकता, क्योंकि जिसको संसारसे पार होना है उसका ही सही ज्ञान नहीं है और संसारसे पार होनेका अर्थ क्या है ? उसका भी ज्ञान नहीं है तो अपने आपका भी ज्ञान कैसे होगा कि यह मैं समस्त अन्य पदार्थों से अत्यन्त निराला अपने स्वरूपमें तन्मय ज्ञानमय पदार्थ हूँ । जिसको आत्माका परिचय नहीं वह मोक्षमार्गमें एक कदम भी नहीं डाल सकता ।

अप्पा ज्ञायंताणं दंसणमुद्धीण दिढचरित्ताणं ।

होदि धुवं णिव्वाणं विसऐमु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

दर्शनविशुद्ध आत्मध्यानियोंकी निर्वाणपात्रता—जो आत्माका ध्यान करते हैं, जिनका सम्यग्दर्शन अत्यन्त विशुद्ध है, जिनका चारित्र दृढ़ है, जिनका चारित्र विषयोंसे विरक्त है उन पुरुषोंका निर्वाण निश्चित रूपसे होता है, आत्माका ध्यान ज्ञान वह ही पुरुष करेगा जिसको कमसे कम इतना तो परिचय हो कि जगतका जितना भी समागम है यह सब समागम मेरे लिए असार है । दुःखका कारण है, यह सदा रहता नहीं है, इनका होना न होना, इनका परिणमना मेरे सोचनेसे नहीं होता । यहाँ मेरेको कुछ शरण नहीं है, ऐसा जो इन बाहरी समागमोंको अनित्य अशरण और असार समझे उनको ही यह जिज्ञासा होगी कि नित्य क्या है, शरण क्या है और सार क्या है । मेरे लिए नित्य मेरा यह आत्मस्वरूप है जो कभी मेरेसे अलग न होगा, कभी मिटेगा नहीं, अनादिसे चला आया, अनन्तकाल तक रहेगा, मेरे लिए शरण मेरा यह आत्मस्वरूप है । जब मेरे इसको ही अपना सर्वस्व समझे, इस ही में संतुष्ट रहे तो मेरेको कोई संकट नहीं रहता, शरण है तो मेरा स्वरूप और सार है तो मेरा स्वरूप । जो अपने आत्मस्वरूपके परिचयमें ज्यादा बढ़ेगा, आत्मस्वरूपके ध्यानमें चलेगा वह पुरुष निर्मल सम्यग्दर्शनका धारण करने वाला है । कोई भी पदार्थ अब इस ज्ञानीको बहका नहीं सकता । चाहे कितने ही सुन्दर, कितने ही इष्ट पदार्थ मिलें, पर ज्ञानी यह श्रद्धा नहीं ला सकता कि यह पदार्थ मेरा हित कर देंगे । उनका सम्यग्दर्शन अत्यन्त दृढ़ रहता है ।

दृढचारित्र विषयविरक्त मुनिजनोंको निर्वाणका लाभ—अपने स्वरूपको जानें और जानकर उस ही स्वरूपके ज्ञानमें स्थिर रहें इसे कहते हैं चारित्र । हाथ पैर चलानेका नाम चारित्र नहीं, किन्तु आत्माका स्वरूप जानकर उस ही स्वरूपमें ज्ञानको बनाये रहना

इसका नाम चारित्र है, पर इस चारित्रके लिए जो पुरुष पुरुषार्थ करता है आन्तरिक उसको पूर्वकृत कर्मके उदयवश अनेक बाधायेँ आती हैं तो वे बाधायेँ क्या ? परवस्तुओं के ख्याल उनके विषयमें कुछ भी सोचना, जब ये विघ्न सामने आते हैं तो उन विघ्नों को तत्काल दूर करनेके लिए ये व्रत, तप, नियम, संयम, दर्शन आदिक हैं, सो इन्हें करता है, पर किसलिए कि मेरा आन्तरिक चारित्र निर्मल बने । तो जो पुरुष दृढ़ चारित्रवान हैं और जिन योगियोंका चित्त विषयोंसे विरक्त है, विषय क्या है ? विप-
त्तियाँ । जो लोग विषयोंमें प्रीति करते हैं, विषयोंका उपभोग करते हैं, सभी विषय हैं रस, गंध, रूप देखना, शब्द सुनना, नामवरी चाहना आदि, इन विषयोंको जो भोगता है सो वह भोगना क्या है ? जैसे शरीरमें फोड़ा हो जाय तो उस फोड़ेकी मलहम पट्टी लोग करते हैं ऐसे ही मूढ़ लोग विषयकी वेदना नहीं सही जाती है तो उसका उपयोग करते हैं । तो बताओ विषयोंके उपभोगमें शान्ति है या विषयोंकी वेदना ही न जगे उसमें शान्ति है ? बताओ फोड़ा-फुंसीके महलम पट्टी करनेमें सुख है या फोड़ा-फुंसी पैदा ही न हो इसमें सुख शान्ति है ? जैसे यहां उत्तर यह होगा कि फोड़ा फुंसीका न बनना, वह आरामकी चीज है ऐसे ही यहां उत्तर है कि विषयोंकी वासना ही न बने वह आरामकी चीज है । विषय वासना बनाना और उसका उपभोग करना ये दोनों ही बुरी बातें हैं । तो जो पुरुष आत्माका ध्यान करते हैं, जिनका सम्यग्दर्शन शुद्ध है, जिनका चारित्र दृढ़ है, जिनका चित्त विषयोंसे विरक्त है उनका निर्वाण होता है, यह बिल्कुल निश्चित बात है । तो इन बातोंका हम आपको आदर करना चाहिए । भीतरी आत्माकी उपासनामें जितना समय गुजरे उतना समय लगाना चाहिए । इसके प्रतापसे यह दुर्लभ मानव जीवन पाना, यह जैन शासनकी शरण पाना, जिनवाणीका श्रवण करना आदि सार्थक हो जायगा ।

जेण रागो परे दब्बे संसारस्स हि कारणं ।

तेणावि जोइणोणिच्च कुज्जा अप्पे सभावण ॥७१॥

नित्य आत्मभावनाकी आवश्यकता—जिस किसी भी पदार्थसे योगी पुरुषको राग उत्पन्न होता है तो चूँकि वह राग संसारका कारण है अतएव योगी पुरुष उसी पर्यायसे निरन्तर आत्मामें आत्मभावना करता है । जिस स्त्री पर्यायसे राग हुआ तो वहां योगी विचारता है कि यह भी एक आत्मा है और मेरे स्वरूपके समान है, तो चैतन्यस्वभावका चिन्तन करने लगता है और उस स्वभाव दृष्टिमें जो मैं हूँ सो यह है । अन्य कुछ दूसरा नहीं है, ऐसी भीतरी भावना हो जानेसे उसके राग नहीं रहता । खुद-बुदसे क्या

राग करे, ऐसी आशंका अद्वैतवादियोंने स्पष्ट की है कि आत्मा एक है सारे संसारमें और प्रत्येक देहमें जो आत्माका ज्ञान हो रहा है सो वह जैसे घड़ेमें घड़ेका आकाश, लोटेमें लोटेका आकाश, तो आकाश अलग-अलग तो नहीं हो गया। आकाश एक है, ऐसे ही देह-देहमें आत्माका भान होकर भी आत्मा एक है, न्यारे-न्यारे नहीं हो गए, ऐसा उनके सिद्धान्तमें कहा है। तो उसका क्या अर्थ लेना चाहिए कि जब आत्मा एक है, जो मैं हूं सो आप हैं, तो खुदने खुदसे प्रेम किया और खुदने खुदसे द्वेष किया। राग-द्वेष हटानेकी विधिमें वे आत्माको एक मान रहे। यहां यह तो नहीं बताया, पर राग-द्वेष हटानेकी विधिमें आत्माके स्वरूपको देखकर एक सा मान लिया, एक सा है ही और उस दृष्टिके बलसे यह उसके रागको छोड़ देता है। जिसको सम्यक्त्व हुआ और मोक्षमार्गमें बढ़नेके लिए निर्ग्रन्थ दिग्म्बर भी हुआ तो वहां अब उसे क्या करना चाहिए? बस आत्मस्वरूपकी भावना ही करते रहना चाहिए। मुनियोंका और दूसरा काम ही क्या है? वह अपने आत्माको देखे तो आत्मस्वरूपकी भावना जगे, दूसरे जीवोंको देखे तो उनमें भी आत्मस्वरूपकी भावना बने, यह भी उसी प्रकारका आत्मा है। केवल एक ही काम रह गया योगीका, आत्मस्वरूपकी भावना करते रहना, अगर किसी योगी को, मुनिको भावना तो दूर रहे, आत्माके बारेमें ज्ञान भी न हो। कुछ जानता भी न हो तो वह मुनि थोड़े ही है। मुनि तो वह है जिसको आत्माका ज्ञान हुआ और आत्मा की भावनामें ही सदा रहता है। तो ऐसा योगी जिस-जिस जीवसे राग पैदा होता उस उस जीवके आत्माकी स्वभावकी भावना करने लगता है और उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो मैं हूं सो यह है, अब इससे क्या राग करना और क्या द्वेष करना?

णिदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य ।

सत्तुणं चैव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥७२॥

निन्दा प्रशंसामें दुःख सुखमें समताके धारणमें चारित्रकी उपलब्धि—योगी पुरुषोंके समता परिणाम होते हैं और उस समता परिणामके कारण इसको चारित्र माना गया है। समताका ही नाम चारित्र है। आत्मामें आत्माके लीन होनेका नाम चारित्र है किन्हीं भी शब्दोंमें बात कहो, बात एक ही आयगी, याने उस चारित्रमें तीन तारीफ हैं, आत्मामें लीन हो गया, समता भाव आ गया, कषायकी वहां उपशान्ति है। तो जहां समताभाव है वहां चारित्र है। निन्दा और प्रशंसामें समताभाव होना, अब जो मुनि निन्दाकी बात सुनकर या अपने आप कुछ कल्पनायें करके अपना अपमान महसूस

करता है उसकी तो मिथ्याबुद्धि हो गई। देहमें आत्मबुद्धि हो गई, तब वह कल्पनायें करता है कि मेरा अपमान हो गया। अरे चैतन्यस्वभावमें आत्मा आत्मतत्त्वको देखने का काम था तब ही तो परमेष्ठीका नाम दिया है। अब परमेष्ठी जैसा भेष धारण कर अगर अपमान सम्मान महसूस करे तो खुद दुर्गतिमें जायगा और ऐसे लोगोंके सेवक भी दुर्गतिमें जायेंगे। यह जैन सिद्धान्तका वचन है। तो मुनिका मुख्य गुण है समता। प्रशंसा सुनकर कुप्पा हो गए, भक्तजनोंमें राग करने लगे, उन्हींका बड़ा आदर सत्कार करने लगे, बाकी दुनियाके जीवोंका कुछ नहीं, बस एक प्रशंसाकी बात चाहा तो उनका सत्कार करनेकी बात बोल रहे, इसमें मुनिकी शोभा की बात तो दूर रही, मुनिपद भी नहीं रहता। वे तो समताकी मूर्ति हैं, मोक्षमार्ग यों नहीं मिलता। संसारकी सारी बातोंका परिहार कर दिया और केवल आत्मस्वरूपमें आत्मभावना बनी रहे तो वहां रहता है मुनिपना। ऐसे ही दुःख और सुखमें जिनको समता है उनके चारित्र्य है, सुख क्या और दुःख क्या? इन्द्रियको सुहावे सो सुख और इन्द्रियको न सुहाये सो दुःख। तो इन्द्रियको सुहाये ऐसी स्थिति यदि मुनि पसंद करते तो गृहस्थमें और मुनिमें अन्तर क्या रहा? इन्द्रियको न सुहाये, ऐसी स्थितिसे वह उद्विग्न होता है तो फिर गृहस्थमें और मुनिमें क्या अन्तर रहा? तो सुख और दुःखमें समताभाव हो तो चारित्र्य कह-लायगा।

शत्रु बन्धुमें समताके धारणमें चारित्र्यकी उपलब्धि—शत्रु और बंधुमें समताभाव हो तो चारित्र्य है। अपने परिवारके लोगोको देखकर राग आ जाय, उनको रुपया पैसा भी लोगोंसे दिलवाये, उनकी खूब खुशामद भी करवाये तो वहां मुनिपना नहीं है। उसके लिए बंधु और शत्रु दोनों ही बराबर हैं, अपनी जन्मभूमि पर बहुत सी धर्मशालायें, मंदिर, नसिया आदि धर्मके ही स्थान सही, यदि बहुत सी चीजें तैयार करा दे बहुत दूर-दूरके लोगोंसे पैसा मांग मांगकर तो उसको अपने बंधुजनोंसे, परिजनोंसे ममता ही तो कहलायी। नहीं तो वही गांव उसके लिए क्यों प्रधान बना? दुनियामें अनेक गांव हैं। शत्रुसे द्वेष नहीं होता मुनिको। जो विरोध करता है, नमस्कार नहीं करता, उल्टी बात करता उसके प्रति भी मुनिका द्वेष नहीं होता, अन्यथा मुनिपना क्या? तो जो शत्रु और बंधुमें समताभाव रखता है उसका चारित्र्य माना गया है। शिक्षा तो हम आपको भी लेना चाहिए कि ऐसा वस्तुस्वरूपका विचार करें कि निन्दा प्रशंसामें जहां तक हो, समता भाव बनानेकी कोशिश करें। प्रशंसा है सो भी भाषा ~~वर्ण~~ के परिणमन

हैं, पुद्गलके परिणमन हैं, उनसे मेरेमें कौन सी भलाई होती, कौन सी बुराई होती ? तो तत्त्वको जानें और अन्तः समता भाव बढ़ायें । सुख दुःखमें ये कर्मके विपाक हैं, मायामय रूप हैं, ये कोई परमार्थ तो हैं नहीं, उसकी उपेक्षा करके अधिकसे अधिक समय कोशिश अपने आत्माकी भावनामें बनायें यह अपना सबका कर्तव्य है, शत्रु और बंधु समताभाव लायें । और, अधिक बात नहीं तो इतना तो सोचें कि जो प्रेम होता है, राग होता है वह दो कारणोंसे होता है, एक तो ममतासे और एक जिम्मेदारीसे । ममतासे राग करने वाला अधिक पापी है, चारित्र्यसे राग करने वाला परिस्थितिवश पाप कर रहा, यह मेरा है ऐसी ममता जगे, मेरा सब कुछ है । इस ममतासे जो राग बनता है उसका फल होता है अन्य जीवोंसे घृणा या अन्य जीवोंसे उपेक्षा । पर क्या करें ? गृहस्थीमें रह रहे हैं तो इन जीवोंकी जिम्मेदारी है और उस चारित्र्यके कारण राग करना पड़ रहा है तो उसके अन्य जीवोंसे द्वेष नहीं रहता, घृणा नहीं रहती और अपने बंधुवोंपर भी ममता नहीं, पर परिस्थितिवश चारित्र्यसे यह कर्तव्य करना पड़ता है । तो किसी भी स्थितिसे सही, अपना यह पुरुषार्थ होना चाहिए कि सर्वपदार्थोंमें समता परिणाम बनाये रहें ।

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा ।

कोई जंपंति णरा ण हु कालो ज्ञाणजोयस्स ॥७३॥

अचारित्र्यी व्रतविवर्जित शुद्धभावनाप्रभ्रष्ट स्वच्छन्द पुरुषोंका स्वच्छन्द वचन—कितने ही मनुष्य या कितने ही योगी जिनके चारित्र्य मोहका उदय है, चारित्र्यपर आवरण पड़ा है, व्रत समितिसे रहित हैं, आत्माका जो शुद्ध सहज स्वभाव है उस स्वभावसे भ्रष्ट हैं, तो अपने स्वभावकी जिनको सुध नहीं है ऐसे मनुष्य यह कहा करते हैं कि आजका काल ध्यान योगका नहीं है, लेकिन जिनको आत्माके स्वरूपकी लगन है, स्वभावदृष्टि करते रहनेकी धुन है और इस धुनमें यथाशक्ति चारित्र्यमें अपना कदम बढ़ा रहे हैं, शुद्ध स्वभावकी दृष्टिसे च्युत नहीं हो रहे हैं उनको यह विश्वास है कि आज भी आत्मध्यान हो सकता है । भले हो मोक्ष पाने योग्य शुक्ल ध्यान न हो फिर भी जितना सम्भव है इस संहननमें उतना ध्यान हो सकता है । ज्ञानीको संदेह नहीं है, मगर जिनको ध्यान करना ही नहीं है, पहलेसे ही सोच रखा है कि मौजमें रहना चाहिए, विषयोंके उपभोग में रहना चाहिए, जो आरामपसंदी हैं, चारित्र्यकी जिनको चाह नहीं, व्रत, समिति आदिकका पालन नहीं करते, ऐसी स्वच्छन्दता जिनके आग्री है वे कुछ तो अपनी चतु-

राई बतानेके लिए और कुछ उनके ज्ञानमें बात न समानेसे वे कहा करते हैं कि आजका समय ध्यान और योगका नहीं है। अरे समयकी क्या बात ? समय तो एक समान है। कालद्रव्यकी जो पर्याय है उसमें क्या विकार है कि कोई समय खोटा होता है, कोई समय अच्छा होता है, वह तो यहांका होनहार, यहां का योग जैसा बनता है, खोटा बनता तो लोग खोटा होनहार कहते हैं अच्छा बनता तो लोग अच्छा होनहार कहते, पर कालमें कोई दोष नहीं है। अब रही स्वयं स्वयंकी व्यक्तिकी बातें, वे कितने योग्य हैं सो यह योग्यता दृष्टिके अनुसार समझी जाती है। जिसको ज्ञानस्वभावकी दृष्टि जगी है और ऐसी ही दृष्टि वाले कुछ लोगोंका संग मिल जाय, जिससे बाहरी परिग्रह की प्रतिक्रिया न रहे तो उसके आत्मध्यानमें उमंग रहती है और उसे निशंक यह निर्णय रहता है कि आज भी यह आत्मा आत्माका ध्यान कर सकता है। और कर्मोंका ध्यानानुसार क्षय कर सकता है, लेकिन जो स्वच्छंद है, सुखमें ही मौज मानकर जीवन बिताते हैं उनको यह दिखता है कि आज ध्यानका समय नहीं है।

सम्मतणाणरहिओ अभव्यजीवो हु मोक्खपरिमुक्को ।

संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ ज्ञाणस्स ॥७४॥

सम्यक्त्वज्ञानरहित मोक्षपरिमुक्त संसारसुखसुरत अभव्यजीवोंका स्वच्छंद वचन—

वे कैसे जीव हैं जो यह कहते हैं कि आजका समय ध्यानका नहीं है, वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसे रहित हैं, ध्यान किसका किया जाना चाहिए, यही जिसको मालूम नहीं है, आत्माकी सुध नहीं है, आत्माका अनुभव नहीं बना। तो जिनको सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्ज्ञान नहीं, ऐसे ही पुरुष ध्यानका काल नहीं है यों कहा करते हैं। वे अभव्य जीव हैं, उनका होनहार भला नहीं है। अभव्योंको तो कभी भी ध्यानका काल नहीं आता। मोक्षकी श्रद्धासे दूर, मोक्ष किसे कहते, यह जिसकी समझमें आ जाय उसकी समझमें आत्मस्वभाव भी आ जायगा। मोक्ष कहते हैं शरीर, कर्म, विकारसे रहित होकर केवल ज्ञानस्वभावमात्र रहना, ज्ञानका शुद्ध परिणमन होते रहना, ऐसी स्थितिको मोक्ष कहते हैं। उनको अपनेमें यह भी भान हो जाता कि यह मैं आत्मा वास्तवमें अपने ही स्वरूप मात्र हूं। और सत्त्वके कारण मैं अपनेमें परिणमता रहता हूं। मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वरूप हूं, अन्य पदार्थोंसे अत्यन्त निराला हूं। ऐसा अपने स्वरूपका बोध होता है, और यहीं अपने इस स्वरूपमें उपयोग बनाये रहनेसे उनको आनन्दकी अनुभूति होती है। उनके कर्मका क्षय होता है, पर जिनको मोक्षतत्त्वकी श्रद्धा नहीं, मोक्षसे

विमुख हैं वे जीव कहते हैं कि आज ध्यानका समय नहीं है। जो संसारके सुखोंमें लीन हैं वे ही तो ऐसा कहेंगे क्योंकि उन्हें आत्मस्वरूप की सुध ही नहीं है। वे ज्ञान ध्यान की बात ही क्या करेंगे ? सभी मनुष्य सुख चाहते हैं, सुखके मायने मोक्षसुख नहीं, किन्तु संसारमें दिखने वाला यह लौकिक वैभव वाला सुख। और यह सुख जिन्हें मिला है उस सुखमें जो लीन हो रहे हैं उन लीन हो रहे पुरुषोंको आत्माका, भगवानका, ध्यान का, ज्ञानका कुछ पता नहीं, और न वे पता करना चाहते हैं। तो जो जीव संसारसुखों में लीन हैं वे ही पुरुष कहा करते हैं कि ध्यानका समय नहीं है।

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।

जो मूढो अण्णाणो ण हु कालो भणई ज्ञाणस्स ॥७५॥

व्रत समिति विमुग्ध अज्ञानीजनोंका स्वच्छन्द वचन—जो ५ महाव्रतोंमें मूढ़ हैं, तीन गुप्तियोंमें मूढ़ है वे अज्ञानो हैं और वही कहते हैं कि यह ध्यानका काल नहीं है। जिसको ५ महाव्रतोंका स्वरूप ही नहीं पता और कोई योगी हो तो महाव्रतके नामपर बाहरी क्रियाओंको जान ले और उन्हीं बाहरी क्रियाओंमें ही व्यामुग्ध हो गया, उसे भी महाव्रतका पता नहीं, और जो नहीं है दिगम्बर और यहां ही सुखमें आसक्त है उसे महाव्रत का पता नहीं, अहिंसा महाव्रतमें अपनेमें विकारभाव न जगना यह है अहिंसा, जीवदया करना मात्र यह अहिंसा नहीं है, यह भी अच्छा है लेकिन पूर्ण अहिंसा नहीं हुई। आत्मामें किसी भी प्रकारका विकार न जगे वह है पूर्ण अहिंसा। यह व्रत लिया है मुनिने, अब विकार तो बनाये रहे, आत्माकी सुध भी न हो और मात्र जीवोंपर दया करे, यहां बचाये, वहां बचाये, उचक-उचककर चले, केवल बाहरी बाहरी ही ख्याल चलता रहे तो वह भी अच्छा है अपेक्षाकृत, मगर जिसके लिए कदम बढ़ाया है, दिगम्बर हुए हैं, परमेष्ठी हुए हैं उस पदमें तो कुछ ऊंची भावना होनी चाहिए, विकारभाव न होना अहिंसा है और इसी अहिंसाकी पूर्तिके लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत हुआ करते हैं, पर तथ्यका जिन्हें पता नहीं वे अपना समय गुजार रहे हैं और सांसारिक सुखोंमें मस्त हो रहे हैं और कहते हैं कि आज ध्यानका समय नहीं है। पांच समिति कितने ही पुरुष तो समितियोंके स्वरूपको ही नहीं जानते। और किसीने मानो मुनिव्रत ले रखा हो, दिगम्बर हो तो भी समितिके तथ्यको नहीं जानते। हां खूब देखकर चल रहे, सब बात कर रहे, पर उसे यह पता नहीं कि आत्माके स्वरूपमें गमन करनेका नाम निश्चयसे समिति है, केवल ऊपरी ही क्रिया कर रहे जीव बचाया, उचक-

कर चले तो यह तो एक कोरा नाटक रहा । उसे तथ्यका पता ही नहीं कि आत्माका जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसे हमें पहिचानना है । जब लक्ष्यका ही पता नहीं तो उसे समितियोंके तथ्यका भी पता नहीं, और फिर जो मानो कर रहा हो प्रवृत्ति समितियों की तो बाह्य क्रियावोंमें ही प्रवृत्ति करता है, वह उसमें व्यामुग्ध है या जिन्हें पता ही नहीं वे भी व्यामुग्ध हैं, ऐसे पुरुष कहा करते हैं कि आज ध्यानका समय नहीं है ।

त्रिगुप्ति तथ्यसे अपरिचित अज्ञानी जनोंका स्वच्छन्द वचन—तीन गुप्तियां मनको वश करना याने यह मन कोई कल्पना ही न उठा सके, किसी बाहरी पदार्थका ख्याल विचार ही न ला सके, ऐसा मनको वश करना है, यह तथ्य जिन्होंने जाना ही नहीं है उनको ध्यानका स्वाद ही नहीं आया, तो वे कहा करते हैं कि आज ध्यानका समय नहीं है । वचनगुप्ति—वचनोंको वश करना, बोलना नहीं, और भीतरमें बोलनेका भाव भी न जगना । अब बोलते तो नहीं और भीतरमें बोलनेका भाव है मानो किसी तरहसे तो या तो संकेत करेंगे या हाथसे लिखकर बतायेंगे । जिसने पूर्ण मौन लिया है, वचन गुप्ति लिया है तो वह भीतरमें बोलनेके भावको ही खतम कर देता है, इस तथ्यका जिन्हें पता नहीं, ऊपरी क्रियावोंमें ही जो मुग्ध हैं या अज्ञानमुग्ध हैं ऐसे लोग कहते हैं कि रहने दो, आज ध्यानका समय नहीं है । आज तो ऐसे ही गुजारा करना ठीक है । शरीरगुप्ति—शरीरका हलन-चलन बंद करना और स्थिर मनसे, स्थिर उपयोगसे आत्मस्वरूपका ध्यान बनाना कायगुप्ति होती है आत्मस्वरूपके ध्यानके लिए । सो शरीर शरीरपर ही दृष्टि रखकर इसे खूब कड़ा रखे, खूब सीधा रखे, जरा भी हिले-डुले नहीं, यह ही जो ध्यान कर रहा है वह तो गुप्तिमें मूढ़ है, उसे इस रहस्यका पता नहीं कि कायगुप्ति होने दो सहज । इस उपयोगको अपने आत्मस्वभावमें लगाओ । तो जो कायगुप्तिके तथ्यसे अपरिचित हैं वे धर्मके नामपर शरीरपर ही दृष्टि रखकर शरीर की ही कोई साधना बनानेमें दत्त चित्त हैं ऐसे पुरुष कहते हैं कि आज इतना ही कर लो, इससे आगे कुछ कर सकनेका आजका समय नहीं है, मगर वास्तविकता देखो, समय कैसे नहीं है ? हम आत्मा हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, अपने स्वरूपको जानना है, कोई कठिन बात नहीं है । हम अपने आपको जाननेमें रत रहा करें, इसके लिए कौन बाधा देने आता है ? साधारण संहनन वाले भी आत्माकी सुध, आत्माकी दृष्टि तो रख ही सकते हैं, लेकिन जो क्रियावोंमें आसक्त हैं वे ही कहते हैं कि आज ध्यानका समय नहीं है ।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेई साहुस्स ।

तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

भरतक्षेत्रके इस दुःषमकालमें भी साधुके धर्मध्यानकी संभवता—इस भरत क्षेत्रमें इस दुस्सम नामक पंचम कालमें साधुके धर्मध्यान होता है और वह धर्मध्यान आत्मस्वभाव में स्थित होने पर होता है, ऐसा जो नहीं मानता वह अज्ञानी है। ढाई द्वीपमें कर्म-भूमिया तो भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्रमें है और भोगभूमिया शेष क्षेत्रोंमें हैं जिनमें भरत क्षेत्रमें उत्पन्न होने वाले सदैव मोक्ष जा सकते हैं, किन्तु भरत ऐरावत क्षेत्रमें चतुर्थकालमें मोक्ष जाते हैं। यह है पंचमकाल, इस कालमें हीन संहनन है इस वजहसे मोक्ष पंचमकालमें पैदा हुआ मनुष्य नहीं जाता लेकिन इस कालमें धर्मध्यान तो होता है और वास्तविक धर्मध्यान तो आत्मस्वभावमें स्थित होने पर होता है क्योंकि धर्म है आत्माका स्वभाव। और आत्मस्वभावमें जिनका उपयोग लगा है उन साधुओंके चूँकि ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही लक्ष्य हो रहा है इस कारण धर्मध्यान हो जाता है, किन्तु यह तथ्य जो नहीं मानता वह अज्ञानी है। तात्पर्य यह है कि इस अवसर्पिणी कालमें, पंचम कालसे जहां मोक्षमार्गका प्रचलन नहीं है वहां धर्मध्यानका निषेध नहीं है। इस समय भी जो आत्मभावनासे तन्मय हुआ उस साधुके धर्मध्यान हो जाता है। लेकिन वैषयिक रागवश स्वच्छंद हुए प्राणी अज्ञानवश ऐसा कहते हैं कि आजकल धर्मध्यानका समय नहीं हो सकता है। किन्तु धर्मध्यान आज भलेप्रकार सम्भव है, यह आचार्य बतला रहे हैं।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा ज्ञाएवि लर्हिहि इंदत्तं ।

लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

भरतक्षेत्रके दुःषमकालमें भी रत्नत्रयशुद्ध आत्माओंकी इन्द्र व लौकान्तिक देवोंमें उत्पत्ति एवं वहासे च्युत होकर निर्वाणकी प्राप्ति—आज भी रत्नत्रयसे सिद्ध हुए पुरुष आत्माका ध्यान करके इन्द्रपदको, लौकान्तिक देव पदको प्राप्त होते हैं और वहां से च्युत होकर मोक्षको प्राप्त करते हैं, आज भले ही इसी भवसे मोक्ष नहीं है लेकिन जो आत्मा अपने सहज चैतन्यस्वरूप आत्माका ध्यान करते हैं वे इन्द्र पदको पाते हैं और ऐसे इन्द्रपदको पाते हैं जो एक भवावतारी होते हैं, इन्द्र पदसे च्युत होकर मनुष्य होकर, निर्ग्रन्थ महाव्रती होकर मोक्ष जाते हैं, ऐसे ही लौकान्तिक देवोंमें ये उत्पन्न हो जाते हैं। आजके मनुष्य जो रत्नत्रयसे सिद्ध हुए हैं सो वे भी लौकान्तिक देवोंसे च्युत होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं। लौकान्तिक देव भी एक भवावतारी होते हैं। इस गाथामें यह स्पष्ट है कि आज

भी पंचम कालमें उत्पन्न सैनी पञ्चेन्द्रिय उत्तम कुली मनुष्य दीक्षा धारण करते हैं, रत्न-त्रयसे पवित्र होते हैं और वे इन्द्रादिक पदोंको प्राप्त होते हैं। जो लोग कहते हैं कि इस समय महाव्रती नहीं हैं वे अज्ञानी हैं और जिन शासनसे बाह्य हैं ये लौकातिक देव वैराग्यप्रिय होते हैं, इनके देवांगनायें नहीं हैं। इनको ब्रह्मचर्य ही प्रिय है, इन्हें देवर्षि भी कहते हैं, ऐसे उच्च पद आज भी मनुष्य रत्नत्रयके बलसे प्राप्त कर लेते हैं, ऐसा धर्मध्यान आज भी सम्भव है।

जे पावमोहियमई लिंग घेतूण जिणवरिदाणं ।

पावं कुणंतिपावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७८॥

पापमोहितमति दिगम्बर मुद्रावेशी पापी जीवोंकी मोक्षमार्गबहिर्भूतता—जिनकी बुद्धि पापसे मोहित हुई है ऐसे मनुष्य जिनेन्द्र देवका लिङ्ग धारण करके अर्थात् निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण करके पाप करते हैं वे पापी हैं, मोक्षमार्गसे पतित हैं। जो साधु तो हो गए किन्तु चित्तमें से विषयवासना नहीं निकली, विषयोंमें अनुराग बना हुआ है और उन पापोंसे जिनकी बुद्धि व्यामुग्ध है, पाप क्रिया करके जो पापकर्मका बंध करते हैं ऐसे साधु पापी हैं और मोक्षमार्गसे पतित हैं। इन साधुवोंकी गति खोटी है और जन्म-मरणकी परम्परा इनकी बढ़ती है। साधु परमेष्ठीका जैसा बाह्य भेष धारण करके गृहस्थजनों जैसा भाव रखना एक बड़ा कलंक है और इससे ऐसे तीव्र पापका बंध होता है कि जिसके कारण भव-भवमें इसे यातनायें सहनी पड़ती हैं। अन्य लिङ्गसे क्या-क्या पाप जिन लिङ्गसे उत्पन्न हैं याने अन्य भेषोंको धारण कर करके जो पापकर्म बांधा वह निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण करके छूट जाता है, पर यदि कोई दिगम्बर भेष धारण करके पाप करे तो उसका पाप वज्रलेप होता है, उसके छूटनेका फिर और कोई उपाय नहीं है। इस कारण दिगम्बर भेष धारण करके आत्मज्ञान करके सावधान रहनेमें ही भला है।

जे पंचचेलसत्ता गंथगाही य जायणासीला ।

आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७९॥

परिग्रहासक्त अधःकर्मरत पापीजनोंकी मोक्षमार्ग बहिर्भूतता—जो ५ प्रकारके वस्त्रोंमें आसक्त है, परिग्रहको ग्रहण करने वाला है, याचनाशील है, अधःकर्ममें रत है वह मुनि तो मोक्षमार्गसे पतित है। वस्त्र ५ प्रकारके बताये हैं—(१) रोमके वस्त्र (२) चर्मके वस्त्र (३) बकलके वस्त्र (४) सूतके वस्त्र और (५) रेशमी वस्त्र। इन ५ प्रकारके वस्त्रोंमें किसीमें भी जो मुनि आसक्त हो वह पापी है। और जो वस्त्र धारण करके भी अपनेको मुनि कहलाये और लोकमें दूसरेसे श्रेष्ठ माने उनके तो माया कषायकी भी

बहुत प्रबलता है, ये मुनि परिग्रहके धारी हैं, धन आदिक भी रख लेते हैं, याचना करने का इनका स्वभाव पड़ गया है और जो अधः कर्ममें रत हैं, कैसी ही पापक्रियाओंमें रत हैं, कैसी ही पापादिक क्रियाओंसे भोजन तैयार किया गया हो, उसे भी ग्रहण कर लेते हैं। भले ही ये दुनियाको यह बतायें कि यह मेरे उद्देश्यसे नहीं बना इसलिए यह पवित्र भोजन है, किन्तु जो हिंसासाध्य है और अभक्ष्य है ऐसा भोजन तो अधः कर्म वाला भोजन है, सो जो अधः कर्ममें, निन्द्य कर्ममें रत है वह मुनि मोक्षमार्गसे पतित है। मोक्ष पानेकी यह रीति नहीं है। मोक्ष तो नाम अकेला आत्मा रह जाने का है, सो यहां भी ऐसी उपासना होना चाहिए कि जिसमें यह अपनेको बाह्य और आभ्यंतरमें अकेलापन महसूस करे।

निर्गन्धमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।

पावारम्भविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८०॥

मोहमुक्त परीषहविजयी जितकषाय पापारम्भविमुक्त निर्गन्ध योगियोंकी मोक्षमार्ग प्रगति— जे पुरुष परिग्रहसे रहित हैं, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिकके स्नेहसे रहित है, २२ परीषहोंके विजयी हैं, कषायोंको जीतने वाले हैं पापारम्भसे विमुक्त हैं वे साधु ही मोक्ष मार्गमें स्वीकार किए गए हैं बाह्य परिग्रह १० होते हैं—खेत, मकान, धन, धान्य, दासी, दास बर्तन, कपड़ा, सोना, चांदी, और अभ्यंतर परिग्रह १४ होते हैं कषाय और नोकषाय और मिथ्यात्व, इन २४ प्रकारके परिग्रहोंसे जो रहित हैं, जिनको कुटुम्बमें ममत्त्वभाव नहीं है, परीषह आये तो समतापूर्वक सहन करते हैं, आत्मज्ञानके बलसे, स्वभावदृष्टि के बलसे जो कषायोंपर विजयक्षण मात्रमें करते हैं, केवल एक आत्माकी ही धुन रखते हैं अतएव किसी प्रकारका आरम्भ नहीं कर पाते, आरम्भ करनेकी जिनकी भावना नहीं है ऐसे योगी पुरुष मोक्षमार्गमें चल रहे हैं और इस कालमें ऐसे साधु पुरुष इन्द्र लौकांतिक जैसे पदोंको भी प्राप्त कर लेते हैं, तो एक भवसे ही मोक्ष जाते हैं, ऐसे विरक्त योगी क्षुधानिवृत्ति शुद्ध भिक्षावृत्तिसे करते हैं। जो गृहस्थोचित सेवा कृषि आदिक आरम्भसे अत्यन्त दूर हैं वे मुनि बंदनीय हैं और ऐसे मुनियोंकी भक्तिके प्रसाद से भक्तोंको मोक्षमार्गकी दिशा प्राप्त होती है।

उद्धमज्जलोए केईमज्झं ण अहयमेगागी।

इय भावणाए जोई पावन्ति हु सासयं सोक्खं ॥८१॥

स्वभावभावनासे मुक्तिलाभ इस माथामें इस भावनाका वर्णन किया है जिस

मोक्षपाहुड़ प्रवचन

भावनाके प्रसादसे जीव निर्वाणको प्राप्त होते हैं। मोक्ष होना शरीरके आधीन बात नहीं है। मोक्षका अर्थ है कि जीवका इन देह, कर्म, विकार आदिकके फंदोंसे जुदा हो जाना। तो इन फंदोंसे जीवको जुदा करनेमें समर्थ शरीरकी क्रिया नहीं है। इस मोक्ष को देनेमें समर्थ बाहरी साधनोंका संचय भी नहीं है, पर साक्षात् मोक्षका साधन तो जैसा अपना स्वभाव है उस रूप अपनेको मानना और ऐसा ही निरखकर संतुष्ट रहना यह भावना मोक्षका कारण है, बाहरमें गृहस्थीमें अनेक काम बताये गए धर्मके लिए। देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। मुनियोंके लिए भी समता, बंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण आदिक अनेक कार्य बताये गए। चरणानुयोगकी विधिसे उन क्रियाओंको करना चाहिए, पर ये ये कार्य मोक्षको दे देंगे, ऐसी जिनकी श्रद्धा है उनको मोक्ष नहीं मिलता। पर करना क्यों पड़ता है कि इनको ऐसी योग्यता मिली कि हम अपने स्वभावरूप अनुभव सकते, यह बात पापकी क्रियामें नहीं बनती, व्यसन आदिक छोटे भावोंमें नहीं बनती, पर शुभोपयोगके भाव हों ऐसी स्थितिमें स्वभाव भावनाकी बात बन पाती है इसलिए ये क्रियायें करने मात्रसे ही मुक्ति होती है यह श्रद्धा न रखना। मुक्ति होती है सहज स्वभावमय आत्मतत्त्वमें अपने आपको अनुभवनेसे। जितना जिनको मोक्षमार्ग मिला है गृहस्थको या मुनिको, वह स्वभावभावनामें ही मिला है।

अपने परमार्थ एकत्वका परिचय—अपने आपको कैसा अनुभव करना जिससे तत्काल शान्ति लाभ हो, वस्तुका यथार्थ परिचय हो और संसार संकटोंसे छुटकारा हो? अपने आपको देखिये मैं अकेला हूं, सत् ही मैं अकेला हूं, कुटुम्बादिकसे निराला हूं, यह तो ठीक ही है, पर देहसे भी निराला हूं, कर्मसे भी निराला हूं, विकारसे भी निराला हूं, केवल मैं अपने स्वरूपमात्र हूं, यहां तक जिसकी पहुंच है वह बड़ा पवित्र पुरुष है। और यहां तक जब तक पहुंच नहीं बनती तब तक धर्मके प्रसंगमें या बाह्य प्रसंगमें श्रम और विकल्प अधिक चलते हैं। पर यह उपयोग फिट नहीं बैठता। कितने हो लोग जब ऐसा पूछते हैं कि हम पूजा करते, सामायिक करते मगर उपयोग यहां वहां भ्रमण करता है, उपयोग स्थिर नहीं होता, फिट नहीं बैठता तो उसका कारण क्या है? उपयोग क्या है? उपयोग कहां से निकलता है और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, इसका जब तक परिचय नहीं है तब तक उपयोग तो धूमेगा। जिसको अपने घरका परिचय नहीं है वह तो अनेक घरोंमें डोलेगा और वहां से दुदकारा जायगा, कहीं स्थिर

न रह पायगा, ऐसे ही जिसको अपने घरका, अपने स्वरूपका, अपने भगवान आत्माका परिचय नहीं है वह उपयोग बाहरमें यत्र-तत्र डोलेगा और सभी जगहसे दुदकारा जायगा, यह स्थिर न रह पायगा। तो क्या काम करना चाहिए? जो अनन्त कालमें किया न हो, जिसके बिना अब तक संसारमें भटक रहे हैं। वह काम क्या है? अपने वास्तविक स्वरूपका परिचय पाना। अगर दो चार चीजें कहीं मिली हुई हैं जैसे पानी, तेल और रंग, तो उस मिले हुए होनेपर भी यह विवेक तो किया जा सकता कि पानी का वास्तविक स्वरूप क्या है। क्या रंगस्वरूप है पानीका अथवा क्या चिकना स्वरूप है पानीका? नहीं। तब फिर क्या स्वरूप है? यह ज्ञानमें है, पर मुखसे नहीं बोल पाते। उस मिले हुए पानी, तेल, रंगकी हालतमें भी जानते हैं कि पानीका स्वरूप पानी में है, तो ऐसे ही कर्म, देह और जीव इनकी मिली हुई हालतमें भी जीवका स्वरूप तो जीव ही होगा, अन्य रूप तो न होगा, बस उसीको तो पहिचान है कि वह जीवका स्वरूप क्या है? जो इस जीवमें अपनी सत्ताके कारण है इसको जिसने पहिचाना उसे धर्म मिलेगा और उसे यदि न पहिचान पाया तो वास्तविक धर्म न मिलेगा। जिससे मोक्ष मिलता है, जिससे उपयोग स्थिर होता है वह बात न मिल पायगी।

दुर्लभ श्रेष्ठ मानवजीवनमें आत्महितके उपायसे दूर रहनेकी महती त्रुटिका दुष्परिणाम—
 एक बात मोटे रूपसे सोचिये आज मनुष्य हुए, यदि और कुछ होते तो हो न सकते थे क्या? आज जिन गधा, कुत्ता, बिल्ली वगैरहको देखते हैं, कीड़ा-मकोड़ोंको देखते हैं ये भी तो जीव ही हैं, मेरी ये भी तो कभी पर्यायें हुईं। आज दुर्लभ मनुष्य पर्याय पाया है तो अब तुलना करके देख लो, हम आपने इन पशुपक्षी कीट पतिंगा आदि की अपेक्षा कितनी उत्कृष्ट स्थिति पाया है। मनुष्य हुए, ऊँचा कुल पाया, जैन शासन पाया, पर ये सब पाकर भी अगर अन्य जीवोंकी भांति ही विषय कषायोंमें यह जीवन गमा दिया। नामवरी, कीर्ति, यश, प्रतिष्ठा आदि ऐसे ही वाहियात विकल्पोंमें अपना जीवन गमा दिया तो इस मनुष्यभवका पाना न पाना बराबर रहा। यह भव कुटुम्बियोंसे मोह करनेके लिए नहीं है, बिल्कुल निश्चित समझिये। अगर न समझमें आयगा तो जैसे दुःख अभी तक भोगते आये वही दुःख बना रहेगा। यह कुटुम्ब सदा न रहेगा, घर सदा न रहेगा, देह भी सदा न रहेगा, इस थोड़े दिनोंको मिली हुई मायामें अगर मोहित रहे तो चिर कालके लिए अपना विघात बना लिया। यह भव परिग्रह संचयके लिए नहीं है, मानलो जोड़ते चले गए लाखों करोड़ोंका धन और उसे देख देखकर खुश हो

रहे, तो इसके लिए यह मनुष्यभव नहीं है। यद्यपि गृहस्थावस्थामें जब तक हैं तब तक कुटुम्बसे भी राग करना पड़ता है, कुछ थोड़ा परिग्रहके अर्जनका भी काम करना पड़ता है, पर यह समझो कि परिस्थितिवश करना पड़ता है, और उससे केवल इतना ही लाभ है कि हमें क्षुधा आदिक निवृत्ति होकर एक जीवन सा बना रहे और इस जीवनमें हम ज्ञान संयमका आराधनामें बढ़ सकें, केवल एक जीवन बनाये रहनेके लिए यह आवश्यक हो गया है कि कुटुम्बमें भी सद्व्यवहार करें और परिग्रहका भी साधारणतया अर्जन करें, पर ऐसा लक्ष्य रखें कि एक यह मनुष्य जीवन बना रहे इसके लिए ही ये काम किए जा रहे हैं, और मनुष्य जीवन किसलिए बना रहे ? यह हमको श्रेष्ठ मन मिला है, उस मनके द्वारा हम आत्माका सही बोध कर सकें और उसमें अपना ज्ञान जमा सकें तो यह जितना संकट लगा है यह सब छूट जायगा, जन्म लेना यह संकट नहीं क्या ? शरीरमें यह भगवान आत्मा फंसा है, यह इस भगवान आत्मापर संकट नहीं है क्या ? अपने-अपने लिए सोचिये सब बात, यदि यह मैं अकेला ही रहता, कोई प्रसंग न होता तो बस यह ही तो सिद्ध भगवान कहलाता। सिद्ध भगवान होनेसे पहले, अर-हंत प्रभु होनेसे पहले ये सारे झंझट हैं, इन झंझटोंको ही लोग सुखका साधन मानते हैं। तो जहां यह भ्रम लगा है वहां इसको कोई सिद्धि नहीं होती।

स्वभाव भावनासे ही आत्मकल्याण होनेके निर्णयकी प्रथमावश्यकता—भैया, पहले एक निर्णय तो बनायें कि मेरा यह मनुष्य जीवन आत्माके स्वभावका परिचय करने और उस ही की दृष्टि देकर तृप्त रहनेके लिए है, अन्य बातोंके लिए यह मनुष्य जीवन नहीं है। यह अपना पक्का निर्णय बनाइये। यह निर्णय हुए बिना धर्मका प्रारम्भ नहीं, एक कायदेसे काम होना और एक अललटप काम होना जैसे इन दो बातोंमें अन्तर है ऐसे ही धर्मपालनकी भी दो बातें चल रही हैं—एक अललटप धर्मपालन और एक कायदे-पूर्वक धर्मपालन। तो कायदेपूर्वक जो कार्य होता है वह भली-भांति सफल होता है, अललटपके कार्यमें केवल श्रम ही श्रम रहता है। तो कायदेका धर्मपालन यह है कि जो सदाचार है वह तो करना ही पर उस सदाचारसे सुरक्षित रहते हुए अपनेमें अपने स्वरूपको निरखना। लोग कहते हैं कि हमें आत्मा आंखोंसे नहीं दिखता, हम आत्मा को कैसे मानें ? सों ठीक है उनका कहना। आत्मा आंखोंसे दिख ही नहीं सकता। आत्मा तो जाननहार है, केवल समझो, समझता कौन है ? मैं समझता हूं, ऐसा तो बोलते हैं लोग। तो मैं तो यह एक समझने वाला पदार्थ हूं, तो समझानेके द्वारा सम-

ज्ञाने वाले पदार्थको जाना जा सकता है, आंखोंसे नहीं जाना जा सकता । और बहुत सीधी सी तरकीब है, वह यदि कर सके तो उससे भी पता पड़ जायगा अपने आत्मा का । वह सीधी तरकीब क्या है कि इतना तो निर्णय है ही थोड़ा-थोड़ा कि ये जितने बाहरी समागम हैं ये सब झंझट हैं, फिर इसीको जरा और दृढ़तासे समझ लीजिए । कोई-कोई लोग तो ऐंठमें आकर कहते कि ये बाहरी समागम सारे झंझट हैं, किन्तु इसको मनसे सोच लीजिए । जो जो भी समागम मिले हैं इनका क्या होगा ? ऐसा प्रश्न करके उसके बारेमें समझ लीजिए कि मेरे लिए ये बेकार हैं । लाखोंका धन कमाया इससे मेरेको क्या मिलेगा अन्तमें ? कुछ नहीं मिलता, और जब तक जिन्दार्थ तब तक कष्ट हो मिला । कुटुम्बका समागम है तो यह कल्पनाकी बात है कि ये मेरे कुछ लगते हैं । जैसे जगतके जीव निराले हैं वैसे ही घरके जीव निराले हैं, वे मेरे कुछ भी नहीं हैं । केवल कल्पना ही करते हैं, उनके सम्बन्धसे मेरेको क्या मिलेगा ? मोह रागद्वेष झंझट कर्मबन्ध मिलेगा व अन्नमें यह सब समागम छोड़ जाना होगा । तो सारे पदार्थों के बारेमें यह निर्णय बना रखें कि मेरे लिए सब बेकार है और इसी कारण मेरेको सबका त्याग करके निर्ग्रन्थ दिगम्बर एकाकी केवल अपने आत्मासे ही अपना नाता रखना, इतनी ही बात रहनी चाहिए । पर नहीं बन पा रही है, नहीं इतना उत्साह है, घरमें रहना पड़ रहा है तो घरमें रहना द्वेष करके न बनेगा, प्रेम करके ही बनेगा, आपसी व्यवहार सही करके ही बनेगा । तो यह आपसी व्यवहार सही रखना पड़ रहा है, पर मेरा कुछ नहीं है, मेरे लिए ये सब समागम बेकार हैं, इस बातका खूब निर्णय बनायें पहले । अगर इसमें कसर है तो पहले इसीको पूरा कीजिए कि मेरे लिए सब बेकार है । शरीरका समागम भी मेरे लिए बेकार है, क्योंकि इससे मिलता क्या है ? रोग, क्षुधा, सम्मान, अपमान आदिक कितनी ही बातें कल्पनामें चलती हैं तो कष्ट ही कष्ट मिलता है । उससे कोई आनन्द और शान्ति भी मिलती है क्या ? आनन्द और शान्तिका धाम तो आत्मस्वरूप है । इसके ही ध्यानसे आनन्द और शान्ति मिलेगी, तो मेरे लिए जगतका सारा समागम बेकार है, यह निर्णय पहले अच्छी तरह बना लीजिए ।

आत्माको हम सुगमतया कैसे परख लें, इसके उपायमें बात कह रहे हैं, जब दृढ़तासे पूरा निर्णय बन जाय कि मेरे आत्माके लिए आत्मातिरिक्त समस्त समागम मेरे लिए बेकार हैं, वे मेरेमें कुछ आनन्द नहीं दे सकते हैं, यह निर्णय बन चुके, फिर आप एक ऐसा आग्रह करके बैठें कि जब समग्र बाह्य पदार्थ मेरे लिए बेकार हैं तो मैं

अब किसी भी पदार्थमें ध्यान न दूंगा, उपयोग न दूंगा, ख्याल न करूंगा, मैं किसी भी पदार्थका फोटो यहां नहीं रखना चाहता। बारबार ऐसा अभ्यास बनावें, यदि किसी क्षण यह अभ्यास बन सकेगा कि कोई भी बाह्य पदार्थ मेरे ज्ञानमें न आये। तो मेरा यह ज्ञानस्वरूप आत्मा कहीं न फिक सकेगा, यहीं ज्ञानमें रहेगा। तो कभी इस तरह का चिन्तन बने, और इस साधनाके द्वारा आत्माका परिचय पा सकते हैं। सब बातों को भूल जाइये, किसीका ख्याल न रहे, देखिये—रात दिनके चौबीसों घंटेके लिए भूलने की बात नहीं कह रहे किन्तु जब ध्यान करनेके लिए बैठे हैं और जब आपको आत्मा के परखनेकी उमंग लग रही है उस समय इतना कार्य करें कि कोई भी बाह्य पदार्थ मेरे उपयोगमें न आये। किसी भी बाहरी पदार्थसे मेरेको क्या लाभ है ? उसे हटायें और जिस क्षण कोई बाहरी पदार्थ यहां उपयोगमें न रहेंगे तो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा आपके ज्ञानमें आयगा और एक सहज आनन्दका अनुभव करायगा जिससे आपको दृढ़ निश्चय हो जायगा कि सारभूत बात है तो मेरे आत्माके स्वरूपका परिचय परिज्ञान, यह ही सारभूत बात है दुनियामें, और कोई सारभूत बात नहीं है। मेरे लिए। बड़ा मैं ही हूं, मेरे लिए सुखदायी मैं ही हूं, मेरे लिए सर्वस्व मैं ही हूं, पर कौन सा मैं ? यह हाथ पैर वाला मैं नहीं, किन्तु मेरा जो अपना सहज स्वरूप है, चैतन्यमात्र। आखिर जब मैं हूं तो मेरा स्वयं कुछ स्वरूप तो है, बस उसी को पहिचानना है। वह परिचयमें आये तो समझिये कि मंगल, लोकोत्तम और शरण तीनों बातें अपनेमें प्राप्त कर ली जाती हैं, सो उस स्वभावमें अपने आपका उपयोग लगानेसे धर्मपालन होता है।

शाश्वत सुखप्राप्तिका उपाय व्यवहारधर्मपालनसे सुरक्षित होकर निश्चयधर्मका पालन—
धर्मपालन तो स्वभावाश्रयमें हैं, फिर जो कुछ धर्मके नामपर काम करने पड़ रहे हैं वे सहयोगी बनते हैं। क्योंकि हम सदाचारसे रहेंगे, प्रभुभक्तिमें रहेंगे तो हमारेमें वह पात्रता बनी रहेगी कि हम आत्माके स्वभावकी आराधना कर सकें, सो वे सब बातें एक ध्येय बनानेसे हो सकेंगी। मनोविनोदसे धर्म न मिलेगा और आराम और मौजमें जिन्दगी गुजरे यदि यह ही लक्ष्य रहे तो धर्म न मिलेगा। मानना ही होगा कि मेरा जीवन आत्मधर्मके पालनके लिए है, फिर आप कोशिश करेंगे, ज्ञान सीखेंगे, किसीसे पढ़ेंगे, स्वाध्याय करेंगे, मनन करेंगे, स्वाध्याय भी आप फिर इस विधिसे करने लगेंगे कि एक-एक लाइनका स्वाध्याय करेंगे, भीतर भाव समझते हुए ओर उसकी अपने हृदय

में उतारते हुए स्वाध्याय करेंगे। चाहे एक लाइनके स्वाध्यायमें एक घंटा समय लगे, आपने वहां सबकुछ पाया, जब स्वका अध्ययन हुआ तब स्वाध्याय हुआ। सो जैसे कहा है—धन कन कंचन राजसुख, सर्वाहि सुलभ कर जान। दुर्लभ है संसारमें एक यथार्थ ज्ञान। याने सबकुछ मिलना सुलभ है, पर आत्माके सही स्वरूपका ज्ञान होना दुर्लभ है। तो इस मोक्षपाहुड़ ग्रन्थमें आचार्यदेव योगियोंको कह रहे कि हे योगी तू ऐसा निरख कि मेरा मेरे ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त तीनों लोकमें कहीं कुछ नहीं है। तू अपने में ऐसी स्वरूपकी भावना बना जिसके प्रतापसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है।

देवगुरुणं भक्ता णिव्येपरंपरा विचिंतिता।

ज्ञानरया सुचरित्ता ते गहिया मोखमग्गम्मि ॥८२॥

देवगुरुभक्त ध्यानरत सुचरित्र पुरुषोंकी मोक्षमार्गस्थिता—जो देव और गुरुके भक्त हैं, वैराग्यकी परम्पराका चितन रखते हैं, ध्यानमें रत हैं, उत्तम चारित्र वाले हैं वे पुरुष मोक्षमार्गमें तिष्ठे हुए माने गए हैं। मोक्ष नाम है अकेले आत्माके रह जानेका है। मोक्षमार्ग नाम है निज सहजस्वरूप जो परसे विवक्ति है, अपने आपके स्वरूपमें तन्मय है ऐसे इस अकेले आत्मस्वरूपको निरखते रहना, ऐसी जिनकी धुन बनी हो वे नियमसे देव और गुरुके भक्त होंगे। जो मुक्त हो गए हैं, केवलज्ञानी हो गए हैं वे तो हैं देव और जो मोक्षमार्गमें बढ़ रहे, चारित्रवंत हैं वे हैं गुरु। तो जिनको मोक्ष और मोक्षमार्गकी धुन हुई हो वे नियमसे देव और गुरुके भक्त होते हैं। जो देव गुरुके भक्त हैं वे मोक्षमार्गमें बढ़ते हैं, वैराग्यकी परम्पराका चिन्तन करते हैं, संसार, शरीर, भोगोंसे सहज उनके विरक्ति रहती है, किस पदार्थमें राग करना, किसी पदार्थका मेरेसे सम्बंध क्या? क्यों राग करना? कोई हेतु ही नहीं है ठीक। जीव अज्ञानवश राग करते हैं बाह्य पदार्थोंसे और राग जैसी कल्पनामें पाया हुआ दुर्लभ मानव जीवन गंवा देते हैं। आत्मतत्त्वकी सुध नहीं कर पाते। पर जो ज्ञानी जीव हैं वे सदा संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त रहते हैं। ध्यानमें रत, बाहरमें कहां जाना, कहां रमना, किसको प्रसन्न करना, किसकी अपनी कला दिखाना। कुछ भी सार नहीं है बाहर, इसलिए अपने आपका जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसके ध्यानमें ही रत रहते हैं, जिनका चारित्र सम्यक्चारित्र है, अपने आपके स्वरूपकी ओर जिनका उपयोग रहता है ऐसे पुरुष मोक्षमार्गमें रहते हैं। जिन जीवोंकी इसकी प्रवृत्ति नहीं, धर्मके नामपर यज्ञ करें, धर्मके नामपर पेड़ पृथ्वी नदी एकेन्द्रिय आदिक जीवों तक की पूजा करें, रागी द्वेषी जीवोंकी जो देव मानें, अपना

आदर्श समझें उनको वह मोक्षमार्ग कैसे प्राप्त हो सकता है ? मूल बात यह है कि जिसने अपने आपको सबसे निराला केवल ज्ञानमय अकेला निरखा है उसको धर्मपालन है, मोक्षमार्ग है, वह निर्वाण पायगा ।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।

सो होवि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

आत्मरत सुचरित्र योगियोंको निर्वाणका लाभ—निश्चयनयके मतमें जो आत्मा अपने आत्मामें अपने आत्माके लिए लीन होता है वह सम्यक्चारित्रवान कहलाता है और वह निर्वाणको प्राप्त होता है । कौन सा कार्य है ऐसा जो संसारके संकटोंसे छुटा दे । बाहरमें किसी पदार्थपर चित्त देना, उपयोग लगाना, ममत्व रखना यह तो कोई योग्य कार्य नहीं है जिससे संसार संकट छूटें । और यह आत्मा बाहरमें किसीके पास नहीं जाता, न किसीमें लीन होता, यह अपने अन्दर ही कल्पनायें बनाकर अपनी कल्पनामें बना रहता है । तो जब यह कुछ करता ही नहीं, अपने आपमें अपनी कल्पना करता है, अपने भावोंके सिवाय कुछ कर पाता नहीं तो वहां ही यह छांट कीजिए कि कैसे अपने भाव हों कि संसारसंकट कटें ? केवल आत्मस्वरूपमें ध्यान हो वह किसलिए ? आत्मकल्याणके लिए । होता कहां है ? अपने ही आत्मामें । तो जो आत्मा अपने आपमें लीन होता है वह सम्यक्चारित्र है । जो जितना आत्माकी ओर लगा है वह उतना चारित्रवान कहलाता है । जो बाहरी चारित्र हैं उनका भी प्रयोजन यह ही है कि यह आत्मा अपने आपके स्वरूपमें रहे । इस कारण बाहरी चारित्र भी चारित्र कहलाते हैं । तो निश्चयसे आत्मा केवल अपने भाव भर कर पाता है । भावोंके सिवाय और कहीं कुछ नहीं करता । दूकानमें हो, जंगलमें हो, उपदेशमें हो, पूजामें हों, किसी भी जगह हो, आत्मा अपने भाव ही बना रहा, दूसरे पदार्थका कुछ नहीं कर रहा । क्योंकि एक पदार्थ दूसरे पदार्थकी परिणति कर ही नहीं सकता । वह वस्तुस्वरूप है, निमित्त होना अलग बात है । निमित्त तो होते हैं परद्रव्य किन्तु परद्रव्य किसीकी परिणति करते नहीं हैं । एक कल्पना करो, अगर कोई पदार्थ किसी दूसरेकी परिणति करने लगे तो सब अटपट बात बन जायगी, कोई व्यवस्था ही न रहेगी । किसीने किसीका परिणमन कर दिया तो अब वह वह न रहा, दूसरा कुछ बन गया, और ऐसी गड़बड़ीमें फिर लोकमें कुछ भी वस्तु नहीं रहती । सबका अभाव हो जायगा, तो आत्मा केवल अपने भावभर करता है, अन्य बात कुछ नहीं करता । तो अब उस भावमें यह सुधार बनायें कि मैं

अपने भावोंमें अपने आत्माको ही ध्याऊं अथवा जो आत्मा सिद्ध हो गए हैं, ऐसे पर-मेष्ठी पुरुषोंको ध्याऊं, अन्य किसीमें मेरी शरणबुद्धि न होवे। इस तरहसे जो अपने आत्मामें आता है, ध्यान करता है, रत होता है वह है सम्यक्चारित्र। पहले तो आत्मा को पहिचानें भेद डाल डालकर, जिसमें ज्ञान दर्शन हो वह हूं मैं, जिसका आनन्दस्वरूप हो वह हूं मैं। पहिचानो, जो इस देह प्रमाण है वह हूं मैं, अनेक तरहसे पहिचानें आत्मा को, मगर जब आत्मामें लीन होनेको होगा तब ये विकल्प कुछ न रहेंगे, सिर्फ एक ज्ञानमात्र अपने आपको निहारेंगे याने गुणपर्यायके भेदसे परे केवल चैतन्यस्वरूप अपने आपको देखेगा और उसमें लीन होगा वह है सम्यक्चारित्र।

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदसणसमग्गो।

जो ज्ञायदि सो जो जोई पावहरो भवदि णिद्वंदो ॥८४॥

आत्माकी पुरुषाकारता व दर्शनज्ञानसमग्रता—पुरुषाकार याने अपने देहमें निरन्तर आत्माका अनुभव होना, यह जीव अमूर्त हैं, इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है और अखण्ड है, फिर भी जितना देह है उतने प्रमाण इसका विस्तार है। देह भी उतना बड़ा है मगर देह अखण्ड द्रव्य नहीं है। इसका छेदन भेदन हो जाता है, हिस्से हो जाते हैं, अलग-अलग दिख भी रहे हैं, और कितने इसमें द्रव्य हैं? देहमें जितने परमाणु हैं उतने द्रव्य हैं। अनन्तानन्त द्रव्योंका समूह है यह शरीर, मगर जीवमें एक-एक अखण्ड वह एक द्रव्य मिलकर नहीं बना है, सबको अपने आपमें मैं का अनुभव हो रहा। अहं-प्रत्ययवेद्य मैं हूं, सुखी हूं, दुःखी हूं, किसी भी प्रकारका अनुभव हर एक को चल रहा। वह मैं एक अखण्ड चैतन्यपिण्ड हूं और इस देह बराबर फैला हुआ हूं। दर्शन ज्ञान स्वरूप हूं, स्वभाव है यह जीवका। खुदमें जगमग और अन्यपदार्थोंकी फोटो आना ये दो बातें जैसे दर्पणमें देखी जाती हैं ऐसे ही मैं आत्मा अपनी खुदकी झलक वाला हूं, इसे कहते हैं दर्शन और अनेक बाह्य पदार्थोंका फोटो वाला हूं अर्थात् अनेक पदार्थोंका जानने वाला हूं, इसे कहते हैं ज्ञान। मैं दर्शन ज्ञानस्वरूपी हूं। खूब परखलो, इस आत्मा का किसी दूसरे जीवके साथ सम्बंध है क्या कुछ? भले ही लग रहा गृहस्थको घरमें रहकर कि मेरा यह पुत्र है, यह अमुक है, यह तमुक है, पर इस जीवका किसी दूसरे जीवके साथ कोई सम्बंध भी है क्या? कुछ भी सम्बंध नहीं, सर्व स्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता वाले जीव हैं, फिर कौन सी गुंजायस है ऐसी कि जो किसीको माना जाय कि यह मेरा है? जरा भी गुंजायस नहीं है, पर जिनके अज्ञान छाया है वे मानते हैं कि मेरे हैं।

मेरा तो मेरा स्वरूप है, अन्य कुछ नहीं है, यह मानता है ज्ञानी, वह स्वरूप है दर्शन-ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, इसका बाहरसे कुछ मतलब नहीं। अतएव ज्ञानी पुरुष बाहर में लोगोंसे अपने लिए कुछ नहीं चाहता। और दूसरोंकी लौकिक बढ़वारी देखकर, यश देखकर, श्री मंतपना देखकर ज्ञानी जीव कभी झुरता नहीं है, बल्कि उसके चित्तमें तो यह बात है कि ये लोग बड़े संकटमें पड़े हैं। जो नामवरीके चक्रमें हैं, नामवरीकी धुन में हैं वे पुरुष तो बड़े चक्करमें फंसे हुए हैं, यों निरखता है ज्ञानी। झुरना या ईर्ष्या करना यह बात तो होती ही नहीं ज्ञानीकी, क्योंकि वह जानता है कि बाहरी बातें, समागम, इस जीवके लिए असार हैं। मेरेको सार तो मेरा स्वरूपदर्शन है, वह स्वरूप है दर्शन ज्ञानस्वरूप।

दर्शनज्ञानसमग्र योगियोंकी पापहरता व निर्वन्धता—दर्शनज्ञानसमग्र ये योगी पुरुष पापको हरने वाले हैं। कैसे पापको हरते हैं योगी? जैसे एक म्यानमें दो तलवार नहीं समातीं ऐसे ही एक उपयोगमें शुद्धस्वरूप और पापकी बात ये दो नहीं समा सकते। जहां शुद्ध स्वरूप समाया हुआ है वहां पाप परिणाम होता ही नहीं है और जो संस्कार बना है वह भी नष्ट हो जाता है। सो पापको हरनेकी जरूरत नहीं है, किन्तु अपने स्वरूप में उपयोग जमानेकी जरूरत है, पाप स्वयं दूर हो जाता है। कर्मोंका क्षय करनेके लिए कर्मोंको कुछ देखना नहीं है, कर्मोंको कुछ कहना नहीं है, किन्तु अपने स्वरूपमें अपनी दृष्टि होनेसे ही वे कर्म स्वयं अपने आप क्षीण हो जाते हैं, सो ये योगी पापके हरने वाले हैं और निर्वन्ध हैं, द्वन्द्व रहित हैं। सीधा अर्थ है कि इसके उपयोगमें सिवाय आत्म-स्वरूपके दूसरी कोई बात सम्भव होती नहीं है, कोई दंद न रहा, दंद क्या चीज होती? दंदका कोई स्वरूप तो बताये कि दंद इसका नाम है। दूसरी चीजमें चित्त देना इसका नाम दंद है। दंदमें दूर होना है तो दूसरी चीजें ही चित्तमें न आये, केवल एक निज सहज चैतन्यस्वरूप अंतस्तत्त्व यही ध्यानमें रहे तो उसके दंद न रहा। तो ऐसे योगी पुरुष इस परमात्मस्वरूपका ध्यान करते हैं।

एयं जिणेहि कहिबं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु।

संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥८५॥

रत्नत्रयधर्मसे संसारसंकटविनाश—जिनेन्द्र देवने जो अपने उपदेशमें कहा है उस पर चलना यह श्रावकोंको और मुनियोंको अपनी सिद्धिका कारण है। वह मार्ग है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रिका एकत्व। इससे ही संसार संकट नष्ट होते हैं।

सद्बुद्धि आना बहुत दुर्लभ वैभव है। मान लो जो कुछ परिग्रहका ढेर है, जिसका जितना पास पड़ा है, पड़ा है, वह मान ही तो रहा है कि यह मेरा वैभव है। कहीं स्वरूपसे तो वैभव न बन जायगा उसका, और वह वैभव काम भी नहीं आनेका है। मनुष्य के काम तो दो रोटी और तन ढाकनेको दो कपड़े ये ही काम आ रहे, इसके अतिरिक्त जो कुछ किया जाता है वह तो स्वच्छदता है, उद्दण्डता है। बड़ी कोठी चाहिए, बड़ा साज सामान चाहिए, मोटर चाहिए, कभी कहीं गए कभी कहीं, स्त्रियोंको देख लो, उन्हें बीसों साड़ी चाहिए, दिनभरमें अनेक बार ड्रेस बदलना चाहिए। यदि सुबहकी साड़ी दोपहरको न बदल सकें तो इसमें अपना अपमान महसूस करतीं, तो यह सब क्या है ? यह तो मनका ऊधम है। और आवश्यक कितनी बात है ? वह इतनी बात है कि इतने साधन बना लिए जायें कि जीव टिका रहे। जीवन भी किसलिए टिके कि धर्म-साधना करते रहें। अपनी ओर से तो ऐसा विचार होना चाहिए कि कुछ पूर्वकृत पुण्य का उदय आया, और जितना जिसको समागम मिला, वैभव मिला वह उसकी व्यवस्था रखता है, पर आवश्यकता न जानें कि इतना वैभव हो तब मेरा कार्य बनेगा। मेरा कार्य वैभवसे नहीं बनता किन्तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र्यसे बनता है।

परोपकारसे लोकप्रतिष्ठाकी संभवता—बताओ धन जोड़कर लोग चाहते क्या हैं ? लखपती बनना, करोड़पती बनना, यह ही तो चाहते हैं कि दुनियामें मेरा नाम हो, या यह ख्याल बनाते हैं कि मुझे दो रोटी, दो कपड़े चाहिए ? अरे उनके मनमें तो यह बात है कि दुनियामें मेरा नाम बढ़े। सो अगर कोई भी धनी अपने काममें जितना आये उतना परिमाण रखकर और बाकी जितना अधिक वैभव हो उसे एक ट्रस्ट जैसा मानकर उसे परोपकारमें लगाये तो बताओ परोपकारमें धन खर्च करनेसे नाम बढ़ता है या जोड़नेसे ? अरे नाम बढ़ता है परोपकारमें धन खर्च करनेसे, सो विवेककी बात है। पहले कुछ राजा लोग हुए ऐसे जो ऐसा करते थे कि अपना जीवन चलानेके लिए थोड़ी सी खेती रख लिया या कोई छोटा सा दस्तकारीका काम कर लिया बाकी राज्यका सारा कोष प्रजाके लिए। उसमेंसे अपने लिए कुछ नहीं लेते थे, प्रजाका धन प्रजाके लिए खर्च करते थे। तो बताओ ऐसा करनेसे उनके यशमें कुछ कमी आयी क्या ? बल्कि उनका यश और भी अधिक बढ़ा। तो यश कहीं धन वैभव जोड़नेसे नहीं बढ़ता किन्तु परोपकारमें लगानेसे बढ़ता है। तो विवेक रखकर परोपकारमें धनको लगानेसे लाभ है। सो ये सब बातें भी जिनेन्द्रदेवने भूमिकानुसार बतायी है। ५ अणुव्रत कहा

मोक्षपाहुड़ प्रवचन

है उनमें यह ही त्यागचर्या बसी हुई है। मुनियोंको ५ महाव्रत कहा है उनकी इससे भी ऊँची चर्या है कि सर्व परिग्रहका त्याग करें, सर्व चिन्ताओंको त्यागें, अकेला अपना आत्माराम है। अपने आत्मतत्त्वकी उपासना है सो जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे हुए वचन मुनियों और श्रावकोंको ससारके नष्ट कराने वाले, दुःखोंको दूर करने वाले हैं और सिद्धिको प्राप्त कराने वाले हैं।

स्याद्वाद और अहिंसाके आश्रयका महत्त्व—अहिंसा—यह तो है आचरणकी चीज और स्याद्वाद यह है विचारकी चीज। विचार और आचारके अलावा मनुष्य करता क्या ? दो में ही तो बात बनाते हैं और दो ही करते हैं। विचार करेंगे, आचरण करेंगे, तो विचार तो स्याद्वादमय होना चाहिए। किसी एकान्तका हठ न हो किसी पक्षमें न जायें, सबका निर्णय निश्चय दृष्टिसे बनाना है, सामान्य दृष्टिसे यों, विशेष दृष्टिसे यों, विवाद वहां जरा भी नहीं रहता। द्रव्य दृष्टिसे जीव नित्य, पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य। स्याद्वादीको तो कहीं भी विवाद नहीं है और यह तो सर्व शासनोंका राजा है जिस किसीके भी पास पहुंचे, कोई भी दार्शनिक है। स्याद्वादके सामने उस एकान्ती दार्शनिक को झुकना पड़ेगा, मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप यह ही है। इस वक्त भी बहुत सी बातें सुननेमें आती हैं, विरोधकी बातें भी सुननेमें आती हैं। कोई कुछ कहता कोई कुछ, मगर अपना कर्तव्य उनके वचनोंमें जूझकर कल्पनाओंमें खो देना नहीं किन्तु उनकी दृष्टि पहिचानकर कि यह इस दृष्टिसे ऐसा कह रहा है, बस मध्यस्थ हों, विवादरहित हों और अपने आपके ध्यानमें आवें। तो विचारमें तो स्याद्वाद और आचारमें अहिंसा, अहिंसामें सब आ गया। घातका त्याग, आरम्भ परिग्रहका त्याग, चोरीका त्याग, ब्रह्मचर्यका पालन आदि ये सब अहिंसामें आ गए, क्योंकि अहिंसाका अर्थ है—अपने आपमें विकार न उत्पन्न होना, जिन विकारोंसे दर्शन ज्ञान चारित्र्यका घात होता है, वे कोई भी विकार न होने देना यह है अहिंसा। तो झूठ, चोरी, कुशील आदिक सारे पाप विकारमूलक हैं। जब अविकार स्वभाव ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वकी दृष्टि की कि अविकार ज्ञानस्वरूपको ही आपा माने तो वहां उसको कोई प्रकारका पाप नहीं रहता, तो ऐसे पापरहित मार्गके प्रवर्तनि वाले मुनिराजको और श्रावकोंको जिनेन्द्रवचन सिद्धि प्रदान करने वाले हैं। अगर वीर प्रभुकी वाणी और उससे चले आये हुए ये समस्त उपदेश आज न मिलते तो हम आप सब अंधेरेमें थे। अनादिसे जैसे विषयकषायोंमें जीव पलते हैं वही एक स्थिति थी, लेकिन आज हम आपका बड़ा सौभाग्य है कि श्रृंखला कुलमें जन्मे

हैं और श्रेष्ठ शासनका समागम मिला है, तो अपनेको ममत्वसे दूर करें और जैसा आत्माका स्वरूप है एकाकी स्वरूपमात्र उसकी श्रद्धा करिये और इस ही स्वरूपमें रमकर संतुष्ट होनेका निर्णय बनाइये । बाहर कहीं भी रम रमकर संतुष्ट नहीं हो सकते । मैं खुद-खुदमें समाऊँ इससे तो संतुष्टि है, ये सब बातें जिनेन्द्र भगवानके वचनोंसे प्राप्त होती हैं, सो यहां आचार्यदेव कह रहे कि सिद्धिका परम कारण है जिनेन्द्र भगवानके वचन, सो उस जिनवाणीको बड़े आदरसे निरखते हुए उन वचनोंपर चलनेका प्रयास करना चाहिए ।

गहिऊण य सम्मतं सुणिम्मलं सुरगिरीव निक्कंपं ।

त ज्ञाणे ज्ञाडज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥

दुःखप्रक्षयमें सुनिर्मल सम्यक्त्वके ग्रहणकी मूलकारणता—हे श्रावक अत्यन्त निर्मल, मेरु पर्वतके समान निश्चल सम्यक्त्वको प्राप्त करने तथा दुःखका क्षय करनेके लिए अपने ध्यानमें ही सम्यक्त्वका ध्यान करो । इस गाथामें श्रावक कहकर सम्बोधन किया है, श्रावकका अर्थ गृहस्थ भी होता है और मुनि भी होता है, पर व्युत्पत्तिसे श्रावक उपासकको कहते हैं, यह बात तो प्रसिद्ध ही है किन्तु धर्म श्रावपतिपत्तिइति श्रावकाः, जो धर्मका उपदेश करे, सुनाये उसे भी श्रावक कहते हैं । यद्यपि श्रावक शब्दसे सम्बोधन किया है तो वह गृहस्थ और मुनि दोनोंको सम्बोधन किया समझिये—चतुर्गति भ्रमण रूप दुःखका क्षय करनेके लिए सम्यक्त्वका ध्यान करें । कैसा निमित्त नैमित्तिक भाव है कि यह जीव विषय कषायोंके परिणाम करता है तो कर्म बंधते हैं, उन कर्मोंका उदय आता है तो ये दुर्गतियां प्राप्त होती हैं । मनुष्य मरा और मानो अब इस जीवको कोई और पर्याय मिली, मानो हाथी घोड़ा आदि हुए तो देख लो वह कैसे शरीरको ग्रहण करता ? कैसे अंगोंपांग ग्रहण करता, सारा ही ढांचा उसका बदल जाता । बताओ इसकी रचना करने वाला कौन है ? अगर एक ईश्वरको सबके रचनेका काम सौंप दिया जाय तो वह नहीं किया जा सकता और निमित्त नैमित्तिक भाव, इससे ओटो-मेटिक रचना होनेके काम होते रहते हैं । यह निमित्तनैमित्तिक भाव मान लिया जाय तो किसी भी जगह रचनामें दोष नहीं आ सकता । जहां जैसा निमित्त योग है वहां योग्य उपादानमें उस प्रकारकी रचना होती है, जैसे कर्म प्रकृतियोंका उदय है वैसी ही वहां देहादिककी रचना होती है । इसी प्रकार रत्नत्रयभाव होता है तो उसका निमित्त षाकर देह कर्म आदि सब दूर हो जाते हैं ।

देहबन्धन जैसे बलेशोंकी समाप्तिका मूल अवलम्बन सुनिर्मल सम्यक्त्वका ग्रहण—हम आप लोगोंकी कोई कठिन दुःख है तो यही दुःख है कि भगवान आत्मा होकर भी हम देहमें बंधे फिर रहे हैं। और एक देहमें ही नहीं, एक देहसे निपटते हैं, दूसरे देहमें बंधते हैं, और यह देहोंमें बंधना, जन्ममरण होना और वे भी कितने प्रकारके देह हैं? अनगिनते तरहके। और उन जन्म मरणोंमें चक्कर लगाना यह बड़ा कठिन दुःख है। आज पुण्य के उदयसे कुछ सुख साधन प्राप्त हुए हैं, इनमें मौज न मानना क्योंकि बड़ा कठिन दुःख तो सामने पड़ा है, उसको दूर करनेका पुरुषार्थ करना है। और थोड़े समयको कुछ मिले और मौज माने तो उसका फल नियमसे भोगना पड़ता है। बाह्य पदार्थोंमें लगाव रखनेका फल कष्ट ही है। एक तो जिन बाह्य पदार्थोंका लगाव रखते हैं वे मेरे पास सदाकाल रहें, यह ही बात कठिन है, सो उसका कष्ट मानना पड़ता है। कदाचित् रह भी ले साथ तो अन्तमें तो वियोग होगा, मरण होगा या अपने जीवनमें ही नष्ट हो जायगा तो उसका कष्ट मानना है। बाह्य पदार्थोंके लगावका फल सिर्फ कष्ट ही है, इस बातका गम्भीरतासे विचार करना चाहिए, और कोई इस जीवनमें ऐसा ज्ञानमयी कदम बढ़ाना चाहिए जिससे आत्माका कल्याण हो। मान लो जीते रहे, सुख दुःख भोगते रहे, लोगोंसे गप्पें मारते रहे, जीवन निकल गया, पायेंगे क्या फिर। आखिर मरण करके अकेले ही जाना पड़ेगा और जैसा इसने पाप पुण्य बांधा है उसका फल वैसा भोगना पड़ेगा। तो सबसे कठिन दुःख है संसारभ्रमण, उस दुःखका नाश करनेके लिए एक ही उपाय है कि निर्मल सम्यक्त्वको ध्याननमें लायें। अपना विचार, अपना ज्ञान बढ़ाये रहें, भाव दूषित न हो बस यही उपाय है भव भ्रमणके दुःखसे छूटनेका। सम्यक्त्वमें क्या बात पहिचानी जाती है? समस्त परसे निराला, ज्ञानमात्र स्वभाव वाला यह मेरा अंतस्तत्त्व है। मेरा सर्वस्व है, यह ही मैं हूं, अन्य कुछ मैं नहीं हूं और इसके आलम्बनसे इस ही में आत्मस्वरूपकी दृढ़ता करनेसे भव भवके बांधे हुए कर्म दूर होते हैं, इसको छोड़कर बाहरमें किसी भी पदार्थका आश्रय किया जाय, वह केवल कष्ट के लिए ही होता है। सो हे कल्याणार्थी पुरुष भवभ्रमणके दुःखसे छूटनेके लिए इस निर्मल सम्यक्त्वको ध्यानमें लावो। आत्माके स्वरूपमें शंका न हो। यह हूं मैं आत्मा अमूर्त ज्ञानस्वरूपी।

अचलित सम्यक्त्व पाकर सहजात्मस्वरूपके ध्यानसे दुःखप्रक्षय—कभी भी धर्मके प्रसंगमें किसी भी अन्य वस्तुकी चाह न करना। धर्मधारण करके अन्य वस्तुकी चाह न करना या

किसी लौकिक सिद्धि के लिए देवपूजा आदिक करना, तीर्थयात्रा आदिक करना यह मिथ्यात्वका पुष्ट करना है। कहनेको तो जरूर है यह बात कि अपने तीर्थपर जा रहा है मगर भाव चूंकि सांसारिक सुखको पानेका हैं, उस प्रयोजनसे जा रहा है इसलिए मिथ्यात्वको पुष्ट कर रहा है और एक बात यह सोचो सांसारिक बातोंकी चाहसे कुदेव को कोई पूजता हो तो उसके लिए तो उपाय है कि वहां से हटकर सुदेवकी पूजा करने लगे मगर कोई सांसारिक बातोंके लक्ष्यके प्रयोजनसे सुदेवकी पूजा करने लगे तो उसके लिए आगे और उपाय क्या रहा ? बहुत बड़ा पाप है मगर आज प्रायः बहुतसे लोग यात्रा, बंदन, पूजन, छत्र चढ़ाना और कुछ एक सांसारिक बातोंके प्रयोजनसे करते हैं कारखाना चले, चलो अमुक जगह हो आयें महावीर जी, पद्मप्रभु जी या अन्य जगह, ऐसे भावोंसे जो कोई तीर्थयात्रा करता, बंदन करता, पूजन करता, वह केवल मिथ्यात्व को पुष्ट कर रहा, तो उसमें कोई इसकी बात रखते हैं कि कमसे कम कुदेवके पास तो नहीं गए, अपनी सांसारिक मान्यताके लिए अपने ही मंदिरमें गए तो उसके दो उत्तर हैं ? एक तो यह कि सांसारिक सुखके लिए यदि कुदेवके पास जाता होता तो उसका निवारण किया जा सकता था कि वहां से हटकर अपने देवके पासमें आए पर वहां भी इस मिथ्यात्वको पुष्ट करे तो उसे और किस जगह ले जायेंगे ? एक तो यह समस्या है, दूसरी यह बात कि ऐसी श्रद्धा वाले पुरुषोंने महावीर स्वामीको कुदेव बना डाला। वह तो जो है सो ही है, पर जब कल्पनामें यह बात लाये कि ये मुझको अमुक अमुक चीजें दे देंगे, अमुक बच्चीकी शादी करा देंगे, मुकदमा जिता देंगे, ये मिथ्या व्यवहार है और उसकी बड़ी भक्ति भी करते हैं तो उसे अपनी कल्पनामें कुदेव बना डाला, क्योंकि जो रागी द्वेषी हो वह है कुदेव और इसको वह रागी बना रहा है। तीसरी बात यह है कि जो अमेरिका वाले या अन्य जगहों वाले लोग जो नहीं जानते आपके इन तीर्थ क्षेत्रोंको, अतिशय क्षेत्रोंको, न वे उन क्षेत्रोंमें कभी पहुंचे हैं फिर भी वे आप सबसे तो अधिक धनिक दिख रहे। चौथी बात यह है कि यह जैन शासन पाया था, इसलिए कि यहां कोई तत्त्वज्ञान बनाये और आत्म मनन करे, मोक्षमार्गकी बात बना ले, इसलिए जैनशासन पाया मगर विषयाभिलाषी पुरुषोंने मानो जैसे कौवाको भगानेके लिए कोई कीमती रत्न फेंके और वह रत्न समुद्रमें गिर जाय या जूठे बर्तन मांजनेके लिए चंदनकी कीमती लकड़ी काटकर उसे जलाकर राख बनाकर बर्तन मांजे तो जैसी उसकी मूढ़ता है ऐसे ही यहां भी मूढ़ता है कि ऐसे उत्तम जैन शासनको पाया और अपना उपयोग मोक्ष

मार्गका न बना सके और संसार मार्गका ही उपयोग किया, सो भाई कल्याण चाहिये हो तो सम्यक्त्वको निर्मल बनाओ । यह सम्यग्दर्शन जिसके उत्पन्न हुआ है वह मेरुके समान निष्कम्प अचल है, उसको कोई बहकाने वाला नहीं है, इसका कारण यह है कि उसने सहज निरपेक्ष आत्माके चैतन्यस्वरूपके अनुभवमें अलौकिक आनन्द पाया है । कोई मिष्ठ भोजन करे, उसका स्वाद ले ले और कोई बहकाये कि वह तो कड़वा है । खराब है तो वह बहक तो नहीं सकता क्योंकि उसने अनुभव पाया है कि यह तो बड़ा मिष्ठ है और लाभदायक है तो ऐसे ही अपनी सत्ताके ही कारण अनादि अनन्त सहज चित्प्रतिभासमात्र अपने आपको स्वीकारा है और इस ही रूप अपनेको निरन्तर देखता है तो उस देखनेमें विचित्र अलौकिक सहज आनन्दका अनुभव किया है अब उसे कौन बहका सकता ? वह सम्यग्दृष्टि पुरुषका निश्चल है सम्यक्त्व, मेरुके समान, ऐसे इस सम्यक्त्वको निरतिचार ध्यानमें लावो ।

सम्मत्तं जो ज्ञायवि सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।

सम्मत्तपरिणवो उण खवेइ दुट्ठदुट्ठकम्माणि ॥८७॥

सम्यक्त्वध्याता व सम्यक्त्व परिणतके दुष्टाष्टकमंप्रक्षय—जो जीव सम्यक्त्वका ध्यान करता है याने सम्यक्त्वके विषयका ध्यान करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है । सम्यग्दर्शनका विषय क्या है ? स्वयं सहज रहने वाला स्वरूप, मैं सत् हूं, हूं मेरा स्वरूप ही तो है अपने आप सहज सिद्ध । उस स्वरूपमें यह मैं हूं, ऐसा श्रद्धान, ऐसा अनुभव, ऐसी ही प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है । अब विपरीत रूपको देखिये—मैं अमुकका पिता हूं, पुत्र हूं, इस रूपसे श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है, क्योंकि मैं एक अमूर्त ज्ञानस्वरूप वस्तु हूं और निरन्तर ज्ञानरूपसे परिणमता रहता हूं । मेरा कोई कुछ दूसरा नहीं है, मेरा तो मैं यही मात्र हूं, अपने बारेमें जिसको ऐसी श्रद्धा हो कि मैं इस परिणति वाला हूं, इस पर्यायरूप हूं उसको मिथ्यात्व समझिये । श्रद्धाकी बात है और इस मिथ्यात्वके रंगमें कितनी बातें आ जातीं जिनकी गिनती करना कठिन है । थोड़ा समझिये मैं गृहस्थ हूं, अमुक नगरका रहने वाला हूं, मैं जैन हूं, मैं धर्मपालन करने वाला हूं, मैं श्रावक हूं, मुनि हूं, मैं ऐसी ऐसी तपस्याओंको किया करता हूं आदिक जितने भी ये श्रद्धान हैं वे सब मिथ्यात्व कहलाते हैं, क्यों कहलाते ? श्रद्धा यह होना चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र भगवान् आत्मा हूं, फिर आप एक बातका प्रश्न कर सकेंगे कि ऐसी ही श्रद्धा रखते हुए भी जब तक घरमें रह रहे हैं, समाजमें रह रहे हैं तब तक और और भी व्यवस्था

प्रबंध पद भी तो बोले जाते हैं। मैं श्रावकधर्ममें हूं, मैं मुनि धर्ममें हूं, हां बोले जाते, पर उनके प्रति यह श्रद्धा रहे कि मैं इन परिस्थितियोंसे गुजर कर चल रहा हूं तब तो सम्यक्त्वमें बाधा नहीं आती। मैं मुनिपदमें गुजरकर चल रहा हूं, हूं मैं अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा, और इस परिस्थितिमें गुजर कर भी उसका प्रयोजन है, लक्ष्य है इस अमूर्त ज्ञानमात्र आत्माको ध्यानमें लेनेका। यह तो एक गुजारा है, परिस्थिति है, जीवन तो चलाना है काहे के लिए? संयम साधनाके लिए। गृहस्थ अपने जीवनका निर्वाह करते हैं त्रिवर्गकी साधना करके पालनपोषण कमाई, कुछ धार्मिक संस्कार, व्यवस्था गुरु सेवा आदिक करके और मुनि गुजारा करता है समिति पालन करके भिक्षावृत्तिसे आहार करके, या जो जो भी व्रत बताये गए उनको भली भांतिसे पालन कर मुनि भी गुजारा करता है, यह स्वयं धर्म नहीं किन्तु गुजारा करनेकी विधि है तब स्वयं धर्म क्या है? आत्माके सहजस्वरूपका दर्शनज्ञान और स्वरूपमें रमण, यह है धर्मपालन। देखो श्रावक के गुजारेकी जो पद्धति है वह श्रावकके लिए अच्छी है, क्योंकि उस पद्धतिसे गुजारा करते हुए श्रावकोंको आत्मध्यानके मौके मिलते रहते हैं और मुनियोंको जो गुजारेकी पद्धति चरणानुयोगमें कहा है वह मुनियोंके लिए उत्तम है, क्योंकि ये धर्मपालनमें बहुत बड़े होते हैं, और ऐसा ऊंचा धर्मध्यान उनको इस प्रकारकी निरपेक्ष वृत्तिसे गुजारा करनेमें ही सम्भव है, पर धर्मपालन तो स्वभावदृष्टि है, दूसरी चीज नहीं है, यही श्रावकके लिए, यही मुनिके लिए। सो हे कल्याणार्थी पुरुष यह सम्यग्दर्शन अमूल्य माणिक्यके समान है। जो जीव निरन्तर इसका ध्यान करते हैं वो सम्यग्दृष्टि होते हैं और सम्यक्त्वरूपसे परिणत होकर अष्टकर्मोंका विनाश करते हैं।

संकटहीन अविकारस्वभाव ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे संकटमुक्ति—बाहरी पदार्थों का संयोग वियोग करनेसे संकट नहीं मिटते। एक संकट मिटानेका प्रयास किया तो दूसरा संकट हाजिर। लोग जीवनमें संकट दूर करनेका पुरुषार्थ करते हैं पर उनके संकट दूर नहीं होते। संकट दूर करनेका केवल एक ही उपाय है, संकटहीन, विकारहीन, स्वरूपमात्र, अपने सत्य स्वरूपकी प्रतीति करना कि मैं यह हूं, लो सारे संकट दूर हो गए। जब तक ममत्त्व है तब तक संकट है। बाह्य वस्तुमें ममत्त्व न रहा तो संकट भी न रहे, गृहस्थ भी ममत्त्वको छोड़कर गृहस्थीमें रह सकता। हां प्रेम और रागका व्यवहार किए बिना गृहस्थीमें नहीं रह सकता, पर ममताको छोड़कर तो बराबर रह सकते। वस्तु स्वरूपसे यह समझलें कि प्रत्येक आत्मा अपनी-अपनी सत्तासे ही है, दूसरे

की सत्तासे नहीं है, इसलिए एक का दूसरा कुछ नहीं है, यह सही बात जिन्होंने मान ली उनकी ममता खतम होती है। अब चूंकि घरमें रह रहे हैं तो प्रेम व्यवहार बिना नहीं रह सकते, सो प्रेम व्यवहार तो गृहस्थीमें होगा, पर जो ममता रखेगा उसको बड़ा कष्ट है, जिसको ममता नहीं उसको कष्ट नहीं होता। सो कष्टरहित, विकार रहित जो सहज ज्ञानस्वभाव है उस रूप अपनेको मानो। बात यह कही जा रही है कि अपने को अमुक कुटुम्ब वाला, अमुकका बाप, अमुकका लड़का, अमुक मोहल्ले वाला, ऐसी सोहबत संगत वाला, यह सब मत मानो। यहां तक कि अपनेको मनुष्य तक मत मानो। देखो जगतके अन्य लोग मानव धर्मकी बड़ी महिमा बताते हैं, सो वह ठीक है। जो दानव बन रहा, जो खोटे आचरणमें चल रहा उसकी अपेक्षा मानव धर्म अच्छा है, मगर मुक्ति पानेके लिए अपनेको मानव धर्ममें बनाये रखना, अपनेको मानव समझना यह बाधक है। मैं मनुष्य नहीं हूं, मैं ज्ञानस्वरूप भगवान् आत्मपदार्थ हूं, यह मनुष्यपना तो मिट जायगा, आगे न चलेगा, मैं आगे चलूंगा तो ऐसी भोतर दृष्टि करके अपने आत्म-तत्त्वको निरखना है। उसीके आलम्बनसे संसार भ्रमणका यह कष्ट दूर हो सकता है।

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।

सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहणं ॥८८॥

सिद्ध और सेत्स्यमान जीवोंकी सिद्धिमें सम्यक्त्वका मूल आश्रय—अधिक कहनेसे क्या फायदा ? भूतकालमें जितने भी श्रेष्ठपुरुष सिद्ध हुए हैं और आगामी कालमें जितने भी पुरुष सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्वका माहात्म्य जानिये। जो बात सम्यक्त्वमें होती है उस ही की अनुभूति रखना, उसमें ही उपयोग रमना यह ही सम्यक्चारित्र कहलाता है। तो चूंकि विषय एक है, स्थिरताकी बात है चारित्रमें तो विषयकी एकता होनेसे वह सब सम्यक्त्वका माहात्म्य बताया है। जो जीव सम्यक्त्वसे दूर है, शरीरको आत्मा मानते हैं, विषयकषायको अपनी करतूत मानते हैं, उनसे अपना बड़प्पन समझते हैं उनको तो पात्रता ही नहीं कि वे धर्मपालन कर सकें। जो मिथ्यात्वसे दूर हैं, जिनकी दृष्टिमें सहज सिद्ध आत्मस्वरूप बना हुआ है वे पुरुष निर्वाणको प्राप्त हुआ करते हैं। कितने जीव अब तक मोक्ष गए हैं, उनकी गिनती यदि कुछ जानना हो अनुभवसे तो यों जानो कि सबसे कम जीव मनुष्य गतिमें है, उनसे असंख्यातगुने नरक गतिमें हैं, उनसे असंख्यातगुने देवगतिमें हैं, उनसे असंख्यातगुने सब त्रस जीव हैं, उनसे असंख्यात-गुने निमोदिया जीवोंको छोड़कर बाकी सब स्थावर जीव हैं और उनसे अनन्तगुने सिद्ध

महाराज हैं, अब समझो सिद्ध भगवानकी कितनी संख्या है और सिद्ध भगवान गुने निगोदिया जीव हैं, नहीं तो यह प्रश्न आ जायगा ना। तो सिद्ध तो सबसे अधिक रहे, और बाकी सिद्धसे पहलेके जो जीव हैं वे भी सिद्ध हो जाये तो फिर संसारमें कौन रहेगा? सिद्धसे अनन्तगुने निगोद जीव हैं और इतने अनन्त गुने हैं कि एक शरीरमें जितने निगोद जीव हैं अभी तक जितने सिद्ध हुए उनसे अनन्त गुने हैं। फिर उनका शरीर बहुत सूक्ष्म, मतलब यह कि निगोद जीव अनन्तानन्त है और उनमें से ६ महीना ८ समयमें ६०८ जीव निकलते हैं और उनमें जिनका भवितव्य ठीक है वे साधना बनाकर आत्म उपासनाके बलसे निर्वाण पाते हैं। तो जिन्होंने निर्वाण पाया और जो निर्वाण पायेंगे सो सब सम्यग्ज्ञानका माहात्म्य जानना, जिनके सम्यक्त्व नहीं है और घरमें चाहे कितना ही सुख हो, पर वह सब बेकार है। कैसे ही वैभवका सुख हो, कुटुम्बका सुख हो, बड़ा आराम हो, इज्जत हो और सम्यक्त्व नहीं है तो उस जीवका सब समागम बेकार, क्योंकि थोड़े दिनोंको इतरा लिया और मरणके बाद फिर वही संसारभ्रमण बना रहेगा, उनके इस पुण्य समागमसे कोई लाभ न होगा। और जिनके सम्यग्दर्शन है वे किसी भी परिस्थितिमें हों, धनी हों, राजा हों, निर्धन हों, साधारण हों, उन्हें अपने ज्ञानमाहात्म्यसे शान्ति बनी रहती है, मोक्षमार्ग बना रहता है, उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है, इससे अपनी भावना यह रखें कि हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, बाहरी बातें तो कर्मोदयके अनुसार मिलती हैं, उनमें अधिक चित्त नहीं लगाना है। चित्त लगाना है तो उस तत्त्वज्ञानमें जिसके ज्ञानके बलसे सम्यक्त्व पाकर सम्यक्चारित्र्य पाकर मुक्ति प्राप्त हो।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।

सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहि ॥८९॥

स्वप्नमें भी मलिन न होनेवाले सम्यक्त्वके धारकोंकी धन्यता, कृतार्थता व शूरता—

वे पुरुष धन्य हैं, कृतार्थ हैं, सूरवीर हैं, पंडित हैं जिन्होंने इस सिद्धिदायी सम्यक्त्वको स्वप्नमें भी मलिन नहीं किया। सम्यक्त्वकी मलिनताका अर्थ है अपनी श्रद्धामें कमी आना या कुछ अतिचार लगना, यह सम्यक्त्वकी मलिनता कहलाती है मगर जो ज्ञानी पुरुष हैं, दृढ़ निश्चयी हैं वे सम्यग्दर्शनको मलिन नहीं करते। कितने ही कारण आये, संसार उनकी दृष्टिमें सारभूत नहीं जचता। दुनियाका कोई पदार्थ इसे शरण नहीं लगता। एक बार एक सेठने अपनी सेठानीसे कहा कि मैं तो नन्दीस्वर द्वीप जाऊंगा

वन्दना करनेके लिए तो सेठानी बोली आप वहां कैसे जा सकते हैं, वहां मनुष्य नहीं जा सकते । तो सेठ बोला—मैं तो जाऊंगा, चलता ही जाऊंगा, मुझे वहां जानेसे कौन रोक सकेगा ? तो स्त्री बोली—मानुषोत्तर पर्वतसे आगे मनुष्यकी गति नहीं है । आखिर वह सेठ न माना, और चल दिया । चलते-चलते जब मानुषोत्तर पर्वत आया और आगे बढ़नेकी कोशिश की तो पर्वतका धक्का लगा और वहीं वह मर गया । मरकर देव हुआ । देव होकर नन्दीस्वर द्वीपकी वन्दना करने गया । वहां उसे एक कौतूहल सूझा, क्या कि मुझे अपनी पूर्वभवकी सेठानीके पास पहुंचकर उसके श्रद्धानकी परीक्षा लेना चाहिए । सो वही सेठका रूप रखकर पहुंचा उस सेठानीके पास और बोला—देखो मैं नन्दीस्वर द्वीपकी वन्दना करके आ गया, तुम तो कहती थी कि वहां जा ही नहीं सकते पर मैं तो वन्दना कर आया । तो सेठानी बोली तुम गलत कहते हो । ...नहीं नहीं, तुम जो चाहे वहां की बात पूछ लो, हम सब देखकर आये । तो सेठानी बोली—यदि तुम सही बोलते हो तो तुम इस समय वह सेठ नहीं हो, तुम कोई देव हो, पर सेठका बाना रखकर आये हो । आखिर सेठानीके दृढ़ श्रद्धानकी सराहना की और अपना सही रूप प्रकट कर अन्तर्ध्यान हो गया । तो जिसे सही श्रद्धान हो गया उसे कोई श्रद्धानसे विचलित नहीं कर सकता । ज्ञानी पुरुष स्वप्नमें भी सम्यक्त्वको मलिन नहीं करता । उसे अपने आपके बारेमें एक निर्णय रहता है कि मैं अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं और उसका प्रति समय बस ज्ञानकी तरंग चलना यही काम है । पुरुष नहीं, स्त्री नहीं, व्यापारी नहीं, अमुकचंद नहीं, कुटुम्ब वाला नहीं, श्रावक नहीं, मुनि नहीं किसी भी परिस्थितिमें हो, ज्ञानीपुरुष पर्यायमें आत्मपना स्वीकार नहीं करता । श्रद्धा उसकी प्रबल है कि मैं तो अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मपदार्थ हूं, ज्ञानस्वरूप जिसका कार्य है जानना, जिसका फल है निराकुल रहना, इससे आगे कुछ नहीं, लोग दुःखी होते हैं तो बनावट करके दुःखी होते हैं, कल्पनायें करेंगे, वस्तुस्वरूपके विरुद्ध विचार बनायेंगे और दुःखी होते रहेंगे । अब जो समागम मिले उन्हें समझ डाला नित्य, और हो जाता है वियोग तब दुःखी होते हैं । तो झूठा श्रद्धान रखा तब दुःखी होना पड़ा । सही श्रद्धान रहे तो वहां दुःखका नाम नहीं ।

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसबज्जिए देवे ।

जिगग्गे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥६०॥

अहिंसामय धर्ममें श्रद्धान होनेकी सम्यक्त्वरूपता—सम्यक्त्व कहां बनता है इसका

वर्णन इस गाथामें किया। हिंसारहित धर्ममें श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। धर्म हिंसारहित है याने अहिंसामय है, जिनके यहां बलिकी पृथा है उनके यहां हिंसारहित धर्म कहां रखा है। हिंसामें धर्म तहीं, धर्म तो अहिंसारूप है, अर्थात् आत्मामें किसी प्रकार का विकार न होना, केवल एक शुद्ध चेतनामात्र ज्ञातादृष्टा रहना यह है अहिंसाका पूरा रूप। इस स्थितिको धर्म माने वहां सम्यक्त्व है।

प्रभुकी क्षुधातृषाजरादोषरहितता—१८ प्रकारके दोषोंसे रहित देवमें श्रद्धान होना सम्यक्त्व है। १८ दोष कौनसे हैं? रत्नकरंडमें बताया है—क्षुत्पिपासाजराङ्गमोहान्त-कभयस्मयाः आदि। क्षुधादोष भगवानके क्षुधादोष नहीं होते। केवलज्ञान होनेपर भगवान होते हैं, भगवान आहार नहीं ग्रहण करते। कल्पना करो कि यदि भगवान आहार लेवें, कौर उठावें, मुखसे चबावें, उसे गुटकें तो यह वृत्ति उनकी दीनता सिद्ध करती है, कायरता सिद्ध करती है। भगवान अनन्त बलके धनिक हैं, उनके क्षुधा दोष नहीं है। अनेक लोगोंने ऐसे भी देव मान रखा कि अमुक देवने अमुक जगह मांस भक्षण किया, कभी नहीं खाया, कभी कुछ खाया, इसके सम्बंधमें अनेकों कथानक भी गढ़ दिये, पर यहां बता रहे कि जो सच्चा देव होगा उसमें क्षुधाका दोष नहीं होता। भगवानके क्षुधा नहीं होती। केवलज्ञान होनेके बाद करोड़ों वर्षों तक भी अरहंत भगवान रहते हैं लेकिन उनके क्षुधा तृषाकी वेदना नहीं होती। उनमें अनन्त बल होता, शरीर उनका स्फटिककी तरह स्वच्छ होता जिसमें किसी प्रकारका दोष नहीं होता, भगवानके बुढ़ापा भी नहीं आता। मानलो कोई वृद्ध पुरुष केवलज्ञान हो जानेसे भगवान बन गया तो वहां वह बुढ़ापा न रहेगा। नहीं तो कोई भगवान बूढ़ा नजर आये तो वहां भगवत्ता नहीं प्रकट होगी। केवलज्ञान होनेपर शरीर पूर्ण युवाकी तरह भरा पूरा हो जाता है। मान लो किसी मुनिके हाथ पैर वैगरह किसी अंगमें चोट लग जाय, कोई अंग सूज जाय अथवा कोई अंग बिगड़ गया हो तो वहां वे सब देहके ऐब खतम हो जाते हैं और सुन्दर रूप हो जाता है, पर कोई पुरुष वृद्ध है, बुढ़ापेसे ग्रस्त है वह देव नहीं।

प्रभुकी रोग जन्म, मृत्यु, भय दोषरहितता—प्रभुके रोग नहीं होता, उनका शरीर निगोदरहित स्फटिक मणिकी तरह आरपारदर्शी होता, इस कारण उनके शरीरकी छाया भी नहीं पड़ती। जैसे स्फटिकमणि धूपमें रख दी जाय तो उसकी छाया नहीं पड़ती ऐसे ही भगवानका शरीर स्फटिकमणिकी तरह स्वच्छ हो जानेसे उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती। प्रभुके अब जन्म नहीं होते। तबसे लोग तो प्रभुका अवतार

मानते हैं ईश्वरने अब अमुकका अवतार लिया । अरे जो प्रभु हो गए वे अब अवतार नहीं लेते । अवतार तो उतरनेका नाम है । प्रभु उतरते नहीं हैं, नीचे नहीं आते हैं, वे जन्मसे रहित हैं, और मृत्यु भी उनके नहीं होती । यद्यपि आयुका क्षय होता है, निर्वाण प्राप्त होता है, पर मृत्यु मानते हैं उसको कि जिसके बाद जन्म हुआ करते हैं । जन्म तो उनका होता नहीं इसलिए मृत्यु भी नहीं होती । प्रभुमें भय नहीं होता, अनेक देवा-गनावोंकी ऐसी कथायें बनी हैं कि ये अमुकसे डर गए, जैसे कोई भस्मासुरसे डर गये, इत्यादि बताया है, पर प्रभुमें भयका काम नहीं । प्रभु अरहंत चेष्टा नहीं करते, राग प्रवृत्ति नहीं करते, प्रभु रागद्वेषरहित वीतराग हैं, प्रभुके भय नहीं है । जिनके भय नहीं है वे हथियार नहीं रखते । और कोई देव त्रिशूल रख रहा, कोई चक्र रख रहा कोई तलवार रख रहा, तो वह क्यों रख रहा ? जब उसे कोई प्रकारका भय है तब ही तो रख रहा, वीतराग परमात्मा निर्भय होता है इसलिए वह शस्त्रादिकसे रहित होता है ।

प्रभुकी विस्मयरागद्वेष दोषरहितता—प्रभुको कभी आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्दरस लीन । प्रभुका यह स्वरूप है कि वे समस्त ज्ञेयों को जान रहे फिर भी अपने आनन्दरसमें लीन हैं । उन्हें तीनों लोक सब ज्ञात हो रहे हैं फिर आश्चर्य किस बातमें हो ? आश्चर्य होता है उन मनुष्योंको जिनको ज्ञान नहीं है और कुछ अनहोना सा देखने लगे, प्रभुके लिए कुछ भी अनहोना नहीं दिखता । प्रभु रागसे रहित हैं, प्रभुकी चेष्टायें नाना तरहकी नहीं होतीं, जो एक अरहंतका स्वरूप है, अरहंतकी जो वृत्ति है, बस बिराजना, उपदेश देना, विहार होना आदिक, यह होता है सबका । उनमें भिन्न-भिन्न वृत्तियां नहीं है जबकि लौकिक पुरुषोंने कैसे-कैसे कथानक बनाये हैं अपने देवताओंके बारेमें । किसीका देवता अपनी स्त्रीके आधे शरीरमें पहुंच गया या आधे शरीरको धारण कर रहा, किसीने अपनी जटाओंमें नदी समुद्रको बांध रखा, किसीको कुछ प्रिय है, स्त्री भी रखे हैं, सूर्य, चन्द्रको भी भगवान मानते और बताते वे अपनी देवियोंमें रमण करते हैं, उन सबमें राग पाया जाता है पर वीतराग भगवानके राग भाव नहीं है, उनके द्वेष भी नहीं होता । वीतराग हैं, जबकि लौकिक पुरुष अपने देवताओंका ऐसा चरित्र बतलाते कि जिनमें द्वेष स्पष्ट रहता है । किसीने कोई नगर जला दिया, किसीने किसीको मार डाला । यों कितने ही मारनेके प्रसंग वाले कथानक आते हैं देव माननेके, पर प्रभुका काम केवल विराजना, विहार करना, दिव्यो-पदेश करना है । प्रभुमें और खटपट नहीं होते ।

प्रभुकी मोहचिन्तनादि सर्वदोषरहितता—प्रभु मोही नहीं होते, कुछ लोगोंने देवताओं के ऐसे कथानक घड़े कि उसका उससे बड़ा मोह था, पुत्रसे मोह था, अमुकसे बड़ा स्नेह था आदिक और उसे देवता कहते, पर वह देवता नहीं है। साधारणसा कुछ लौकिकता में चढ़ा हुआ वह पुरुष है, लोगोंने प्रसिद्धि कर रखा कि यह देव है। प्रभुको चिन्ता नहीं होती, क्योंकि उनका काम बस ज्ञातादृष्टा रहना है, किसी वस्तुसे उन्हें प्रयोजन ही नहीं, जबकि लौकिक पुरुष अपने देवताओंकी बड़ी चिन्ता दिखाते हैं। अमुकको मारनेकी चिन्ता, अमुकको रचनेकी चिन्ता, अमुकको सुखी दुःखी करनेकी चिन्ता आदि, पर जिसके चिन्ता है वह भगवान नहीं। भगवान तो केवलज्ञानी होता है और अपने सहज सुखमें लीन रहता है, प्रभु क्रीड़ा नहीं करते, जो क्रीड़ा करे वह देव नहीं है, देव तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्तिमय होता। प्रभुके निद्रा नहीं होती। उनकी पलक न तो पूरी खुली हुई होती न पूरी मुंदी हुई होती और न वह पलक गिरती उठती है, एक समान रहती है। कैसी स्थिरता है प्रभुकी और कैसी वीतरागता है जबकि अनेक लोगोंने अपने देवताको किसीको कैलास पर्वतपर सोने वाला बताया है, किसीने जलमें नागपर सोने वाला बताया, निद्रामें बताया, पर प्रभुके निद्रा कभी नहीं होती। उनके विषाद आदिक कोई दोष नहीं हैं, ऐसी प्रभुकी श्रद्धा करना यह सम्यक्त्व कहलाता है।

निर्ग्रन्थ गुरुमें व परमागममें श्रद्धान होनेकी सम्यक्त्वरूपता—अहिंसामय धर्ममें व १८ दोषोंसे रहित देवोंमें श्रद्धान होना सम्यक्त्व है। इसी प्रकार निर्ग्रन्थ गुरुका श्रद्धान होना सम्यक्त्व है। गुरु निर्ग्रन्थ ही होते हैं, जिनके भीतर किसी प्रकारकी गांठ नहीं, ममता नहीं, केवल एक आत्माकी ही धुनमें है, सर्व परिग्रहोंके त्यागी हैं ये ही मोक्षमार्गके गुरु हैं, ऐसा श्रद्धान सम्यक्त्वमें होता है। और स्याद्वादमय वचन ही वास्तविक आगम हैं, उसका श्रद्धान सम्यक्त्व है। देखिये जो पदार्थ होते हैं वे सदा रहते कि नहीं। मेरा कभी मूलतः नाश नहीं होता, लेकिन पर्याय भी समय समयपर बदलती रहती है। याने कुछ भी हो, उसमें सदा रहना और पर्याय बनना ये दो बातें होनी ही पड़ती हैं। अगर पर्याय न बनें तो वस्तु ही न रहेगी, अगर सत्ता न रहे तो पर्याय बदलना न बनेगा। तो वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, द्रव्यांश तो सदा रहने वाला और पर्याय बदलने वाला होता है। सो जब वस्तु ही द्रव्यपर्यायात्मक है तो बातें दो-दो प्रकार दिखेंगी हर एक वस्तुमें, द्रव्य दृष्टिसे भी, पर्यायदृष्टिसे भी। स्वरूप ही ऐसा है, कहीं वहाँ संदेह या

अज्ञानकी बात नहीं है, सब जीव नित्य हैं क्योंकि द्रव्य दृष्टिसे सदा रहते हैं, जीव अनित्य हैं क्योंकि पर्याय दृष्टिसे ये बदलते रहते हैं। तो अब जो भी वचन उपदेश होगा वह स्याद्वादसे गर्भित होगा। तो ऐसा जो प्रवचन है, आगम है, प्रभुका उपदेश है उसमें श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने सम्यक्त्वको कभी स्वप्न में भी मलिन नहीं करता।

जहजायरुवरुवं सुसंजयं सब्वसंगपरिचत्तं ।

लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तत्ससम्मत्तं ॥६१॥

गुरुकी यथाजातरूपता—जो ऐसे गुरुचिन्हको मानता हो याने गुरुको मानता हो उसके सम्यक्त्व है। यह बात इस गाथामें कहते हैं, कैसे हैं वे गुरु? कैसा है वह गुरुका लिङ्ग? यथाजातरूप। जैसे कि बालक उत्पन्न हुआ उस बालकका बाह्यस्वरूप, कुछ भी साथ नहीं है, एक धागा भी नहीं है। मां के पेटसे निकला, वहां उसके पास क्या है? कुछ नहीं। तो जैसे बालकका बाह्यपरिग्रहसे रहित रूप है, ऐसा रूप होता है गुरु महाराजका। जो मोक्षमार्गमें चल रहे हैं, रत्नत्रयकी आराधना कर रहे हैं। गुरुका स्वरूप ऐसे बाह्य पदार्थोंके सम्पर्कसे रहित होता है। भीतरकी बात स्थूल रूपसे परखना। जैसे बालकमें मोयाचार नहीं, ममता नहीं, जैसे वह भीतरमें निष्कपट है ऐसे ही भीतर गुरु भी निष्कपट है। यद्यपि बालकमें भीतरमें दोष बहुत हैं मगर यह एक मोटे रूपमें प्रसिद्धि है, पहिचान है, उस अनुसार जानना, यहां परमार्थतः जानना गुरुओंमें। देखा जाता है कि छोटे बालक कपटरहित होते हैं। जैसे ही वे बड़े होते हैं और अपने बाप, चाचा, बाबा आदिककी संगतिमें रहकर कुछ चतुर बनते हैं तो उनमें कपट आने लगता है, ममता आने लगती है, परिग्रह जोड़नेकी बुद्धि बन जाती है, झूठ बोलनेकी भी आदत पड़ जाती है, ये सब बातें उनमें आ जाती हैं। तो जैसे यहां देखा जाता है कि छोटी उम्रमें सरलता रहती है और जैसे उम्र बढ़ती है वैसे वैसे उसमें कठोरता आने लगती है। तो बालकका दृष्टान्त दिया और वह भी यथाजात बालक उसकी तरह जिसका रूप है, गुरुका यह चिन्ह है। गुरु तो तैयारीके साथ मुनि बने हैं कि मेरा कुछ नहीं है अब दुनियामें। वे दुनियामें कहीं भी अपना कुछ नहीं चाहते। केवल आत्माको निरख निरखकर आत्माकी दृष्टि कर करके अपने आपका विकास भर करते रहते हैं। उनका कोई दूसरा लक्ष्य नहीं है, ऐसा भाव कि मेरी प्रसिद्धि हो, नाम हो, फोटो हो या रास्ते का बड़ा आराम हो, किसी तरहकी तकलीफ न हो, ये बातें मुनिको हू भी नहीं

सकतीं । उसके तो केवल एक ही धुन रहती है । किसलिए मुनि बने ? इसलिए कि ज्ञानी मुनिने अपने आपमें निर्णय कर रखा था कि आत्मामें लीन हुए बिना संसारके संकट दूर नहीं हो सकते, ओर उसे गृहस्थीमें लगी बड़ी बाधायेँ झंझट मालूम हुईं और आत्मस्वरूपमें लीन होनेके पौरुषमें विघ्न बहुत आ रहे हैं तो वह आत्मतत्त्वका ऐसा धुनिया है कि सारे इन बाह्य परिग्रहोंका वह त्याग कर देता है । तो जिसका यथाजात रूप है वह है गुरुलिङ्ग ।

गुरुकी सुसंयतता, समता व सर्वसंगपरिमुक्तता—सुसंयत भले प्रकारसे अपने आपमें नियंत्रित है, स्वच्छंद नहीं है । इसका दूसरा नाम है द्विज । द्विज कहने लगे हैं ब्राह्मणों को, पर द्विज नाम है मुनिका । कैसे द्विज नाम पड़ा कि जिसका दूसरा जन्म हो उसे कहते हैं द्विज । मुनिका जन्म दूसरा है । जैसे हम आपका जो इस भवसे पहले जन्म था उसकी अपेक्षा यह दूसरा जन्म हुआ है । आप बतला सकते हो क्या पहले जन्मकी कोई बात ? पहले जन्मके किसी परिग्रहमें, समागममें, परिचयमें आपका कुछ ख्याल जाता है क्या ? नहीं जा रहा । इसे कहते हैं दूसरा जन्म । तो यहां तो मरनेके बाद पहले जन्म का सम्बंध टूटता है, लेकिन मुनिका तो उस ही जिन्दगीमें मुनि होनेपर दूसरा जन्म कहलाने लगता है । अब उसे मुनिसे पहले जीवनकी बातोंसे लगाव नहीं रहता । जिसके लिए—“अरि मित्र महल मकान कंचन कांच निन्दन थुति करन । अर्घावतारन असि-प्रहारनमें सदा समता धरन ।” ऐसे परिणाम रहते हैं । तो आप सोचिये कि उसको तो ये सब देखते हुए भी उस रूपमें नहीं दिखता जिस रूपमें लौकिक जनोंको यह सब कुछ दिख रहा है । कैसा दिखता ? चलते फिरते सनीमाके जैसे चित्र । इस तरहका संसार दिखता है, अथवा अपने-अपने स्वरूपमें अचल, बाकी यह सब नाटक । इस तरह दिखता है तो आप समझिये इतनी बड़ी तैयारी है जिसके उसका यह मुनि रूप मिलता है । भले ही वह शब्दोंका विद्वान न हो, लेकिन भावोंमें, भावनामें यह बात सबके रहा करती है । ऐसा हुए बिना मुनिपना नही कहलाता । कैसा है गुरुलिङ्ग ? सर्व परिग्रहों से विमुक्त है ।

गुरुवृत्तिमें परापेक्षताका अभाव—गुरुका लिङ्ग परापेक्ष नहीं, उनका सारा काम स्वाधीन है, मुनिका कोई काम पराधीन नहीं । जैसे कि आजकल महसूस किया जाता है कि मुनिका विहार पराधीन है, उनके साथ मोटर चाहिए, चौका चाहिए, कमण्डल लेकर साथ चलने वाला होना चाहिए, ये सब बातें तो सब विहार होता है, ऐसी पराधी-

नताका स्वरूप गुरुका नहीं है, अथवा आहारमें इतनी-इतनी बातें हों, ऐसी-ऐसी हों, ये सब बड़ी कठिनाईकी चीजें हैं, तो आहार पराधीन है, ऐसा मानते हैं, पर आहार भी उनका पराधीन नहीं, विहार भी पराधीन नहीं, रहना भी पराधीन नहीं, मुनि कुछ चिंता नहीं रखते, विहार करते हैं तो उठाया कमण्डल पिछी और विहार हो गया। बहुत पहलेसे बताना कि मैं इस दिन पहुंचूंगा। यह तो इसकी तैयारी है कि लोगोंमें प्रसिद्धि हो, समारोहसे ले जायें, इस प्रकारसे ले जायें, यह पराधीनता है। पर चित्तमें आया, चल दिया, आखिर अतिथि नाम उसका है कि जिसकी कोई तिथि नियत नहीं है। अब भक्त लोगोंको मालूम पड़े, वे अपनी भक्तिवश सब कुछ विधि करें, समागम करें साथ जायें वह सब बात अलग है। आहार भी पराधीन नहीं। मुनिको जब क्षुधा विशेष हुई, जिससे जीवन कुछ रहना चाहिए ताकि मैं संयम अच्छी तरह पालूं, तो वह भिक्षावृत्तिको निकलता है। जिसने भक्तिपूर्वक बुलाया, खिलाया, खा लिया, जहां शुद्धि का अतिरेक हो वह बनावटी चीज है, जंगलमें आहार होता है, आहार कर रहे हैं, वहीं पासमें जंगली जानवर भी बैठ रहे हैं, वहां बाहरी शुद्धि का अतिरेक तौ नहीं बन पाता। यहां तो इतना तक हो जाता कि यदि धोती किवाड़से छू गई तो अब वह धोती बदलनी पड़ती है। जहां शुद्धि का इतना अतिरेक कर दिया गया वहां आहार पराधीन हो तो जितना आवश्यक है, जिसमें अधःकर्म दोष न रहे उतनी शुद्धि आवश्यक है, पर शुद्धि का जो अतिरेक बना है वह एक पराधीनताका रूप बन गया है। मुनिका आहार भी पराधीन नहीं, विहार भी पराधीन नहीं, रहना भी पराधीन नहीं। मुनिको यह कोई आवश्यक नहीं है कि बहुत साफ कमरा हो, बहुत अच्छी तरहसे तखतके ऊपर सिंहासन, और मुझे इस तरहसे ही रहना चाहिए ऐसा भाव नहीं होता मुनिका। मुनियोंको तो अधिकतर भूमिमें सोना, उठना बैठना बताया गया है। उसके यह भावना नहीं होती कि मेरे रहन सहनका इस प्रकारका शान शौकतका ढंग होना चाहिए। यदि इस प्रकारकी भावना उसके चित्तमें हो तो वह पराधीन हो गया।

विपरीताचार विमुखता व परीषहविजयका मूल कारण सहजात्मस्वरूपकी धुन—

मुनि तो केवल आत्मध्यानकी विशेषताके लिए हुआ है, उसका दूसरा कुछ प्रयोजन नहीं। जैसे कोई व्यापारी अपने व्यापारके उद्देश्यसे, धन कमानेके उद्देश्यसे कहीं बाहर जाता है तो वह भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, मान अपमान आदिके बड़े कष्ट उठाता है फिर भी उनको बड़ी शान्तिपूर्वक सहता जाता है क्योंकि वह जानता है कि ये सब कष्ट

सह लेनेके बाद हमको इतने धनका लाभ होने वाला है, ऐसे ही ज्ञानीजन आत्मकल्याण के मार्गमें जब बढ़ते हैं तो वे भी बाहरमें निन्दा, अपमान, उपमर्ग आदि की अनेक बातें आनेपर भी उनसे घबड़ाते नहीं, क्योंकि वे जानते हैं कि हमको तो ये सब कष्ट सहने के बाद अपने सहज आत्मस्वरूपके अनुभवका लाभ होने वाला है। किसी मुनिका अगर यह भाव हो कि मेरे लिए बड़ा साफ स्वच्छ स्थान ठहरनेका होना चाहिए, पेन, पेंसिल, पिछी, कमण्डल आदि चीजें बड़ी साफ स्वच्छ तथा सुन्दर रहने चाहिए, तो वह भी उसकी भूल है। क्योंकि यह सब बाहरी दिखावट, चमक धमक तो आत्मध्यानमें बाधक है। आत्मध्यान तो उसके बनता है जिसको बाहरी पदार्थोंमें इष्ट अनिष्टकी कल्पना नहीं होती। तो यह गुरुलिङ्ग बतला रहा कि वह परापेक्ष नहीं है। कोई भ्रम रमाकर, माला पहिनकर साथमें कुछ डंडा या चीमटा आदि रखकर साधुताका बाना बनाते और उन्हें लोग गुरु मानते हैं उनको इन सबकी अपेक्षा है और उनकी चिन्ता है। वे अनेक जोगोंको जोड़ते हैं, यह कहलाता परापेक्ष पर यथाजात मुद्रामें परापेक्षता है ही नहीं।

ज्ञानीकी एकत्ववृत्ति—जो यथाजातरूप लिङ्गको मानता है उसके सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि जीव मोक्ष मार्गमें ऐसी मुद्राको ही स्वीकार करता है कि जो मोक्षस्वरूपके अनुरूप हो कुछ कुछ। मोक्ष मायने क्या? अकेला आत्मा रह जाना, इसका नाम है मोक्ष। मोक्ष कोई नई चीज नहीं है। जो आत्माका स्वरूप है, आत्माके अपने सत्त्वके कारण जो कुछ इसका एकाकी स्वरूप है, अब भी है, कहीं दूसरेका उसमें प्रवेश नहीं है। दो सत्ता मिलकर मैं आत्मा अब भी नहीं हूं, मैं अपनी ही सत्तामें हूं। भले ही औपाधिक विकार चल रहे हैं मगर सत्त्व दो का मिलकर नहीं है। एक ही सत्ता है, वही एक सत्ता औपाधिकतारहित होकर ठीक स्वरूपके रूपमें प्रकट हो गया, उसीका नाम मोक्ष है, तो मोक्ष मायने अकेला रह जाना। परदार्थोंके सम्पर्कसे अलग, अकेला रह जानेका नाम मोक्ष है। अब यही चीज यहां चल रही है, परसे अलग हों। शरीर-पर कोई पर न रहे, शरीर भी पर है, परन्तु वह अभी छोड़ा नहीं जा सकता है, वह लगा है। भावसे तो शरीर भी छूटा है। और, चारित्र्यमें ध्यान किसका? परसे रहित का। कारण कि परसे रहित होना है ना? तो परसे रहित जो इस वक्त भी है, ऐसा स्वाधीन सहज स्वरूपका जो ध्यान रखते हैं उनका लिङ्ग बाहरमें कैसा होता है वह इस गाथामें बताया। उसे जो स्वीकार करता है वह है सम्यग्दृष्टि।

लज्जाभयगारवदो मिच्छादिदूरी हवे सो हु ॥६२॥

खोटे देव, खोटे धर्म व खोटी गुरुमुद्राके बंदनमें मिथ्यात्वकी पुष्टि—जो पुरुष लाजके कारण खोटे देव, खोटे धर्म, खोटे गुरुकी वंदना करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है। जो किसी भयके कारण खोटे देव, खोटे धर्म, खोटे गुरुकी वंदना करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है। जो गारव, अभिमान, पोजीशन रखने, प्रतिष्ठा बढ़ाने आदिकके ख्यालसे खोटे देव, खोटे धर्म और खोटे गुरुकी वंदना करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है। इस अज्ञानीको आत्मस्वरूपका पता ही नहीं है इसलिए यह प्रवृत्ति हो रही। जिसको अपने अमूर्त दर्शन ज्ञानस्वरूप सहज आनन्दमय आत्मस्वरूपका परिचय है उसको देव, धर्म गुरुका भी निर्णय है, जो इसकी साधनामें लगे हों वे गुरु। जो इस आत्मस्वरूपकी साधनाका उपदेश हो वह आगम, शास्त्र, धर्म और जिसके ऐसा स्वरूप प्रकट हो गया हो वह देव, ज्ञानी जनोंकी खोटे देव, खोटे धर्म और खोटे गुरुओंमें प्रवृत्ति रहीं होती।

कुदेव, कुधर्म व कुगुरुमें कु लगनेका कारण सेवकोंका आशय—ये खोटे देव माने क्यों जाने लगे? ऐसी क्या पड़ी थी जो यह प्रथा चल उठी कि खोटे देव भी पुजने लगे। तो पहले तो आप यह जानें कि खोटे देव कोई होते हैं क्या? कोई भी या तो देव होगा या देव न होगा, तीसरी बात कुछ नहीं, खोटे देव दुनियामें कोई नहीं हैं, खोटा धर्म भी कुछ होता है क्या? या तो धर्म होगा या धर्म न होगा। दो ही बातें होंगी, खोटा धर्म कोई नहीं होता। ऐसे ही खोटा गुरु भी कोई होता है क्या? या तो गुरु होगा या गुरु न होगा। दो ही बातें होंगी, खोटा गुरु कोई नहीं होता। फिर यह वर्णन जो आता है शास्त्रोंमें और उपदेश भी किया जाता है यह कैसे चल उठा? यह यों चल उठा कि जो देव तो है नहीं और लोग मानने लगे कि यह देव है तो उसको किस भाषामें समझाया जाय, उस भाषाका नाम है कुदेव। कुदेव भी नहीं है, वह तो अदेव है। मगर इन मानने वालोंने कुदेव बताया, वह खुद नहीं है कुदेव। कुधर्म ये संसारकी प्रवृत्तियां हैं, कोई पदार्थ धर्म है कोई अधर्म है कुधर्म कहीं नहीं है, मगर जो धर्म धर्मरूप नहीं है उसे लोगोंने धर्म नाम रख दिया इसलिए उसे कुधर्म कहना पड़ा। ऐसे ही जो गुरु नहीं है उसे लोगोंने गुरु कहना प्रारम्भ किया तो कुगुरु नाम रखना पड़ा। आज जो कुदेव, कुगुरु, कुधर्म शब्द कहकर बहुत-बहुत आलोचना या घृणा की जाती है, सो जिसको लक्ष्य करके की जाती उसका अपराध नहीं, किन्तु इन मानने वाले लोगोंने इस प्रकार का विडूरूप कर दिया है। हां थोड़ा उन लोगोंकी तरफसे भी हो सकता कि जैसे जो

देव तो नहीं और उनके भी इच्छा हो गई कि लोग मुझे देवकी तरह मानने लगे तो थोड़ा एक इस ओर से, वे अपनी ओर से कुदेव बन गए, ऐसे ही गुरु भी जो गुरु तो नहीं पर कोई गुरुकी मुद्रा रखकर शौक करने लगे कि मुझे लोग गुरुदेव कहें तो वे कुगुरु कहलाने लगे। तीसरी बात यह है कि लोगोंने आवश्यकतानुसार देव मानना शुरू किया। जैसे सूर्यके बिना हम आप लोगोंका जीवन सही तो नहीं निभ सकता। बीमार हो जायेंगे, जरूरत पड़ती है धूपकी। तो हम आप लोगोंके प्रयोजनका है सूर्य। तो लोगों ने सूर्यको भी देव या भगवान कहना शुरू किया। और की तो बात जाने दो, पीपल बरगद आदि वृक्षोंको भी देव मानकर लोग पूजने लगे। बात वहां क्या थी कि पीपलके पेड़में एक खास बात यह होती कि उसके तने और पत्ते वगैरहको छूकर जो हवा आगे बढ़ती है वह विशुद्ध होती है जिसमें बताते हैं कि अनेकों प्रकारके रोग स्वतः ही दूर हो जाते हैं। इस प्रकारसे अपने कामकी चीज होनेसे लोग पीपलको देव मानकर पूजने लगे। ऐसे ही बरगदके पेड़को देखलो, इतना बड़ा पेड़ होता कि जिसके नीचे कई परिवार रह सकते, और ग्रीष्मकालमें उसकी छाया मुसाफिरोंको बड़ी शीतलता प्रदान करती है। तो अपने काममें आनेसे उसे भी लोग देव मानकर पूजने लगे। याने लोगों ने देवता कहना इस आधारपर शुरू किया कि किसी जमानेमें जो अपने काम आया उसीको देवता मान लिया।

मोक्ष व मोक्षमार्गस्वरूप देव धर्म गुरुसे विपरीत मार्गकी अपनायतका कारण अज्ञान—
मोक्षमार्गमें भगवान देवता, प्रभु वही है जो वीतराग है और सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ तो वीतराग होनेका फल है, सर्वज्ञ होनेसे आनन्द नहीं मिलता। आनन्द मिलता है वीतराग होनेसे। जो वीतराग होता है सो जबरदस्ती उसे सर्वज्ञ होना पड़ता है, होता है वह सर्वज्ञ, गुणोंका विकास होता ही है मगर महिमा है वीतरागताकी। जिसमें रागद्वेष रंच भी नहीं, किसी प्रकारका विकार नहीं, उसे कहते हैं देव। ऐसे देवोंको न मानकर जो रागीद्वेषी जीवको देव माने वह मिथ्यादृष्टि। धर्म क्या है? आत्माका उपयोग। आत्मा के सही स्वरूपमें लगे यह है धर्मपालन और इस प्रयोजनको लक्ष्यमें रखते हुए अधर्मसे बचनेके लिए और धर्ममें पहुंचनेके लिए पात्रता जिन प्रवृत्तियोंमें रहती है उन प्रवृत्तियों को कहते हैं व्यवहार धर्म। देव पूजा आदिक करना, जिसका इस आत्मनिर्मलतासे कुछ सम्बंध जुड़ा ही नहीं, ऐसा जो काम है, जैसे नदीमें स्नान करना और मेरे पाप धुल गए, ऐसा मानना, या पर्वतसे निकलकर अपनेको निरुपाय मानना और अनेक देवी दहा-

झियोंकी पूजा करना, वृक्ष पूजना आदिक कुछ भी ये सब धर्म नहीं है। तो जो ऐसे छोटे धर्मको मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसे ही छोटे लिङ्ग, कुगुरु, जटायें रखे हैं, नहाते भी हैं खूब जलमें डुबकियां लगा लगाकर। कहो कितने ही पानीके जीव वालोंमें घुस जायें, फिर उनको हाथसे सम्हालकर गूँथते हैं उस प्रसंगमें कितने ही जीवोंकी हिंसा हो सकती है, ऐसे लोगोंको गुरु मानकर पूजना यह मिथ्यात्व है। पूजन वंदन करनेके ये तीन प्रयोजन होते हैं। १. लज्जा—बहुतसे लोगोंके बीच रहते हैं, सभी जैसा कर रहे वैसा न करनेमें लज्जा आती है। ये लोग क्या कहेंगे ऐसा समझकर भी अनेक लोग उन कुगुरुओंका बंदन करते हैं, परन्तु ज्ञानीजन इस बातमें लज्जा नहीं करते। उनको इस बातका भय नहीं होता कि लोग मुझे क्या कहेंगे, या लोग कहीं मेरे दुश्मन न बन जायें, या अमुक तमुक न हो जाय, ज्ञानीके यह भय नहीं होता। जो होता है वह पुण्य-पापके अनुसार होता है। गारव करना तो बड़े उद्दण्डताकी बात है, मेरा सम्मान हो, इन लोगोंमें हमारी ख्याति हो ऐसा सोचकर कुदेव, कुधर्म, कुगुरुकी वंदना करना, ये सब बातें ज्ञानी सम्यग्दृष्टिके नहीं हैं। जिनके अज्ञान है वे ही आत्मस्वरूपके विरुद्ध कार्योंमें प्रवृत्ति करते हैं।

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे ।

मण्णइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥६३॥

मिथ्यादृष्टि जीवका स्वपरापेक्षलिङ्ग एवं रागी असंयत देवको वंदन—स्व और परकी अपेक्षा सहित लिङ्गको, रागी और असंयमी देवको मिथ्यादृष्टि आदर देता है, वन्दन करता है, किन्तु जिसके शुद्ध सम्यक्त्व प्रकट हुआ है ऐसा पुरुष अर्थात् ज्ञानी भव्यपुरुष किसी भी कुगुरु और कुदेवको नहीं मानता है। जिनकी गुरुरूपमें प्रसिद्धि कर रखी है, किन्तु है स्त्री पुत्र आदिसे सहित सो कुटुम्बके आधीन है और नानाविध वस्त्र मृगचर्म आदि रखनेसे अचेतन वस्तुओंके आधीन हैं ऐसे कुगुरुओंकी सेवामें न तो पुण्य ही मिलता है और न मोक्षमार्गकी दिशा ही मिलती है उनकी भक्ति वंदना अज्ञानीजन ही करते हैं। ऐसे ही जिनकी देवरूपमें प्रसिद्धि कर रखी है, किन्तु हैं असंयमी और कुटुम्ब आदि बना। उनमें रागी है, अविकार स्वभावका परिचय ही नहीं है ऐसे कुदेवोंकी मान्यता आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ अज्ञानी पुरुष ही करते हैं। तथा यक्ष, भूत, प्रेत, चण्डी, भवानी आदि अनेक देवताओंको बलि चढ़ानेसे वे प्रसन्न होते हैं व मांसभक्षण करते हैं आदि अनेक कुधारणा बनाकर उनकी मान्यता करते हैं वे सब अज्ञानविमूढ है। ज्ञानीजन तो

कुगुरु कुदेवकी मान्यता नहीं करते हैं। ज्ञानियोंकी दृष्टिमें वीतराग सर्वज्ञ ही देव है और परिग्रहरहित दिगम्बर आत्मध्यान करनेवाले महाव्रती ही गुरु हैं।

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।

विवरीय कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुण्येव्वो ॥६४॥

सम्यग्दृष्टिके जिनेन्द्रोपदिष्ट धर्मका आचरण—सम्यग्दृष्टि श्रावक जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट धर्मको करता है, किन्तु जो इस सुधर्मसे विपरीत आचरण करता है वह मिथ्या-दृष्टि ही है। यहां संवोधन यद्यपि सावय शब्दसे किया है तो भी इसका अर्थ श्रावक भी है और मुनि भी है। श्रावक तो प्रसिद्ध ही है—श्रद्धान, विवेक, क्रिया वाले गृहस्थ श्रावक है। और जो धर्मोपदेश सुनावें वे मुनि हैं। सो ये सभी सम्यग्दृष्टि जिनोपदिष्ट धर्मको करते हैं। जो जीवोंको संसार दुःखसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें मोक्षपदमें पहुंचा दे वह धर्म है। वह धर्म है आत्मस्वभावका आश्रय लेना। आत्मस्वभाव आत्माका धर्म है। धर्मके प्रसादसे शेष संसार रहे तब इन्द्रादि उत्तम पद मिलते हैं और शीघ्र ही अन्तमें आत्मसाधनाकी उत्कृष्टतासे निर्वाणपद प्राप्त होता है। जो धर्मसे विपरीत आचरण करता है वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है उसका संसारमें भटकना बना रहता है। इस गाथामें तथ्य वृत्तान्त बताकर कल्याणार्थी पुरुषोंको जैन शासनके अनुसार भक्ति वंदना उपासना आदिकी प्रेरणा दी गई है।

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ ।

जन्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥६५॥

जन्मजरामरणप्रचुर दुःखसहस्राकुल संसारमें मिथ्यादृष्टिका संसरण—आत्मस्वरूपका परिचय न होनेसे जिनकी दृष्टि मिथ्या हो रही है वे प्राणी सुखरहित संसारमें भ्रमण करते रहते हैं। इस संसारमें सुख नाममात्रको नहीं है। केवल मोहीजीव मोहवश इष्ट विषयोंके भोगमें सुखकी कल्पना कर लेते हैं। इस संसारमें मुख्य क्लेश है जन्म मृत्यु और बुढ़ापा सो जन्ममरणके संकटोंसे तो भरा हुआ ही है संसार और फिर जन्ममरण के बीच जितना उस भवका जीवन है उन क्षणोंमें हजारों दुःखोंकी व्याकुलता भरी पड़ी है। दुःख सारे पर वस्तुके लगावमें ही है। किसी वस्तुको इष्ट मानकर राग करने लगना यह कुटेव व्याकुलताओंको बढ़ाती रहती है, इष्टके न संयोगमें शान्ति और न वियोगमें शान्ति। जिस किसी भी चेतन अचेतन वस्तुको अनिष्ट मान लिया तो उसके प्रसंगमें नाना अशान्तियां चलती रहती हैं। शारीरिक वेदनावोंके दुःसह दुःख भोगना

पड़ते हैं। तृष्णा आशा निदानके दुःखोंसे यह संसार पूरित है। ऐसे कठिन दुःखोंको अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि सहता हुआ संसारमें भटकता रहता है। यह सब संकट सहजात्म-स्वरूपका बोध न होनेसे होता है। अतः हे आत्महितार्थी भव्यो ! सहजसिद्ध अनादि अनंत निज चैतन्यस्वरूपका परिचय करो और उसमें ही आत्मत्वका अनुभव करो।

सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु ।

ज ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविणं तु ॥६६॥

सम्यक्त्वके गुण और मिथ्यात्वके दोषोंका विचार करके सम्यक्त्व गुणमें रुचि करनेका संकेत—
हे आत्मन् ! भले प्रकार विवेक करके निर्णय करलो सम्यक्त्व तो गुण है और मिथ्यात्व और मिथ्यात्व दोष है। जहां सम्यक्त्व है वहां सत्य प्रकाश है, शान्तिका मार्ग स्पष्ट है, ध्येय सहज परमात्मतत्त्व है। इस सम्यक्त्वका ही मूल माहात्म्य है जो संसारके दुःखोंसे छूटकर मोक्षपदमें पहुंच जाते हैं। मिथ्यात्व महादोष है, महापाप है, जो वस्तु जैसी है वैसी श्रद्धामें न लाकर उल्टी ही श्रद्धा करना मिथ्यात्व है। आत्मा-तिरिक्त समस्त पदार्थ आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं उन्हें अपना समझ लेना मिथ्यात्व है। संसारके घोर संकट प्राप्त होना मिथ्यात्वका ही परिणाम है। हे भव्य पुरुष ! सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनोंका तथ्य विचार कर अब जो तुझे रुचे सो कर, अब बहुत अधिक कहनेसे क्या लाभ है। यदि संसारमें भटकना है तो मिथ्यात्वकी सेवा कर। यदि सर्व-संकटोंसे छूटकर उत्तम शाश्वत शान्ति पाना है सो सम्यक्त्वकी उपासना कर।

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभावणिगंथो ।

किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अण्णसमभाव ॥६७॥

बाह्यपरिग्रहमुक्त मिथ्यादृष्टिके मौनादि बाह्य चेष्टावोंकी व्यर्थता—जो साधु बाह्य परि-ग्रहसे तो मुक्त है, किन्तु मिथ्याभावसे मुक्त नहीं है, उस साधुका खड़े रहना याने कायो-त्सर्ग व मौन आदिका क्या उठता है। आत्माका आत्मस्वभावमें उपयुक्त रहना कल्याण-कारी है कल्याणमय है। इस कल्याणमय अवस्थाका मूल बाधक मिथ्याभाव है। परपदार्थमें परभावमें आत्मत्व स्वीकार करना मानना मिथ्याभाव है। कोई साधु बाह्य परिग्रहका तो त्याग कर दे किन्तु अन्तरङ्गमें परपदार्थमें व परभावमें अहंकार ममकार की वासना रखे, देहमें व कषाय विकल्पोंमें प्रीति रखे और बाह्य तपश्चरण व मौन आदि भाव कितने ही करे तब भी आत्मकल्याण न होनेसे उन बाह्य चेष्टावोंसे कोई लाभ न हुआ। मिथ्यादृष्टि आत्माके प्रशमभावको, अपने आत्माके स्वरूपके समान अन्य आत्मावोंके स्वरूपको नहीं जानता है, जैसा मैं परमार्थतः सहजसिद्ध अविकारस्वभाव

ज्ञानमात्र है ऐसा बोध मिथ्यादृष्टिके नहीं है। मिथ्यात्वका विनाश हुए बिना, सम्यक्त्व का लाभ हुए बिना जीव कल्याणमार्गमें प्रवेश नहीं कर सकता है।

मूलगुण छित्त्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहु।

सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगिराहगो णियद ॥६८॥

मूलगुणका छेदन कर नाना बाह्य क्रियाकाण्ड करनेपर भी सिद्धिसुखका अलाभ—

मूलगुणका छेदन करके बाह्य क्रियाकाण्डको जो साधु करता है वह सिद्धि सुखको नहीं पा सकता, वह निरंतर जिनलिङ्गका विराधक हो रहा है। साधुका मूलगुण आत्म-स्वभावाश्रय है। जिन्होंने आत्मस्वभावका परिचय नहीं पाया, अथवा कुछ परिचय पाकर भी उससे च्युत हो गये, आत्मसुधसे पतित हो गये अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हो गये वे मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकते। अथवा साधुवोंके मूलगुण २८ हैं—पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांच इन्द्रियदमन, छह आवश्यक केशलोञ्च, वस्त्रत्याग, स्नानत्याग, भूमिशयन, दन्तधावनत्याग, स्थित भोजन व एक बार भोजन। इन २८ मूलगुणोंमें किसी भी मूलगुणका खंडन करता है तो वह जिनलिङ्गका विराधक है। यद्यपि किसी एक मूलगुणकी कभी विराधना हो जाय तो भी वह मुनि माना गया है, फिर भी उसके आशयमें स्वच्छन्दता नहीं है, कभी परिस्थितिबश विराधना हो जाती है तो उसका प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होकर प्रगतिमार्गमें बढ़ता है। किन्तु जो साधु स्वच्छन्द हो मूल गुणका भंग करता है तो वह चाहे आतापन योग जैसे कठिन क्रियायें भी कर डाले तो भी उसको निर्वाणलाभ नहीं है, वह निरंतर जिनलिङ्गका विराधक है।

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं च।

किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥६९॥

आत्मस्वभावसे विपरीत साधुके बाह्यकर्म उपवास आतापयोग आदिकी व्यर्थता—आत्म-स्वभावसे विपरीत कुछ भी बाह्य प्रवर्तन आत्माके मोक्षके अर्थ तनिक भी सहयोगी नहीं हो सकता। जिस साधुके आत्मस्वभावकी दृष्टि नहीं ज्ञानमात्र सहजभावकी रुचि नहीं वह कितना ही पठन पाठन प्रतिक्रमण पाठ आदि करे तो भी वह बाह्यकर्म क्या करेगा, कुछ भी नहीं करेगा, मोक्षको करेगा ही नहीं। अनशनस्वभाव ज्ञानमात्र सहजभावका जिन्हें परिचय नहीं प्राप्त हुआ उन साधुवोंका नानाप्रकारका उपवास क्या करेगा, मोक्ष को तो दे ही न सकेगा। अमूर्त ज्ञानमात्र सहजानन्दमय निज सहजपरमात्मतत्त्वकी जिनके प्रतीति ही नहीं वे साधु तेज धूपमें पहाड़की खुली शिलावोंपर बड़े-बड़े आतापन-योग जैसे तपश्चरण करें तो भी वे आताप आदि इसका क्या करेंगे, कुछ भी लाभ नहीं

पहुँचा सकते । जिनको सहजात्मस्वरूपकी सुध नहीं है वे धर्मके नामपर देहादिमें अहंभाव रखकर मैं मुनि हूं मुझे ऐसे ऐसे तपश्चरण उपवास प्रतिक्रमण आदि करने चाहिये ऐसे संकल्पसे परभावमें ही रमते रहते हैं, फिर अविकारस्वभाव अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे होने वाला मोक्षमार्ग भी उन्हें प्राप्त नहीं हो सकता । सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है, सम्यक्त्व-शून्य साधुकी सारी क्रिया चेष्टायें तनिक भी आत्मलाभ नहीं कर सकतीं ।

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं च चारित्त ।

तं बालसुदं चरण हवेइ अप्पस्स विवरोदं ॥१००॥

अनात्मज्ञके श्रुतका बालश्रुतपना व चारित्रका बालचारित्रपना—जिस साधुको अनादि अहेतुक निज सहज चैतन्यस्वरूपका भान नहीं है, वह साधु यद्यपि अनेक शास्त्रोंको पढ़ लेवे, वाक्य वचनोंका शुद्ध स्पष्ट उच्चारण कर लेवे, तर्क व्याकरण छन्द अलंकार सिद्धान्त न्याय साहित्यका विशेष विद्वान हो लेवे, यहां तक कि ग्यारह अंग नौ पूर्वोंका षाठी भी हो लेवे तथापि उसका वह श्रुत बालश्रुत कहलाता है । इसी प्रकार अन्तस्तत्त्व के अनभिज्ञ साधुके महाव्रत समिति बाह्यगुप्ति समतादि आवश्यक क्रियाकाण्ड रूप प्रवृत्ति भी चले तो भी वह बालचारित्र कहलाता है । जो सहजात्मस्वरूपसे अनभिज्ञ है वह धर्ममार्गमें बाल कहलाता है । जो जिसमें अनभिज्ञ है वह उस विषयमें बाल अथवा बालक है । बाल अर्थात् मिथ्यादृष्टिका जितना भी श्रुताध्ययन है वह बालश्रुत है तथा जितना भी चारित्र है वह बालचारित्र है । ऐसे श्रुतके साथ व ऐसे चारित्रके साथ आत्मभावना रंच भी नहीं है । जहां सहज शुद्ध एकज्ञायकस्वभाव सहज परमात्म-तत्त्वका परिचय नहीं है वहां मोक्षतत्त्वका भी श्रद्धान नहीं हो सकता । शान्तिके धाम अन्तस्तत्त्वकी प्रतीतिके बिना शान्तिलाभ असंभव है ।

बेरगपरो साह परदव्वपरम्मुहो य जो होदि ।

संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणूरत्तो ॥१०१॥

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साह ।

झाणझयणे सुरदो सो पावइ उत्तम हाणं ॥१०२॥

विरक्त साधुकी उत्तमस्थान प्राप्ति पात्रता—कैसा साधु मोक्ष पा सकता है, इसका वर्णन इस गाथामें है । जो साधु वैराग्यमें तत्पर है, संसार, शरीर, भोगसे जिसे वैराग्य हुआ है । संसार, शरीर, भोगसे वैराग्य उन्हीं को हो सकता है जिन्होंने रागरहित ज्ञान-मात्र अपना स्वरूप समझा । जब उसे ये रागकी सब बातें बेहूदी अनुभव होने लगे तब ही राग छूटगा । जबरदस्ती राग नहीं छूटता । यद्यपि चरणानुयोगके अनुसार बाह्य

चीजोंका त्याग करदे तो उसमें भी सम्भव है कि बहुत दिन तक जब विषयके साधन सामने न रहें तो उसके भाव भी ठीक हो जायें, किन्तु यह नियम नहीं है कि बाहर चीजका त्याग करदे तो उसके भाव सही हो ही जायें। सही भाव होनेका कारण तो अविकार ज्ञानस्वरूपका परिचय होना है। मैं अकेला हूं, अपने ही स्वरूपास्तित्वसे रचा हुआ हूं, इसमें यह ही मात्र मैं हूं, इसका किसी बाह्यसे सम्बंध नहीं है, यह स्वयं एक ज्ञातादृष्टा है, विकार तो बाह्य कर्मके सम्बंधसे होता है। जैसे दर्पणका स्वभाव प्रति-विम्ब नहीं है ऐसे ही मुझ आत्माका स्वभाव विकार नहीं है, जैसे दर्पणका निज स्वरूप निजी झलक है ऐसा ही मेरा स्वरूप मात्र झलक है, और ऐसी दृष्टि करके कुछ अनुभव भी बना हो कि यह मैं सबसे निराला केवल ज्ञानज्योतिमात्र हूं, इस पर जिसने अभ्यास भी किया हो उसके राग छूटेगा। तो जो तत्त्वज्ञानी साधु है उसे संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य होता है।

ज्ञानी जीवकी संसार शरीर व भोगोंसे विरक्तिकी घटना—संसारसे वैराग्य तो यों हुआ कि संसारमें जीवस्थानकी दृष्टिसे कौन कहां कैसे जीव हैं, कैसा यह लोक है, कहां क्या रचना है, कहां कैसे जीव रहते हैं, यह जब उन्हें सही मालूम हुआ तो असारता भी ज्ञात हुई। कहां तो यह जीव अपने शुद्ध चैतन्यमात्र है और कहां अपने स्वरूपको भूलकर ये जीव ऐसी बिढंगी दशाओंमें उत्पन्न हो रहे हैं। यह अज्ञान असार है, यह संसार असार है, मायारूप है, यह परमार्थ नहीं है, ऐसा परिचय पाने वालेको संसारसे राग नहीं रहता। देह जो भी उत्पन्न हुए हैं ये सब असमान जातीय द्रव्यपर्याय हैं। जीव, कर्म और देह इन तीनोंका मिलकर जो एक रूपक बना है वह है देह अथवा जीव-पर्याय। कितने प्रकारके जीवके देह हैं, कैसे-कैसे विचित्र आकार हैं, कहां किस रूप इन जीवोंका भवमें अवस्थान है वे सब कर्म और मायाकृत बातें हैं। एक अजायबघरमें जाकर देखते हैं पशुपक्षी कैसे बिढंगे मुख वाले अनेक आकारके किस किस देशमें कैसे-कैसे प्राणी हैं, तो ये तो थोड़ेसे ही हैं, कितनी तरहके देह हैं, उनकी गिनती होना अशक्य है, असंख्याते तरहके देह हैं और उतने प्रकारके इस जीवके नामकर्म हैं जिनके उदयसे ऐसे देह हुए हैं। इन कर्मोंको किसने रचा? इस जीवके भावोंने रचा। यह जीव जैसी भावना करता है उसका निमित्त पाकर उस तरहके कर्मोंका बंध होता है और उनके उदयमें उस प्रकारके शरीर मिलते हैं। तो ज्ञानी जानता है कि यह देह भी असार चीज है, देहसे राग नहीं होता ज्ञानीको, भोगोंसे भी राग नहीं, भोग क्या?

बाह्य पदार्थ अथवा उनके सम्बंधमें होने वाले विकार । ज्ञानी जानता है कि ये विकार तो कर्मकी छाया है, मेरे स्वरूपमें नहीं हैं । कितनी ही तरहकी कल्पनायें उठती हैं, पर-वस्तुओंके बारेमें कितने ही प्रकारके चिन्तन चलते हैं, वह सब कर्मकृत जाल है । आत्मा तो सिद्ध प्रभुकी तरह केवल चैतन्य स्वभावमात्र है । तो समस्त विकार इसे जाल प्रतीत हो रहे हैं तो यह विकारमें राग कहां करेगा ? तो ज्ञानी साधु यों भोगोंसे भी विरक्त होता है । ऐसा ही पुरुष मोक्षमार्गमें लगता है, जिसको संसारसे प्रेम है, इस लोकमें नामवरीसे प्रेम है, अपनी पर्यायसे प्रेम है वह पुरुष मोक्षमार्गमें नहीं लग सकता । वह तो संसारका कीड़ा ही बना रहेगा । उसको शान्तिका रास्ता नहीं मिलता । जहां शान्ति है उसका ही जिसे पता नहीं वह शान्ति पायगा कहां से ? शान्ति है अपने आपके सहज स्वरूपमें, एक कल्पना ही तो करता है यह जीव, आज मनुष्यभवमें है और मनुष्यभवके योग्य कोई चीज सामने है तो उससे यह रागद्वेष मोह नहीं छोड़ पाता है, पर यह आज मनुष्यभवमें न होता, किसी अन्य पर्यायमें होता तो उसके लिए यह न कुछ था और जब पर्याय छोड़कर आगे कहीं जायगा तो उसके लिए यह न कुछ है । हर पर्यायमें थोड़े समयको मिले हुए विषयसाधनोंमें यह जीव राग कर रहा, फल उसका यह हो रहा कि यह जन्ममरण कर रहा । तो जो संसार, शरीर, भोगोंकी असारतासे परिचित है वह विरक्त रहा करता है ।

परद्रव्यपराङ्मुख साधुकी उत्तमस्थान प्राप्ति पात्रता—जो साधु परद्रव्योंसे परान्मुख हैं वे ही उत्तम स्थानको प्राप्त करते हैं । परद्रव्योंमें क्या-क्या आया ? बाहरी क्षेत्रमें रहने वाले पदार्थ वे सब परद्रव्य हैं । देह भी परद्रव्य है, ये कर्म परद्रव्य हैं, कर्मके उदयसे जो विकार आते हैं वे भी परद्रव्य माने गए हैं । जो स्वभावसे उत्पन्न होने वाली वृत्ति है उसका तो स्वभावसे सम्बंध देखा जाता है और जो किसी परद्रव्यका निमित्त पाकर होने वाली वृत्ति है उस वृत्तिका नाता परद्रव्यके साथ देखा जाता है । भले ही विकार-परिणति जीवमें है, किन्तु जिसके होनेपर विकार हो, जिसके न रहनेपर विकार न हो, विकारका सम्बंध तो उससे माना जाता है, तो विकार भी परद्रव्य है, इन सबसे जो विमुख है, निराला रहता है वह जीव उत्तम सुखको व उत्तम स्थानको प्राप्त करता है । इस संसारी जीवपर अनादि कालसे यह ही विपत्ति छायी है कि इसने परद्रव्योंसे ममत्व किया, परद्रव्योंमें इसका उपयोग फंसा और उसी संकल्प विकल्पमें रहा और यह आदत भव-भवमें करता रहा । फल यह है कि संसारमें रलता चला आया, जब केवल यह

जीव यह साहस बनायगा कि मेरा तो मात्र मैं हूँ, एक परमाणुमात्र भी मेरा किसी परसे नाता नहीं, सबका स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है, किसीके स्वरूपमें कोई मिला नहीं, मैं अपने ही स्वरूपमें हूँ, अन्य कुछ भी मेरा नहीं, ऐसा जानकर जो परद्रव्यसे परान्मुख रहेगा वही साधु उत्तम स्थानको पायगा ।

संसारसुखसे विरक्त साधुकी उत्तम स्थानप्राप्ति पात्रता—यह साधु संसारसुखसे विरक्त है, संसारका सुख कोई सुख नहीं कहलाता, वह सब वस्तुतः दुःख रूप है । जिसमें आकुलता हो, क्षोभ हो, विह्वलता हो, वह सुख नहीं कहलाता, यह सब क्लेश है, पर इस जीवको अपने वास्तविक आनन्दके धामका पता नहीं तो यह बाह्य पदार्थोंमें सुख बुद्धि करता है, और बाहरी पदार्थोंसे सुख होता, ऐसी जब मान्यता बनाता तो इसका आकर्षण बाहरी पदार्थोंसे होता है । वहां दुःख कुछ कम हुआ तो यह सुख मानने लगा । जैसे किसीको १०५ डिग्री ज्वर है और वह उतरकर १०१ डिग्री रह जाय तो उसमें यह सुख मानता है और कहता है कि मैं तो अब ठीक हूँ । वस्तुतः देखा जाय तो वह ठीक नहीं है, बुखार अब भी है, किन्तु वह बड़ा तेज बुखार अब नहीं रहा उसके कारण वह दुःखमें भी सुख मानता है । उस बुखारकी हालतमें भी वह अपनेको अच्छी स्थितिमें समझता है, ऐसे ही संसारमें ये सब कष्ट बहुत अधिक है, उन कष्टोंकी कौन गिनती कर सकता ? जब कभी यह विषयोंके प्रसंगमें आता है, किसी भी इन्द्रियके भोगमें आता है तो उस समय यह कष्टमें है, क्योंकि आकुलता बिना भोग नहीं होता । क्षोभ वहां है मगर उस क्षोभमें भी चूंकि इसको बड़ी आकुलता वाला कष्ट नहीं मालूम हो रहा सो उसे सुख समझ लेता है, वास्तवमें संसारमें कहीं भी सुख नहीं है । इसके अगर संतान न हो तो ऐसा सोचता कि संतान हो तो सुख है, किसीके अधिक संतान हो गए तो वह ऐसा अनुभव कर रहा कि अब तो हम बड़े कष्टमें आ गए । पहले ही ठीक थे, यह संसारमें कुछ निर्णय ही नहीं कर पाता कि किस बातमें सुख है, क्योंकि इसकी दृष्टि बाह्यपर लगी गई है । और उनकी सब निश्चिततायें हैं तो यह संसारके सुखोंमें कुछ अनुभव करता कि मैं कुछ आनन्द पा रहा हूँ, मगर सारे सुख कष्ट ही हैं, पर साधु-पुरुष, ज्ञानीजन संसारसुखसे विरक्त रहते हैं । काहेका सुख ? अब भी कितने ही लोग ऐसे पाये जाते हैं कि कोई तो बहुत आसक्त होते हैं कोई कम आसक्त रहते हैं, और जिनका जैसा परिणाम होता है उस परिणामके अनुसार बाहरी पदार्थ दिखा करते हैं । जिसके राग नहीं, मोह नहीं, विषयोंसे प्रीति नहीं उसको ये सब देह, बड़े-बड़े रूप रंग

सब फीके लगते हैं और जानता है कि “दिपे चाम चादर मढ़ी हाड़ पीजरा देह ।” क्या है ? रोड़ है, उसके ऊपर थोड़ा मांस लगा है और चमड़ीसे ढका हुआ है । वहां कौन सी खासियत है ? और जिसको ज्ञान नहीं, जो विषयोंसे प्रीति रखता है वह कैसे ही देहमें रम जाता है । तो जितनी भी जो कुछ वृत्तियां हैं या सुख दुःख माननेकी बात है वह सब अपने ज्ञानके आश्रयसे चलती है । जीवका जो कुछ भी होता है वह ज्ञानके माध्यम से होता है, तो ज्ञान यदि खोटा न रहे और जैसा वस्तुका स्वभाव है वैसा ही ज्ञान रहे तो इसको फिर कहीं कष्ट नहीं है । तो मोही जीव संसारके सुखोंको सुख मानते हैं, पर ज्ञानी जीव इसमें आनन्द मानते हैं कि मेरा ज्ञान, मेरा उपयोग मेरेमें सही शुद्ध ज्ञान-स्वरूपमें रहे, मैं अपने उस ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव करता रहूं, इसमें उनकी लालसा रहती है और इसीमें वे आनन्द मानते हैं । जो साधु संसारके सुखोंसे विरक्त हैं वे ही निर्वाणका सुख प्राप्त कर सकते हैं ।

स्वात्मीयानन्दरत साधुकी उत्तम स्थान प्राप्ति पात्रता—जो साधु अपने शुद्ध सुखमें अनुरक्त है वे मोक्षसुख पाते हैं । जिनको इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वमें अनुभव जगा, भीतर ही दृष्टि देकर अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभवा, उसमें जो एक शुद्ध आनन्द आया उस आनन्दके अनुरागी होते हैं साधुजन । मुझे तो यही स्वाधीन सुगम आत्मीय आनन्द चाहिए, अन्यकी ओर उनका कोई ख्याल नहीं, तो जो अपने आत्मीय सुखमें अनुरागी हैं ऐसे साधु पुरुष उत्तम स्थानको प्राप्त होते हैं । जीवका कल्याण अपने स्वरूपका ज्ञान किए बिना कभी हो नहीं सकता । धर्म भी वहीं है जहां अपने स्वस्वरूपका बोध है । जिसे अपने आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका परिचय नहीं है वह पुरुष धर्मके नामपर कितनी ही क्रियायें करे, पर उसे मोक्षमार्गका लाभ नहीं होता । कषायें भी शान्त नहीं होतीं, कोई विपरीत प्रतिकूल कारण मिल जाय तो उसके कषायें उमड़ जाती हैं, पर जो सही ढंगसे धर्म करता हो, आत्माका जिसे सही परिचय हो, उसके प्रतिकूल घटनाओंमें भी कषायें नहीं उमड़ती । तो जो पुरुष अपने स्वरूपका परिचय पाये हुए है वही अपने आनन्दमें अनुरागी होता है ।

गुणगणविभूषित साधुकी उत्तम स्थान प्राप्तिपात्रता—जो साधु गुणसमूहसे विभूषित हो, जिसको धैर्य है, जो प्रशंसा और निन्दामें समान बुद्धि रखता है ऐसा ही साधु मोक्ष के मार्गको प्राप्त करता है । जिसको पर्यायमें बुद्धि लगी है—मैं मुनि हूं, मेरा नाम चाहिये, मेरे नाममें कोई बाधा न डाले, मैं सबसे ऊंचा कहलाऊं, अथवा मैं ये क्रिया-

काण्ड कर रहा हूं, मैं साधु हूं, ऐसी केवल पर्यायपर ही जिसकी दृष्टि है, उसमें और साधारण मुनिमें मोक्षमार्गकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं। भले ही अनेक लोग ऐसा कह बैठते हैं कि जो साधु है वह चाहे कितना ही गिरा हो, पर हमसे तो अच्छा है, पर उनकी यह बात ठीक नहीं। हम जिस पदमें हैं, श्रावक जिस पदमें है वह अपने श्रावक के योग्य सब कुछ चारित्र्य पाल रहा है और एक परमेष्ठीकी पदवी धारण करले और एकदम गिरी चर्यामें आ जाय तो वह गृहस्थसे अच्छा कभी नहीं कहला सकता। जो साधु है वह साधुके योग्य गुणोंसे सहित होता है। वह अपने आत्मासे सर्व बाह्यपदार्थों को भिन्न समझ चुका है इसलिए सबका वह ज्ञाताद्रष्टा रहता है। कितनी भी प्रतिकूल घटनायें आयें, उपसर्ग आयें तो भी वह उनसे विचलित नहीं होता, क्योंकि उसे अपने आत्माका प्रकाश मिला है और यही ठहर कर, रमकर अपने आत्माका आनन्द पाना चाहा है। तो जो अनेक गुणोंसे विभूषित हो ऐसा ही साधु उत्तम स्थानको प्राप्त कर सकता है। उसे शिक्षाकी बात सिखानी नहीं पड़ती, वह अधिक बोलनेकी आदत नहीं रखता। बोलना क्या? अपने आचरणसे रहना, ज्ञानमें रहना, कोई प्रसंग आये, धर्मात्माजन सामने हों तो कुछ बात बोललें, पर बोलते रहनेकी आदत साधुजनोंके नहीं होती। उनकी प्रकृति तो आत्मतत्त्वकी उपासना करनेकी होती है और, इसी कारण जो गुण चाहिए वे सब साधु पुरुषोंमें स्वयमेव आ जाते हैं। वह किसीका बुरा नहीं चाहता, अपनेको सबसे ऊँचा नहीं समझता, दूसरोंको अपनेसे नीचा नहीं समझता, किसी भी प्रतिकूल घटनामें दूसरे प्राणियोंको क्षमा कर देना, अपने ही स्वरूपके समान सर्वजीवोंके स्वरूपको निहारना आदिक जो जो भी गुण चाहिए वे सबगुण एक आत्म-ज्ञानीके स्वयमेव आ जाया करते हैं। तो जो गुण समूहसे विभूषित हो ऐसा ही साधु उत्तम स्थानको प्राप्त करता है।

हेय उपादेयके निर्णायक साधुकी उत्तम स्थान पात्रता—जिसको हेय और उपादेयका निर्णय है वही साधु मोक्षमार्ग पाता है। हेय क्या, छोड़ने योग्य क्या, उपादेय क्या? ग्रहण करने योग्य क्या? उपादेय केवल अपने आत्माका स्वरूप है ज्ञानमात्र सबसे निराला, उसकी आराधना करना, जो जीव जन्मा है, जो मनुष्य पैदा हुआ है वह मरेगा अवश्य। अब सभी जानते हैं कि मरनेपर जीवके साथ एक तिनका भी नहीं जाता, धागा भी नहीं जाता, केवल अकेला ही अपने कर्मोंके साथ जाता है। तो जब कुछ ही वर्ष बाद यह हालत आती है कि गरीबको छोड़कर जाना ही पड़ेगा तो फिर

थोड़े वर्षोंको मिले हुए परिग्रहमें अधिक ममता, आशक्ति करके क्यों पाप लादा जा रहा है ? हां गुजारेका साधन जानकर उसकी रक्षा करना तो विवेक है मगर यह धन वैभव मेरा है, इसका दूसरा कौन अधिकारी है, ऐसा ममत्व बिछाकर उसमें रम जाना, यह जीवके लिए बड़े खतरेकी बात है । आखिर कितने दिन ऐसे गुजार लेंगे ? मरण अवश्य आयगा और सब कुछ छोड़कर इसे जाना ही पड़ेगा । तो जिन साधु पुरुषोंको हेय उपादेयका निर्णय है वे ही शान्तिका मार्ग पा सकते हैं । उपादेय क्या ? केवल अपने आत्मा का स्वरूप, क्योंकि वह मेरेमें सहज है, सदा है । हेय क्या ? अपनेमें चैतन्यस्वरूपके सिवाय जितना भी जो कुछ है वह सब मेरे लिए है, ये विकार, कर्म, शरीर, बाहरी पदार्थ ये सब हेय हैं । उपादेय तो केवल मेरे आत्माका सहज स्वरूप है, ऐसा जिन्होंने निश्चय किया है वे पुरुष मोक्षमार्गको प्राप्त करते हैं ।

ध्यानाध्ययनसुरत साधुकी उत्तम स्थान प्राप्ति पात्रता—साधुजन ध्यान और अध्ययनमें रत रहते हैं । साधु पुरुष अध्ययन करेंगे, कुछ लिखते हों तो लेखन कार्य करेंगे, नहीं तो ध्यान करेंगे । ध्यानमें कोई थकता नहीं है, किन्तु उसमें परम विश्राम मिलता है । जब चित्त तो हो बाहरी प्रसंगोंमें और चाहता हो या इस बातपर कुछ प्रवृत्ति करना चाहता हो कि मैं अपने आत्मामें लीन होऊं तो उसे यह कष्ट मालूम होता है, और जिसने सब वस्तुका सही स्वरूप जाना उसका मन ही करेगा कि मैं निरन्तर शुद्ध आत्माको ही ध्यानमें रखूं । कोई भी पदार्थ मेरे ध्यानके लायक नहीं है, कहां ध्यान लगाऊं ? समस्त पदार्थ भिन्न हैं, बिनाशीक हैं, बाह्य हैं, उनसे मेरा नाता नहीं, ऐसे पदार्थोंमें ध्यान लगाना योग्य नहीं । साधु पुरुष या तो अध्ययन करेंगे या ध्यानमें रहेंगे, ध्यान किसका रहेगा ? एक अपने परमात्मस्वरूपका, अपने आत्मस्वरूपका । जिसमें सार समझा है उसी में ही ध्यान जायगा, असारमें ध्यान न जायगा । तो जो साधु ध्यान और अध्ययनमें लीन है वह ही पुरुष उत्तम स्थानको प्राप्त कर सकता है । यह तो साधुओंकी बात चल रही है, पर गृहस्थको भी कुछ समय सत्संग, अध्ययन और ध्यानके लिए रखना चाहिए । सारा समय ही चिन्तामें, परिग्रहमें, व्यापारमें या अन्य प्रकारके बाह्य चिन्तनमें गुजरे तो समय तो जाना ही है, आयु जा ही रही है, वह आयु व्यर्थ गई । दो चार घंटे जिसको जितना कुछ बन सके, यदि ध्यान अध्ययनमें, आत्मस्वाध्यायमें समय गुजरता है तो उसका वह सब समय सफल है । ध्यान और अध्ययनमें निरन्तर रत रहने वाले साधु मोक्षमार्गको प्राप्त करते हैं । साधु तो बहुत निकट हैं मोक्षमार्गके । Vedant मोक्षके लिये

गृहस्थका भी मोक्षमार्गकी ओर मुख बाह्य रहना चाहिए, क्योंकि बाहर सब कुछ धोखा है। जिनको बाह्य समागम मिले हैं, उनका ध्यान कष्टका ही कारण है। और, सदा रहने वाले नहीं हैं समागम सो उनके पीछे वे कष्ट ही पायेंगे जो बाह्य पदार्थोंमें आसक्त रहते हैं। तो जो साधु पुरुष बाह्य द्रव्योंसे विमुक्त हैं और अपने आपके स्वरूपके चिन्तन ध्यानमें रत रहा करते हैं वे पुरुष मोक्षको प्राप्त करते हैं।

णविर्एहि ज णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहि अणवरयं ।

थुव्वर्तेहि थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥१०३॥

अनेक प्राणियों द्वारा नमस्कार किये गये इन्द्रादि द्वारा नमस्करणीय देहस्थ परमात्मतत्त्वकी नमस्करणीयता — इस लोकमें ये जीव किसको नमस्कार किया करते हैं ? किसका आदर किया करते हैं ? जो वैभवमें बड़ा हो, जो लौकिक ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो, जिसके अधिकार में सत्ता हो, ऐसे राजा, चक्रवर्ती इन्द्र तक को लोग नमस्कार किया करते हैं, पर यह तो देखिये कि ऐसे जो बड़े पुरुष हैं चक्रवर्ती इन्द्रादिक ये प्रायः ज्ञानी होते हैं और इनको वैभवमें प्रीति नहीं होती। जो लौकिक ऐश्वर्यमें सर्वाधिक हो जाय उसे वैभवमें ममता नहीं रहती, जिसको थोड़ा मिला है और अपनेसे बड़ा दूसरोंको देखते हैं उनको वैभवमें तृष्णा होती है। तो वे इन्द्र हैं, चक्रवर्ती हैं, अपने समयमें पूरे वैभवसे सम्पन्न हैं, ऐसे ये महान पुरुष इन्द्र ये किसको नमस्कार किया करते, यह भी तो विचारना चाहिए। ये नमस्कार किया करते हैं अपने देहमें रहने वाले सहज परमात्मस्वरूपको। तो भले ही संसारी प्राणी, ये मोही जीव इस लोकमें बड़े कहलाने वाले चक्रवर्ती इन्द्रादिकको नमः, पर ऐसे बड़े अन्य जीवोंके द्वारा नमः गए ये अपने देहमें रहने वाले उस सहजपरमात्मस्वरूप को नमस्कार करते हैं। अब विवेकसे सोचा जाय कि बड़ा कौन हुआ ? जिसको हम बड़ा मानते हैं वह जिसको बड़ा मानता हो। बड़ा तो वास्तवमें वह है जिसको बड़े भी बड़ा मानते हैं, पर मोहमें इस ओर कोई ध्यान नहीं देता। हम जिसको बड़ा मान रहे वह किसे बड़ा मान रहा, यह रूढ़ि नीतिसे तो धर्मके प्रसंगमें भी लोग किया करते हैं। गुजरातमें श्रीमद राजचन्द्र जी हुए, वह महापुरुष थे, उन्हें प्रभुमें बड़ी निश्छल भक्ति थी, आत्मतत्त्वके आराधक थे, उनके भक्त वहां बहुत लोग हैं। और कुछ समझदार हैं, कुछ और उनके गुणोंपर अनुरागी होनेसे सब उनको ही मानते हैं तो सब लोगोंने माना उस महान आत्माको, पर महान आत्माने उसने जिनवाणी, वीरवाणी, जिनेन्द्र प्रभु, इनका ही ध्यान किया और इन्होंने आगमसे ही कुछ वाणी लिखा। तो अनेक भक्त ऐसे भी हैं कि जिनका ध्यान श्रीमदराजचन्द्रजी करते थे, उनके ध्यानके लिए बुद्धि नहीं

भोक्षपाहुड प्रवचन

जगती । और, किन्हीं किन्हीं को तो यह भी नहीं पता है कि वे किसका ध्यान किया करते थे । संसारमें भी अनेक पुरुष ऐसे पाये जाते कि लोकमें जो बड़े हैं उन तक ध्यान है कि ये बड़े हैं, पर उसका ध्यान नहीं है कि ये बड़े भी किस स्वरूपका ध्यान किया करते हैं । तो वास्तवमें नमस्कारके योग्य उत्कृष्ट पदार्थ तो अभी देहस्थ आत्मामें शाश्वत रहने वाला परमार्थस्वरूप है जिसको यहां के पूजे गए, नमस्कार किए गए इन्द्र चक्रवर्ती भी ध्यान किया करते हैं । वह परमात्मस्वरूप कहां है ? खुदके इस देहमें विराजमान जो आत्मतत्त्व है उसमें ही परमात्मस्वरूप है ।

ज्ञानमें ज्ञानाभिमुख ज्ञानके वर्तनेसे परमात्मदर्शनके आनन्दका लाभ—इस परमात्मस्वरूप का दर्शन घबड़ानेसे नहीं होता, उलायतसे नहीं होता, इन्द्रियके प्रयोगसे नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वरूप इस आत्माकी समतापूर्वक ज्ञान द्वारा आराधना होनेसे, अभेद आराधना होनेसे शान्तिपूर्वक जो ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समाता है उस कालमें परमात्मस्वरूपका अनुभव बनता है । वही दर्शन कहलाता है । परमात्माका दर्शन आंखोंसे नहीं होता किन्तु अपने ज्ञानमें ही अविकार ज्ञानस्वरूप अनुभवमें आ जाय तो यही कहलाता है परमात्मस्वरूपका दर्शन । इस दर्शनके साथ ही चूंकि लोगोंको सहज आनन्द भी आया, उस आनन्दके अनुभवके कारण उस परमात्मस्वरूपकी याद रहा करती है । किसी चीज को जान लिया तो केवल जाननेसे ही याद रहे उसकी अपेक्षा जाननेके साथ आनन्द पानेपर उसकी याद रहना दृढ़ होता है । तो संसारके लोग जिनको नमस्कार करते हैं वे भी जिसे नमस्कार करें वह परमात्मस्वरूप नमस्कारके योग्य है । सो हे भव्यजन, हे आत्मन् ! तुम भी अपने देहमें रहने वाले आत्मामें स्वभावस्वरूप जो परमात्मतत्त्व बसा है उसका ज्ञान करो, उसका अनुभव करो । जीवको साथी, शरण केवल एक यह ही परमात्मस्वरूपका अनुभव है ।

अनेक प्राणियों द्वारा स्तुत किये गये मुनीन्द्रों द्वारा स्तुत्य परमात्मस्वरूपकी संस्तव्यता—जगतके जितने भी स्तुति किए जाने वाले महापुरुष हैं, जिनकी लोग स्तुति करते हैं वे कौन हैं ? जैसे मुनिराज, तीर्थंकर जैसे उच्च महापुरुष । वे किसकी स्तुति किया करते हैं, यह भी तो ध्यानमें लाना चाहिए । वे स्तुति किया करते हैं देहमें विराजमान परमात्मस्वरूपकी । जैसे उनके देहमें परमात्मस्वरूप विराजमान है ऐसे ही अपने देहमें परमात्मस्वरूप विराजमान है । देहमें हैं आत्मा, स्वरूपवाला है, द्रव्य वाला है मगर इस प्रकारका आज बन्धन है । देहमें है आत्मा और आत्मामें है परमात्मस्वरूप । जैसे

दूधमें घी किसीको नहीं दिखता, हाथ और अंगुली लगानेसे भी कहीं घी नहीं आ जाता मगर घी निकलता है दूध से । तो जो घी निकला वह कहीं बाहरसे नहीं आया, किन्तु दूधमें ही घी के अंशोंका जो परिणाम है, वही निकलकर आया है । उसका उपाय किया गया, बिलोया गया या दही जमाकर बिलोया गया, तपाया गया, मलाईसे, खोवासे निकाला गया । प्रयोग होनेपर घी आया कहां से ? उस दूधमें से । देखनेसे दिखता नहीं, ऐसे ही सबका जीव, सबका आत्मा, पता कुछ पड़ता नहीं कि यहां भगवानका स्वरूप है, आंखों दिखता नहीं, मगर परमात्मस्वरूप इस आत्मामें है । जो भी परमात्मा हुए हैं सो उनका हुआ क्या ? जो परमात्मस्वरूप था वही निवारण होकर प्रकट हो गया है, कुछ नई चीज नहीं निकली, कुछ नये साधन नहीं लिए गए । कुछ बाहरी पुद्गल द्रव्योंकी मददसे नहीं बने किन्तु खुद ज्ञानस्वरूप आत्माने इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में इस ज्ञानस्वरूप साधनाके द्वारा मथा अपने आपको और उस ज्ञानमें वह ज्ञानस्वरूप का अनुभव बना । यही है परमात्मस्वरूपका दर्शन । सो जिन जिन महान पुरुषोंका लोग स्तवन किया करते हैं वे किसका स्तवन करते हैं ? वास्तवमें तो वे स्तवनके योग्य हैं । तीर्थंकरोंने भी मुनि अवस्थामें, गृहस्थावस्थामें देहमें विराजमान परमात्मस्वरूपकी आराधनाकी थी । इस उपयोगको बाहरमें कहीं भटकाये चले जावो, सभी जगहसे यह हैरान होकर यह लौट लौट आता है, कहीं भी बाहरमें यह उपयोग टिकता नहीं है, दुःखी भी रहता है । तो उपयोग वहां टिकायें कि जहांसे हटनेका सवाल नहीं, फिर कोई प्रकृति नहीं जो ध्यानसे हटा सके । एक अपनी ही कमजोरीसे हम न टिक पायें तो यह अपनी ही गल्ती है, मगर दूसरा कोई द्रव्य इस उपयोगको आत्मासे भंग नहीं कर सकता । तो जो स्थिर तत्त्व है वह अपना आत्मस्वरूप है, उसका ध्यान ज्ञायक-स्वरूपमात्र विचारकर करना चाहिए । मैं ज्ञानस्वरूपमात्र हूं, मैं आकाशवत् अमूर्त हूं, निर्लेप हूं, इसमें परद्रव्यके संयोगका क्या काम ? इसमें झूठका क्या काम ? जब यह अपनेमें नहीं रह पाता तब यह क्षुब्ध होता है । तो अपने देहमें विराजमान उस परमात्मस्वरूपका स्तवन करें जिसकी स्तुति यहाँ के बड़े-बड़े पुरुष करते हैं । जिनको अनेक लोग स्तवन करने वाले हैं ।

अनेक प्राणियों द्वारा ध्यान किये गये साधुजनों द्वारा ध्यातव्य परमात्मस्वरूपकी ध्यातव्यता—
ध्यानकी भी बात देखिये—यहां पर लोग जिन पुरुषोंका ध्यान किया करते हैं । किसी को किसी साधुपर ध्यान है, किसीको किसी उपकारीपर ध्यान है, किसीको किसी धनिक

पर ध्यान है, जिसका ध्यान ये जगतके जीव किया करते हैं ज्ञातव्य तत्त्व तो वह है । किसका ध्यान करते हैं वे मुनिजन ? वे महापुरुष ? देहमें विराजमान परमात्मस्वरूप का । जैसे जलमें रहने वाली मछली प्यासी रहे तो यह बड़े आश्चर्यकी बात है ऐसे ही ज्ञानानन्द सम्पन्न स्वयं यह आत्मा दुःखी रहे तो यह बड़े आश्चर्यकी बात है । क्यों दुःखी रहा जाय ? समस्त बाह्य पदार्थोंसे मोह ममता हटायी जाय और अविकार आत्मस्वरूप में ही उपयोगको टिकाया जाय, वहां फिर क्षोभका कोई कारण नहीं । इस गाथामें यह बतला रहे कि देहमें विराजमान उस परमात्मस्वरूपका ध्यान धरो जिसका ध्यान बड़े-बड़े मुनिजन करते हैं, जिसका स्तवन बड़े-बड़े महापुरुष करते हैं, जिसका नमस्कार बड़े-बड़े ऊँचे लोग करते हैं, वह स्वरूप अपने आपमें विराजमान है । इस आत्मस्वरूपकी ओरसे देखें तो यहां कोई छोटा और कोई बड़ा नहीं है । सर्व एकसमान हैं । सभीके पास वह अमूर्त तत्त्व मौजूद है, बस भूलते हैं, उपयोग नहीं करते हैं, उसका फर्क है, लेकिन वह अमूर्त तत्त्व सर्व जीवोंके अन्दर एक समान स्वरूपतः विराजमान है, ऐसे देह में रहने वाले अतस्तत्त्वका ध्यान करना चाहिए ।

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेठ्ठी ।

ते वि हु चिट्ठहि आधे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥

पंच परमेष्ठियोंका आत्मचेष्टास्वरूप—जगतमें बड़ा कौन ? परम इष्ट कौन ? जो आत्मा अपना विकास कर रहे हैं और विकास कर चुके हैं वे आत्मा बड़े पूज्य कहलाते हैं । सो वे तीन दशाओंमें मिलेंगे—(१) साधु (२) अरहंत और (३) सिद्ध । जो निर्ग्रन्थ दिग्म्बर होकर केवल आत्मतत्त्वकी साधनामें ही रहते हैं वे कहलाते हैं साधु । जो आत्माकी साधना करे सो साधु । और ये ही साधुजन निर्विकल्प समाधिके बलसे जब घातिया कर्मोंसे दूर हो जाते हैं, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट होता है तो वे कहलाते हैं अरहंत, और ये ही अरहंत जब चार अघातिया कर्मोंसे, इस देहके फन्देसे दूर हो जाते हैं, केवल आत्मा ही आत्मा ज्योति रह जाती है वे कहलाते हैं सिद्ध । साधु हुए बिना कोई अरहंत नहीं बन सकता, अरहंत हुए बिना कोई सिद्ध नहीं हो सकता । साधुके ही तीन रूप हैं—(१) आचार्य (२) उपाध्याय और (३) मुनि । ये तीनों ही साधु कहलाते हैं । केवल थोड़ा योगवृत्ति कहो या साधुवोंकी अनुकम्पा कहो इस कारणसे जो कुछ प्रवृत्तियोंसे विशिष्ट हैं वे आचार्य उपाध्याय कहलाते हैं, मुनिसंघके नामक आचार्य, मुनिवर्गको पढ़ाने वाले उपाध्याय । हैं ये तीनों साधु,

तो तीन कहो या पंचपरमेष्ठी कहो, इनका स्वरूप क्या है ? यह चीज क्या है ? आत्मा की चेष्टा, आत्माका ही वह विकास, वह स्वरूप, यह ही परमेष्ठी कहलाता है । तो क्या मैं आत्मा नहीं हूँ और मुझमें क्या यह स्वरूप नहीं है ? स्वरूप जातिपर ध्यान तो दें । यह मैं आत्मा कोई स्थूल नहीं हूँ, पुद्गल पिण्डकी तरह कोई खण्ड या पिण्डरूप नहीं हूँ, भले ही देहमें रहता हूँ मगर आकाशकी तरह अमूर्त हूँ । कैसा विलक्षण है यह परमार्थ पदार्थ, यह जीवतत्त्व । एक-एक न्यारा-न्यारा करके अनन्त जीव हैं, और उनका आकार, प्रदेश विस्तार न्यारा-न्यारा भिन्न-भिन्न रूप है और गुणोंका वह पिण्ड है । गुणोंके वहां परिणमन हैं, कैसा अद्भुत यह परमात्मस्वरूप है, उसका जो विकास है वही परमेष्ठी कहलाता है । तो यह सब स्वरूप उस आत्मामें जो चेष्टा हुई है वही तो है । पांचों ही आत्मामें ठहर रहे हैं ।

परमात्मा व आत्माकी स्वरूपसमता—आत्मा मैं भी हूँ, आत्मा प्रभु भी हैं, आत्म-द्रव्यके नाते हम और प्रभु एक हैं । जो प्रभुमें प्रभुता है वह मुझमें भी है । प्रभु निरावरण हो गए इसलिए उनकी प्रभुता स्पष्ट है । यहां आवरणसे बंधे हुए हैं । हमारा परमेश्वर्य प्रकट नहीं है मगर वस्तु एक समान है, जैसे कुछ गेहूंकी बालोंपर बरसात हो जानेसे पानी पड़ गया, कुछ बाल बच गए । उन गेहूंवांको मशीनसे निकालनेके बाद कोई गेहूं काले रंगके हैं, कोई गेहूं बिल्कुल अपने सही रूप हैं, और उनमें भेद भी बहुत दिखते हैं, उनके मूल्यमें भी फर्क पड़ता है, स्वादमें भी अन्तर आता है, मगर भीतर जाति तो देखिये दोनोंकी जाति एक है । जो आज खराब दाना है वही जब बोया जायगा तो सही दोनोंको ही उत्पन्न करेगा । प्रभुकी जाति और हमारी जातिमें रंच भी अन्तर नहीं, वही ऐश्वर्य मुझमें है जो प्रभुमें है । जिस उपायसे प्रभुने अपना वह ऐश्वर्य प्रकट किया उसी उपायसे हमारा भी ऐश्वर्य प्रकट होगा ।

परमात्मस्वरूपका सुपरिचयकर उसमें मग्न होनेका पौरुष करनेका अनुरोध—भैया एक साहस चाहिए । भव-भवमें ठोकरें खाया, अहंकार ममकारके कारणसे भव-भवमें त्रस्त रहे और जो आज भव पाया उसमें भी ठोकरें खाते जा रहे हैं, पर एक साहस नहीं बनाया जा रहा कि इस भवमें एक बार भी तो समस्त परद्रव्योंसे अत्यन्त निराला केवल स्वरूपमात्र मैं अपने आपको निरखूँ । और यह साहस नहीं बन पा रहा, उसका कारण यह है कि आत्मतत्त्वका परिचय दृढ़ नहीं है और उसकी भावना नहीं है, उसका अभ्यास नहीं है, पर जिन महापुरुषोंको, परमेष्ठियोंको हम पूजते हैं उनकी परिस्थिति

देखी जाय तो यह मिलता था कि वे हैं क्या ? वह एक अपने आत्माकी ऐसी परिणति है । तो आत्मा मैं हूं और वही परिणति मुझमें हो सकती है, वही योग्यता है, इस कारणसे मेरा वास्तवमें शरण मेरा आत्मा ही है । जिसको हमने अपना शरण माना, प्रभुको, साधुको, तो वह निकला क्या ? आत्माका विकास । तो वस्तुतः शरण क्या रहा ? आत्मविकास ? पर दूसरेका आत्मविकास नहीं, स्वयंका आत्मविकास । तो वास्तवमें शरण है तो मेरा यह आत्मस्वरूप ही शरण है । णमोकार मंत्रके बाद चत्वारि-दण्डक पढ़ा जाता है, जिसमें चार मंगल, चार लोकोत्तम और चार शरण कहे हैं । वे चार हैं अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म । धर्मके ही प्रतापसे साधु पूज्य हैं, धर्मके ही कारण अरहंत सिद्ध पूज्य हैं । तो मुख्यता रही धर्मकी, आत्मस्वभावकी । तो हर दृष्टियोंसे परखलो, यही मिलेगा अन्तमें कि मेरा आत्मा ही वास्तविक शरण है । मैं आत्माको छोड़कर भटकता हूं दूर दूर तो सिवाय क्लेशके कुछ हाथ नहीं आता और सबको छोड़कर केवल आत्मामें ही रमता हूं तो वहां अद्भुत अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है । उस आनन्दके अनुभवमें ही हमें परमात्मस्वरूपके दर्शन हो जाते, यह मोक्षपाहुड़ ग्रन्थ है । यह अब करीब पूर्ण होने वाला है । यह आखिरीकी १०४ नम्बरकी गाथा है । इसमें मोक्षका मूल भी बताया और साथ ही एक मानो अन्तिम मंगलाचरण जैसा हो रहा हो, यह भी एक रूप बना । निष्कर्ष यह निकालें कि हम परमेष्ठियोंका ध्यान धरते हैं तो वह है आत्माकी ही एक चेष्टा । आत्मा मैं भी हूं, मेरेमें भी वही स्वरूप है । तो अपने आत्मामें परमात्मस्वरूपको निरखकर मैं अपने शरणका आलम्बन लूं ।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तबं चेव ।

चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०५॥

मात्र भाव ही कर सकनेवाले जीवको उपादेय भावके छांट करनेकी आवश्यकता—हम आप सब जीव केवल अपने भाव ही बना पाते हैं, इसके आगे कोई इसकी करतूत नहीं है । इन बाह्य पदार्थोंमें हम कुछ परिणति कर सकें यह बात रंच नहीं है । निमित्त नैमित्तिक योग है ऐसा कि हमने कोई इच्छा की, उसके अनुसार कोई प्रयत्न किया और उदय अनुकूल है, ऐसा ही योग जुड़ गया, कार्य हो गया सो भले ही हो गया, पर मेरे करने से कार्य नहीं हुआ । बन गया कार्य । मैं तो केवल भाव ही करता हूं, इसके अतिरिक्त मेरी करतूत नहीं । जब मैं केवल भाव ही कर सकता हूं तो यह भी विचार करना होगा कि कौनसा भाव है ऐसा जो व्याकुलता उत्पन्न कर रहा ? यद्यपि अनादि परम्परा

से कर्मके प्रेरे चले आये हैं और ऐसे ही भव भवके बांधे कर्म हैं कि जिनके उदयमें हम विवश हो जाते और सन्मार्ग पर भी नहीं चल पाते । कैसी भी स्थिति आये मगर यह कर्तव्य जरूरी है कि हम सही निर्णय करलें एक बार । उस पथपर चल सकें या न चल सकें, पर निश्चय हमारा यथार्थ होना चाहिए । आत्माकी आदत भी ऐसी ही है कि वह यथार्थ ही समझना चाहता है । झूठ पसंद नहीं करता, किसी भी वस्तुके बारेमें यह सही ज्ञान चाहता है । झूठ ज्ञान नहीं चाहता । और झूठ ज्ञानसे सही मार्ग नहीं मिलता । तो इससे हमको सही ज्ञान दिशा पा लेना चाहिए कि बात वस्तुतः है क्या ? जब हम भाव ही कर पाते हैं तो कैसा भाव रखें कि वह हमारे हितमें हो ? और कैसा भाव रखें कि जिससे अहित न हो ? दो ही बातें सामने हैं । (१) हितकारीभाव और (२) अहितकारी भाव ।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य तपमें हितकरताका दर्शन—हितकारी व अहितकारी भाव का निर्णय भी केवल दो ही बातमें है । परपदार्थके प्रति लगा हुआ भाव अहितकारी भाव है और स्वकीय सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमें लगा हुआ भाव हितकारीभाव है । हम रोज मंदिर आकर जिनकी मूर्तिके आगे हाथ जोड़ते हैं और जिनकी श्रद्धाके आधारपर हम आप बड़े आयतन बनाते हैं, द्रव्य खर्च करते हैं, प्रतिदिन आनेका नियम रखते हैं, तो जिनकी मूर्तिके दर्शन हम रोज करते हैं वह स्वरूप है ही क्या सिवाय इसके कि उनका उपयोग अपने आपके आत्मस्वरूपमें लगा हुआ है । तो जिनको हम बड़ा मानते और बड़ा माननेके ही कारण रोज दर्शनको आते तो उन्होंने जो किया, जो कर रहे हैं वह बात तो नियमसे सारभूत ही होगी । उसका चाव होना चाहिए तब तो हमारा वह दर्शन है । चाव यह होना चाहिए कि हे प्रभो जैसे आपने अपने आपके उपयोगको अपने स्वरूपमें रमा लिया वही स्थिति मेरेको मिले । दर्शन करने अनेक लोग आते, पर क्या क्या उद्देश्य रखते हैं और क्या क्या भगवानके प्रति सोचते हैं वे बातें अनेक हैं, और हैं परपदार्थके लगाव विषयक बातें और ऐसी प्रभुसे प्रार्थना करनेसे कोई कार्य भी बनता हो सो भी नहीं । जिनके कार्य बनना है सो बनता है, वे मंदिर भी नहीं आते तो भी उनका कार्य बनता है । ये तो सांसारिक बातें हैं, ये सब तो पुण्य पापके फल हैं । मंदिर आनेका तो एक यह ही लक्ष्य रखना चाहिए कि हे प्रभो जैसा आपने किया और जिस मार्गसे चलकर आप अपनेमें रम गए, सदाके लिए शुद्ध हो गए, बस वही मार्ग मुझे चाहिए । मुझे अन्य कुछ न चाहिए । यह भावना हो दर्शनमें तो उसके

साथ पुण्य भी सातिशय बनता और तत्काल अलौकिक शान्ति मिलती है। तो हम भावके सिवाय और कुछ नहीं कर पाते। तो उन्हीं भावोंकी शुद्धतापर ध्यान देना है कि कौनसी विधि बने कि मेरे भाव पवित्र रहें, मलिन न हों, अस्थिर न हों, ऐसा मेरा परिणाम बने। तो ऐसा परिणाम यहां इस गाथामें चार भागोंमें दिया है। (१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान (३) सम्यक्चारित्र और (४) सम्यक् तप।

सम्यक्त्वस्वरूप आत्माकी शरण्यता—सम्यग्दर्शन तो इस भावके मायने है कि जिसने अपने आत्माके सहज अपनी ही मात्र सत्ताके कारण जो सुगम स्वरूप है, चेतना-मात्र, प्रतिभासमात्र, उस स्वरूपका जिसने अनुभव कर लिया, अपने ज्ञानमें उस ज्ञान-स्वरूपको अनुभव लिया और जिस अनुभवके कारण अलौकिक आनन्द मिला, जहां संशय, मोह, विपर्यय आदिक दोष निकल गए, केवल स्वच्छतामात्र लक्ष्यमें रह गया, ऐसा भाव बने तो वह कहलाता है सम्यग्दर्शन। जीवका शरण यह सम्यग्दर्शनका भाव है और सम्यग्दर्शन आत्मासे कोई पृथक् वस्तु नहीं है। आत्मा ही इस रूप परिणाम बनाता अपनेको अनुभव इसने किया तो यह वह आत्मा हो तो है। तो आत्मामें ही सम्यक्त्व मिला, आत्माका ही एक परिणमन सम्यक्त्व रहा, सम्यक्त्व पानेके लिए बाहरमें किसी भी वस्तुसे आशा, प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व किसी पर पदार्थका भाव नहीं। एक निज सहज आत्माका आश्रय ले, बस यही सम्यक्त्वका परिणमन पाया जाना है। जो बताया गया है कि देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान करना, उनका विनय करना, भक्ति करना, सो यह कार्य उचित है मगर यह कार्य भी किसलिए किया जा रहा है, यह भी तो ध्यानमें होना चाहिए। क्या प्रभुकी इसी तरह जन्म-जन्ममें पूजा करते रहनेके लिए ही यह जीवन है? यही एक जिसका निर्णय हो उसने मोक्ष मार्गका रहस्य नहीं पाया। जो आत्मतत्त्वका अनुभवी है उसको देव, शास्त्र, गुरुके प्रति बहुमानका भाव जगेगा ही। किन्तु देवकी इस तरह भक्ति करते रहना ही मात्र हमारा लक्ष्य है, यह बात यहां नहीं है। देवकी भक्ति भी अपने स्वरूपमें लीन होनेके लिए की जा रही है, क्योंकि देवका स्वरूप मेरा स्वरूप समान है। देवने उन आवरण और दोषोंका क्षय कर लिया है सो वह उत्कृष्ट पदमें, सुखमें, आनन्दमें विराजमान हैं। वे अभी निरावरण नहीं हो सके, यही तो अन्तर रह गया, पर मूलमें अन्तर नहीं है। तो प्रभुकी भक्ति करते-करते इस जीवकी दृष्टि अपने स्वरूपकी ओर जाती है और उस स्वरूपके अनुभवके लिए पौरुष बनता है, यह है प्रयोजन देवभक्तिका। शास्त्रका बहुमान

ज्ञानी पुरुषको होगा ही, क्योंकि जो कुछ उसने सीखा वह शास्त्रसे सीखा, जो कुछ इसे खुद अनुभवमें आता है वह शास्त्रमें मिलता है, जिसको सुनकर, बांचकर, समझकर हम अपने उद्धारके मार्गमें बढ़ते हैं। तो ज्ञानी पुरुष शास्त्रका बहुमान करता है, पर उसका यह लक्ष्य नहीं है कि मैं शास्त्र पढ़ता जाऊँ और इसके लिए ही मुझे भव भवमें मनुष्य-जन्म मिलते रहें और मैं हर बार यही काम करता रहूँ। यह लक्ष्य नहीं है। इसका लक्ष्य है कि आत्मा के सहजस्वरूपका दर्शन करना। गुरुकी भक्ति भी करता है, पर गुरुकी इस तरह सेवा वैयावृत्ति भी हम करते ही रहे भव भवमें, यह लक्ष्य नहीं है ज्ञानीजनोंका और गुरुभक्ति किए बिना रहेंगे भी नहीं। इनका लक्ष्य है कि गुरु महाराज आत्मस्वरूपमें मग्न होनेकी दिशापर बढ़े चले जा रहे हैं और यही मुझे चाहिए। तो जैसे जिस लड़केको सनीमा जाना है और उसके पड़ोसी लड़के सनीमा जा रहे हों तो उनसे उसे प्रेम होना प्राकृतिक बात है। और उनमें जो प्रभावक बालक हैं उनके प्रभाव में रहकर संगमें रहता है, तो जो बात मुझे चाहिए आत्मस्वरूपका सच्चा श्रद्धान और उस ही स्वरूपके अभिमुख होना, यह बात गुरुओंमें पायी जाती है। तो वे गुरुओंके प्रति बहुमान करेंगे ही, भक्त बनेंगे ही, फिर भी इस ज्ञानीका ध्येय यह नहीं है कि मैं इस भक्तिमें ही भव भवमें रहूँ और यही करता रहूँ। उसका उद्देश्य है कि मैं आत्मास्वरूप में मग्न होऊँ तो एक सही अभिप्राय बने। एक निर्णय लक्ष्य सही बन जाय तो वह जीवकी भलाई है, अन्यथा आत्मस्वरूपका परिचय पाये बिना जगतके ये रूपी पदार्थ कितने ही ढेर लग जायें निकट, उससे इस जीवका कुछ भला नहीं होनेका। इसकी भलाई तो केवल आत्मस्वरूपके दर्शनमें ही है। तो यह सम्यग्दर्शन आत्माका ही परिणाम है। आत्मामें ही रहता है और वह मेरा मेरे आत्मामें है। इस कारण मेरा आत्मा मेरेको शरण है, अन्य वस्तु मेरेको शरण नहीं।

सम्यग्ज्ञानस्वरूप आत्माकी शरण्यता—दूसरी आराधना है सम्यग्ज्ञान आराधना। आत्माका जैसा स्वरूप, परपदार्थका जैसा स्वरूप वैसा ही ज्ञानमें लेना और उसमें भी परकी उपेक्षा करके निज सहज ज्ञानके ज्ञानका आदर रखना ऐसी ज्ञानवृत्ति जिनके जगती है उनके कहलाता है सम्यग्ज्ञान। यह सम्यग्ज्ञान पोथी पुस्तकमें नहीं है, हमारा सम्यग्ज्ञान दूसरे जीवोंमें नहीं है, हमारा सम्यग्ज्ञान हम ही आत्मा हैं, जब ही व्यर्थ विकल्प छूटें, बाह्य पदार्थोंके लगावकी दृष्टि हटे और अपने आपको निर्भर समझते हुए अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर ही जाय तो इसका कहलाता है सम्यग्ज्ञान। वह सम्यग्ज्ञान

मेरे आत्मामें ही है, मुझ आत्माका ही परिणमन है, इस कारण मेरेको मेरा आत्मा शरण है, दूसरा कोई शरण नहीं है। सत्य बात समझ लेनेके बाद परिस्थितिवश कुछ दूसरी बात भी करनी पड़े तो वे मन लगाकर न करेंगे। करेंगे, परिस्थिति है, करना पड़ेगा, पर उन कार्योंमें उनका मन लगा रहे, यह बात नहीं बनती। ज्ञानीका मन तो अपने आत्माके स्वरूपमें लगा हुआ है, तो यह सम्यग्ज्ञान जो वस्तु जैसी है उसका उसी तरहका ज्ञान यह आत्माका ही परिणमन है। मेरी ही चीज है इस कारण मेरेको मेरा आत्माशरण है।

सम्यक्चारित्रस्वरूप आत्माकी शरण्यता—तीसरी आराधना है सम्यक्चारित्र। जैसा ज्ञान किया उसके ही अनुकूल यह अपने आपके स्वरूपमें रहे, निरन्तर ज्ञातादृष्टा रहे, रागद्वेषादिक किसी भी विकारमें इसका लगाव न रहे, तो निरन्तर ज्ञातादृष्टा बना रहना, रागद्वेषका भाव न आना, यह कहलाता है सम्यक्चारित्र। ज्ञानी गृहस्थको करना कुछ भी पड़ रहा, क्योंकि धन कमाये बिना गृहस्थका गुजारा नहीं, धर्म कमाये बिना गृहस्थका जीवन बेकार है, और दूसरेकी सुध अर्थात् कामपुरुषार्थ बिना यह रह कैसे सकता गृहस्थीमें? उसे तो तीनों बातें (धर्म, अर्थ और काम) करने पड़ते हैं, पर ज्ञानी का चित्त रम रहा है अपने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपमें। मैं यह हूं और मुझको ऐसा ही समान ज्ञातादृष्टा रहना है। तो ऐसी जो ज्ञानीकी लगन है ज्ञानमात्र रहनेके लिए जिसमें कि छोटे मन, वचन, कायके व्यापार नहीं चलते, शुद्ध स्वरूपकी ओर ही उत्साह रहता, ऐसी परिणतिका नाम सम्यक्चारित्र है और सम्यक्चारित्र कहीं अन्य जगह नहीं है, आत्मामें ही है। आत्मा ही है, इस कारण मेरेको मेरा आत्मा शरण है।

सम्यक्तपोमय अत्माकी शरण्यता—चौथी आराधना है सम्यक्तप। इच्छावोंका निरोध होना तप कहलाता है। यह ही भीतरी तप है और जितने भी बाहरी तपश्चरण चलते हैं उन सबका उद्देश्य यही है अंतरङ्ग तप। इच्छा न रहना, अपने स्वरूपमें ही मग्न होना, यह है वास्तविक तप। सो ज्ञानी पुरुषको, सम्यग्दृष्टिको बस इस ही सहज सुगम आत्मस्वरूपकी ओर ही दृष्टि रहती है। किसीने अनशन किया याने भोजन न किया, लो तप हो गया, किसीने भूखसे कम भोजन किया तो उसको विषयोंमें अधिक पड़नेकी इच्छा नहीं होती। वह तो अपने स्वरूपमें ही रत रहकर खुश रहना चाहता है। तो जितने भी तप हैं—रस छोड़ना, आखड़ी लेना, एकान्त स्थानमें सोना, रहना बैठना आदि, कितने ही काय क्लेश हों, उन सबका उद्देश्य है इच्छावोंका निरोध होना।

इच्छा न रहे, इस ध्येय और बेगके साथ ज्ञानीजन चलते हैं। इसी तरह जो आभ्यंतर तप हैं उन तपोंका भी प्रयोग इच्छावोंके अभावके लिए होता है। तो ऐसी ये चार प्रकार की जो आराधनायें हैं सो ये चारों ही आत्मामें ठहराती हैं, इस कारण मेरेको मेरा आत्मा ही शरण है।

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य कारणं सुभत्तीए।

जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोवखं ॥१०६॥

मोक्षपाहुड़ ग्रन्थके पठन श्रवण और अनुभावनका फल शाश्वत आनन्दका लाभ—इस प्रकार जो मोक्षका कारण जिनेन्द्र भगवानके द्वारा बताया गया है उसको जो उत्तम भक्तिसे पढ़ता है, सुनता है और भावना करता है वह मनुष्य शाश्वत सुखको प्राप्त करता है। यह मोक्षपाहुड़ ग्रन्थकी अन्तिम गाथा है। इसमें एक तो यह जाहिर किया है कि जो मोक्षका कारण इस ग्रन्थमें बताया है वह अपने मनमाना कहा हुआ नहीं है, किन्तु वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा हुआ है। उनकी दिव्यध्वनिमें यह सब अर्थ बसा था और उसको गणधर देवने सुना था और उसकी व्याक्ति गणधर देवने की थी उस ही परम्परासे चला आया हुआ यह शासन है, यह उपदेश है, जिसको इस मोक्षपाहुड़में कहा है। दूसरी बात कही गई है कि इस मोक्षमार्गके रहस्यको उत्तम भक्तिसे पढ़ना चाहिए। यह मोक्षमार्गका प्रकरण मेरे लिए हितकारी है, इस मार्गपर चलनेसे ही मेरा हित सम्भव है, ऐसी श्रद्धासे पढ़ना चाहिए। तीसरी बात इसमें कही गई है कि बड़ी भक्तिसे सुनना चाहिए। पढ़नेसे सुननेमें अधिक आन्तरिक उपयोग लगता है, जो पढ़ता है वह भी अपने लिए सुन लेता है। जो दूसरे लोग सुनते हैं वे भी अपना अन्तःप्रकाश बनाते हुए सुनते हैं। चौथी बात इसमें कही गई है कि बड़ी भक्तिसे उसकी भावना भी करना चाहिए। जो कुछ मोक्षमार्गमें सुना, यह आत्मा अमूर्त अविकार स्वभाव ज्ञान-प्रकाशमात्र है, तो ऐसा सुनकर अपने आपमें ऐसी भावना रखना चाहिए, अपने आपको उस रूपमें अनुभवनेका पौरुष करना चाहिए। सो जो पुरुष इस मोक्षमार्गके रहस्यको पढ़ते हैं, सुनते हैं। भावना करते हैं वे अविनाशी आनन्दको प्राप्त करते हैं।

इस जीवकी पहिली और अन्तिम अवस्थाके विषयमें संक्षिप्त कथन—इस जीवकी पहिली और अन्तिम अवस्थाओंपर ध्यान दें तो विदित होता है कि यह जीव अपने स्वरूपा-स्तित्वसे दर्शनज्ञानमय चैतन्यस्वरूप है, फिर भी अनादिकालसे ही पुद्गल कर्म उपाधि के संयोगसे यह उपयोग अज्ञान मिथ्यात्व रागद्वेषादिक विभावोंरूपसे परिणम रहा है

और उसके फलमें नवीन कर्मका बंध होता है और इस तरह यह संसारमें भ्रमण करता आ रहा । सो ये सब मिथ्यात्वकी दशायें हैं और मिथ्यात्वकी सहकारिणी अनन्तानुबंधी कषाय है, सो जब कभी इस कषाय और दर्शन मोहके उपशमसे सम्यग्दर्शनका लाभ हो गया हो और सम्यक्त्व छूट जाय, मिथ्यात्वका उदय न आ पाये और अनन्तानुबंधी कषायका उदय होता है तो इसका दूसरा गुणस्थान होता है । सम्यग्मिथ्यात्वका उदय होनेपर यह सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें होता है । इन तीनों ही गुणस्थानोंमें आत्म-भावनाका अभाव है, चतुर्थ गुणस्थानसे इसके विवेक हित अहितका, हेय उपादेयका बोध हुआ करता है । और तब ही आत्माकी भावना होती है । चतुर्थ गुणस्थान वाला सम्यग्दृष्टि है । जब इसका परद्रव्योंसे हटनेका परिणाम होता है तो एक देश हटनेपर एक देशचारित्र होता है, यों पंचम गुणस्थानमें यह जीव आता है । इसको श्रावक भी कहते हैं और जब सर्व रूपसे परद्रव्योंसे हटनेका परिणाम होता है तब सकल चारित्र होता है । यह छठवां गुणस्थान है, यहां संज्वलन कषायके तीव्र उदयसे स्वरूपके साधने में प्रमाद रहता है, किन्तु सर्वपापोंसे निवृत्त हो गया इसलिए विरत भी है । अब यहां से ऊपरके गुणस्थानोंमें सहजात्मस्वरूपकी साधना प्रगतिरूप चलती है । संज्वलन कषाय का मंद उदय होनेपर यह अप्रमत्तविरत गुणस्थानमें पहुंचता है । यहां धर्मध्यान पूर्ण रूपसे है, और इस ही गुणस्थानमें जब स्वरूपमें लीन होता है तो सातिशय अप्रमत्तविरत होता है । आगेके गुणस्थानोंमें चढ़नेका पात्र होता है, सो जिस जीवके क्षायिक सम्यक्त्व है, जो तद्भव मोक्षगामी है वह क्षपकक्षेणीके द्वावें गुणस्थानमें पहुंचता है । पुनः द्वावें गुणस्थानमें पहुंचकर अनेक कषायोंका संज्वलन लोभको छोड़कर यहां समस्त कषायें दूर हो जाती हैं । इसके बाद १०वें गुणस्थानमें संज्वलन लोभका भी क्षय कर देता है । १०वें से १२वें गुणस्थानमें पहुंचकर शेष घातियाकर्म प्रकृतियोंका नाश करके १३वें गुणस्थानमें केवली भगवान हो जाता है । ये कहलाते हैं अरहंत परमात्मा । ये वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, अनन्त आनन्दरसमें लीन हैं । इनके जब अघातिया कर्म भी दूर होते हैं, तब ये सिद्ध हो जाते हैं । योगनिरोध पूर्ण हो जानेपर १४वें गुणस्थानमें अघातिया कर्मोंका क्षय हुआ करता है । क्षय होते ही ये सिद्ध भगवान होते हैं, जहां सर्वकर्मोंका अभाव है ।

स्वयं सहज परमात्मतत्त्वकी स्वयंके लिये शरण्यता—मोक्षमार्गका फल सिद्ध भगवान होना है । जीवकी आखिरी मंजिल जहां आनन्द प्रवाह निरन्तर धारासे एक समान चलता रहता है वह स्थान, वह धाम उस अवस्थाका लाभ, यह है आत्माकी मंजिल ।

ऐसी उत्कृष्ट अवस्थाका कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य है। इसीको मोक्ष का कारण कहते हैं, इस मोक्षकारणका इस ग्रन्थमें कथन हुआ है। इन मोक्षमार्गविषयक तत्त्वोंको जो भव्य जीव भक्तिसे पढ़ता है, भक्तिसे सुनता है और भक्तिसे अपने आपमें उसे घटित करता है, भाता है वह पुरुष इस ही सहजात्मस्वरूपके आश्रयसे स्वयं अपने अनन्त विकासको प्राप्त कर लेता है। हम आपको उस अनन्त विकासका लक्ष्य करना चाहिए। शेष घटनायें सब औपाधिक हैं, मेरे हितरूप नहीं है, ऐसा जानकर उनसे अपेक्षा करना और रत्नत्रयके धाम निज सहजस्वभावकी दृष्टि करना यह ही हम आपके लिए एक वास्तविक शरण है।

